हिन्दी काव्य में विस्मय-तत्त्व
एवं
अद्भुत रस

गोरखपुर विश्वविद्यालय की
पी--एच० डी० (हिन्दी) उपाधि के लिए
प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध

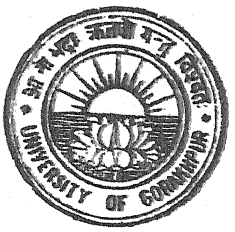

निर्देशक:—
डा० गोपीनाथ तिवारी
अवकाश प्राप्त अध्यक्ष हिन्दी-विभाग
गोरखपुर विश्वविद्यालय

प्रस्तुतकर्ता:—
शिवादत्त द्विवेदी
एम० ए० (हिन्दी-संस्कृत) साहित्याचार्य

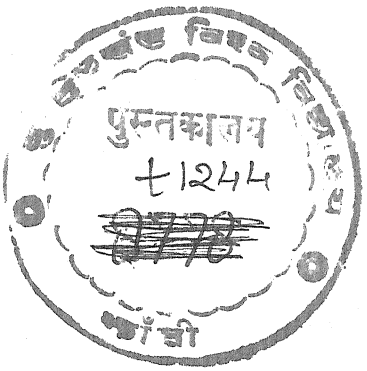

गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर
शारदो--पूर्णिमा, सम्वत् २०३१

पुरोवाक्

काव्य का लालित्य-बोध तत्त्व, निर्मिति एवं कल्पना के त्रिकोण पर आश्रित है । भावबोध को प्रयोगधर्मिता के विविध आयामों से अन्वित करके कवि जिस काव्य की संरचना करता है, उसमें शब्द के असामान्य प्रयोग की भंगिमा अर्थ के वैचित्र्य से संवलित होकर अनन्त चमत्कार की सृष्टि करती है । तत्त्व एवं निर्मिति का यही योगायोग ही विस्मयावह रमणीयता का आनन्द प्रदान करता है ।

कला की अर्थवत्ता नित्य नूतनता पर निर्भर है और उसकी रचनात्मक अन्विति विस्मय-तत्त्व में ही परिणति को प्राप्त करती है । अतः ऐसी रचना, जो एक क्षण के लिए हमारे अवधान को आकृष्ट कर सके और विशेष विभोरता के क्षणों में चेतना को भावतात्त्व से आप्लावित कर सके, श्रेष्ठ रचना कही जा सकती है ।

प्रस्तुत शोध ग्रन्थ में पूर्वप्रतिष्ठित काव्यास्वाद का विवेचन करनेवाले शास्त्रीय प्रस्थानों की परम्परा में एक नूतन प्रस्थान को प्रतिष्ठित करने का विनम्र प्रयास किया गया है और इस बात का स्पष्ट रूप से प्रतिपादन किया गया है कि नाटक एवं नाट्यधर्मी काव्य से भिन्न काव्य के आस्वाद का निकष केवल चमत्कार संप्रदाय में ही प्राप्त हो सकता है ।

विषय की प्रेरणा का भी अपना एक इतिहास है । कुल परम्परा से शैव होने के कारण जगद्धर भट्ट की स्तुति कुसुमांजलि से मेरा परिचय उसी वय में हो गया था जब कि लोग लोरियाँ सुनते हैं । पूज्यपाद पिताजी (पं० रामचरण द्विवेदी) की गोद में खेलते हुए उनसे इस ग्रन्थ का सस्वर पाठ

सुनते रहने का अनन्य सौभाग्य मुझे प्रायः प्राप्त होता रहता था । यद्यपि उस समय शब्दार्थ-बोध की भी क्षमता मुझ में नहीं थी किन्तु पंक्तियों की सरसता पिताश्री की असामान्य स्वर लहरी से मिश्रित होकर मुझे मंत्र-मुग्ध किये रहती थी । पिताश्री व्याकरण, साहित्य एवं दर्शन के प्रख्यात पंडित थे और शास्त्रीय चिंतन एवं परिचर्चा ही उनका व्यसन था । अतः जब उन्हींके चरणों में बैठकर मैंने संस्कृत का प्रगत अध्ययन प्रारंभ किया तो अनायास ही शास्त्र-चिंतन की प्रवृत्ति बन गयी ।

एक दिन स्तुति कुसुमांजलि के "चमत्कारोत्कर्षं कमपि कमनीयं विदुषताम्" इत्यादि श्लोक की विवेचना करते हुए उन्होंने संकेत किया कि "काव्य की कामनीयकता का रहस्य चमत्कार के उत्कर्ष में निहित है । आस्वाद के इतर का निर्धारण चमत्कार के स्तर पर निर्भर है ।"

इस परिचर्चा के आधार पर मैंने विस्मय-तत्त्व को अपने चिन्तन एवं शोध का विषय बनाने का निश्चय किया किन्तु पिताश्री के असामयिक निधन एवं अन्य पारिवारिक प्रश्नों के कारण चिंतन की गति अवरुद्ध हो गयी । हाँ, अवचेतन में दबा हुआ विषय रह-रह कर सुगबुगाता अवश्य रहा ।

अनुकूल मनोभूमि में चिंतन पुनः अंकुरित हुआ और मैंने इस विषय पर शोधकार्य हेतु डा०गोपीनाथ तिवारी से परामर्श किया । उन्होंने विषय की गरिमा को समझा और अपने ही निर्देशन में मुझे शोध-छात्र के रूप में स्वीकार कर लिया जिसके फलस्वरूप प्रस्तुत शोध प्रबन्ध आकार पा सका ।

शोध-प्रबन्ध की उपलब्धियों का रेखांकन करते हुए मुझे इतना ही निवेदन करना है कि इसके प्रत्येक अध्याय में किसी न किसी मौलिक स्थापना का प्रयास किया गया है । अनपेक्षित विस्तार से बचते हुए विषय के सघन निरूपण को ही महत्त्व दिया गया है और इस बात की चेष्टा की गयी है कि विषय के शास्त्रीय-चिंतन का स्वर ही प्रभावी रहे ।

प्रथम अध्याय में विषय-प्रवेश, स्वरूप, व्याप्ति एवं सीमा का उल्लेख किया गया है । इसमें साहित्यशास्त्र के अतिरिक्त दर्शन एवं मनोविज्ञान के आलोक में विस्मय तत्त्व के आकलन एवं विविध अर्थच्छायों के मूल्यांकन का प्रयास है । अन्त में स्थापना में विस्मय तत्त्व को साहित्य के लिए प्रेरक, सर्जक एवं भोग रूप में स्वीकार किया गया है ।

द्वितीय अध्याय में चेतना प्रवाह एवं विस्मयतत्त्व का विश्लेषण करते हुए यह स्थापना की गयी है, कि राग और विराग तथा आकर्षण एवं विकर्षण दोनों के मूल में समान रूप से विस्मय का कर्तृत्व दृष्टिगत होता है । स्थापना यह है कि समस्त बौद्धिक एवं आनुभूतिक आयाम में प्रेरणा के रूप में विस्मय की अन्तर्धारा विद्यमान रहती है । चेतना के आयामों – कल्पना, प्रतिभा, भावना, विचारणा आदि – में विस्मय के अनिवार्य योग के कारण ही काव्य में चमत्कार का सन्निवेश हो जाता है । यह भी स्थापना है कि चेतना के अवधान का मूल कारण नूतनता है और यह नूतनता कला का अनिवार्य एवं प्राण-प्रद धर्म है । यही नूतनता काव्यगत चमत्कार का मूल उत्स है ।

तृतीय अध्याय में रसराजत्व को एक प्रश्नवाचक चिह्न के साथ प्रस्तुत करके मूलरस के प्रयोग के औचित्य की स्थापना की गयी है तथा अद्भुत रस के मूलरसत्व की मान्यता को विनम्रतापूर्वक अस्वीकार कर दिया गया है ।

चतुर्थ अध्याय में शिंगभूपाल के राजकीय विदग्धवर कविचन्द्र की चमत्कार-चन्द्रिका का इदं प्रथम प्रयोग करके चमत्कारी, चमत्कारितर एवं चमत्कारितम के रूप में काव्य का विभाजन किया गया है । इस विभाजन की मूलभूत विशेषता यह है कि रसात्मक काव्य के साथ ही वैचारिक रचनाओं तथा चित्रकाव्य काव्य के रूप में तिरस्कृत रचनाओं को भी उपयुक्त स्थान प्राप्त हो सका है । चमत्कार की अवधारणा से वर्तमान काल तक की समस्त रचनाओं को काव्य की परिधि में बैठने का अधिकार मिल सका है, और उनके आस्वाद का भी मूल्यांकन संभव हो सका है ।

पंचम अध्याय में चमत्कार-संप्रदाय की मौलिक स्थापना का एक विनम्र प्रयास किया गया है । उचित शास्त्रीय प्रमाणों के आधार पर आनन्द-वर्धन से लेकर आज तक के विद्वानों की चमत्कार विषयक मान्यताओं का विवेचन करके यह सिद्ध किया गया है कि रस, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति, अलंकार एवं औचित्य संप्रदायों के रहते हुए भी चमत्कार संप्रदाय की स्वीकृति के बिना काव्य मात्र के आस्वाद का विवेचन संभव नहीं है ।

षष्ठ अध्याय में अद्भुत रस के अंग, भेद एवं निष्पत्ति का शास्त्रीय विवेचन है । अनपेक्षित शास्त्रीय चर्वित-चर्वणा से बचकर अद्भुत रस के ही सांगोपांग किन्तु संक्षिप्त विवेचन का प्रयास किया गया है ।

सप्तम अध्याय में अद्भुत रस की अन्य आनुषंगिक सामग्री, जैसे उत्पत्ति, वर्ण, देवता की परिकल्पना, अद्भुत रस का अन्य रसों से सम्बन्ध तथा रीति, वृत्ति, गुण, पाक, शय्या आदि का अद्भुत रस के परिपाक में योग, का निरूपण किया गया है ।

अष्टम अध्याय में विस्मयतत्त्व के परिपाक एवं आस्वाद का विवेचन किया गया है । विस्मयतत्त्व की स्पष्ट अवधारणा के अभाव में पूर्ववर्ती विचारकों ने जिन रहस्यवादी काव्यों, कूट, विपर्यय, सन्ध्याभाषा आदि की रचनाओं को अद्भुत रस का ही उदाहरण मान लिया था, उन्हें विस्मय-तत्त्व की स्वीकृति से एक नयी दिशा प्राप्त हुई है ।

नवम अध्याय में विषय का समापन करते हुए सर्जन एवं आस्वादगत विस्मय का आकलन किया गया है । काव्य की निर्मिति के क्षणों में कवि के द्वारा विस्मयतत्त्व के सन्निधापन का प्रयत्न तथा आस्वाद के क्षणों में सहृदय द्वारा विस्मय-तत्त्व के भोग का आकलन ही इस अध्याय की विवेचना का मुख्य विषय है ।

परिशिष्ट में संदर्भ ग्रन्थों की सूची देकर विषय का समापन किया गया है । शोधग्रन्थ को इस प्रत्याशा के साथ प्रस्तुत किया जा रहा है कि इसके द्वारा मुख्यतः शास्त्रीय चिंतन के क्षेत्र में तथा सामान्यतः काव्यास्वाद के मूल्यांकन की दिशा में एक नूतन क्षितिज का उद्घाटन हो सकेगा ।

जहाँ तक मौलिकता का प्रश्न है, उन्हें निम्नांकित रूप में सूत्रित किया जा सकता है :—

(1) कुछ विशिष्ट ग्रन्थों का प्रथमबार प्रयोग किया गया है । जैसे — चमत्कार चन्द्रिका, रसदीर्घिका, अकबर साहि,— शृंगार दर्पण आदि ।

(2) मनोविज्ञान अथवा दर्शन का उपयोग केवल साहित्यशास्त्र की स्थापनाओं की पुष्टि के लिए किया गया है । मनोविज्ञान के प्रभाव में साहित्यशास्त्र को कुंठित होने से बचाने का प्रयत्न किया गया है ।

(3) काव्यगत सौंदर्य के मूलतत्त्व के रूप में नूतनता की स्थापना की गयी है, जो अवधान का मुख्य आकर्षक तत्त्व है ।

(4) काव्य का नूतन विभाजन चमत्कार के आधार पर किया गया है, जिससे विभाजन को एक व्यापक आधार प्राप्त हो सका है ।

(5) रसराज जैसे शब्दों की अपेक्षा मूलरस शब्द को स्वीकार किया गया है तथा अद्भुत रस के रसराजत्व (मूलरसत्व) का निराकरण किया गया है ।

(6) पहलीबार चमत्कार संप्रदाय का विकासात्मक अध्ययन प्रस्तुत करते हुए चमत्कार की व्यापक अवधारणा का उल्लेख किया गया है । इस अवधारणा से मुक्तकों-सूक्तिमुक्तकों— के आस्वाद की समस्या का समाधान हो गया है ।

(7) अद्भुत रस के सांगोपांग विवेचन के साथ ही आनुषंगिक सामग्री का भी व्यापक परिशीलन किया गया है ।

(8) काव्य के सर्जन एवं आस्वाद के धरातल पर विस्मय-तत्त्व के महत्त्व का मूल्यांकन किया गया है ।

मैं उन सब का हृदय से ऋण स्वीकार करता हूँ जिनके ग्रन्थों एवं विचारों से प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में लाभान्वित हुआ हूँ । डा० नगेन्द्र का विशेषतः कृतज्ञ हूँ कि उनके विचार विशेष प्रेरणाप्रद रहे हैं । गुरुवर डा० गोपीनाथ तिवारी के कुशल निर्देशन के कारण ही यह शोधप्रबन्ध पूर्ण हो सका। एतदर्थ मैं उनका चिरऋणी हूँ । उनकी सहज अनुकम्पा के बिना यह कार्य शायद ही सम्पन्न होता ।

संदर्भ ग्रन्थों के अध्ययन क्रम में अपने पूना प्रवास के दिनों में श्रद्धेय डा० आनन्दप्रकाश दीक्षित, अध्यक्ष हिन्दी विभाग, पूना विश्वविद्यालय ने अपनी पैनी आलोचक दृष्टि के कारण उन अनेक गुत्थियों को सुलझाने में योग दिया जिन्हें अन्यथा सुलझाना सरल नहीं था । मैं उनके प्रति हृदय से कृतज्ञ हूँ । पूना में ही डा० सुरेन्द्र बारलिंगे, अध्यक्ष, दर्शन विभाग का सहज अकृत्रिम स्नेह प्राप्त हुआ । डा० बारलिंगे ने स्वयं तो अपने मौलिक चिंतन से योगदान किया ही, पूना के अनेक लब्धप्रतिष्ठ विद्वानों से विमर्श करने के क्रम में दिनभर अश्रान्त रूप से जुटे रहे । उनका सहज स्नेह संजो कर रखने की वस्तु है ।

मैं पूना के भाण्डारकर प्राच्य विद्या शोध संस्थान के निदेशक तथा पूना विश्वविद्यालय एवं डेकन कालेज के पुस्तकालयाध्यक्षों का भी अत्यन्त आभारी हूँ कि उन्होंने कई दिनों तक शीघ्रपूर्वक पुस्तकों के उपयोग का उन्मुक्त अवसर दिया और ऐसे ग्रन्थ भी सुलभ कराये जिनकी अन्यत्र प्राप्ति कठिन थी । भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण दिल्ली के विभागीय पुस्तकालय से भी मुझे अनेक ऐसे

ग्रन्थों को देखने का अवसर मिला जिनका उपयोग संभवतः पहली बार किया गया है । भगवत शाही (बुकलिफ्टर) ने जिस तत्परता एवं सूझ-बूझ के साथ पुस्तकें उपलब्ध करायीं वह निश्चय ही साहित्य सेवा का उत्तम दृष्टान्त है । इसके अतिरिक्त आगरा, गोरखपुर तथा वाराणसेय विश्वविद्यालय एवं ज्ञानपुर तथा रामपुर के राजकीय महाविद्यालयों के पुस्तकालयों से भी संदर्भ ग्रन्थ प्राप्त करने में सहयोग मिला है । रज़ा लाइब्रेरी रामपुर के पुस्तकालयाध्यक्ष श्री इफ्तियाज़ अली अर्शी के स्नेहिल अनुभव से भी मैंने पर्याप्त लाभ उठाया है । मैं उनकी क़द्र करता हूँ ।

मैं डा० जिंगैली (अमेरिकी मनोवैज्ञानिक) का भी ऋणी हूँ, जिन्होंने मेरे अनुरोध पर अपने शोध प्रबन्ध 'दी मोटिवेशनल इफेक्ट आफ सब्लाइज़' की 'फोटो स्टैट्स' प्रति भेज दी । मैंने उनसे बहुत लाभ उठाया है । एक अन्य अमेरिकी विद्वान डा० बरलाइन ने भी मेरी बड़ी सहायता की है । मनोविज्ञान के क्षेत्र में सहयोग के लिए डा० लालबचन राम त्रिपाठी का भी आभारी हूँ । डा० कपिकुमार चतुर्वेदी का सहयोग भी अविस्मरणीय है ।

डा० भगवती सिंह अध्यक्ष हिन्दी विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय का किन शब्दों में आभार व्यक्त करूँ । उनकी उदारता से मैंने पर्याप्त लाभ उठाया है । मैं अनुगृहीत हूँ ।

डा० रामचन्द्र तिवारी, रीडर हिन्दी विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय ने सादृयन्त पाण्डुलिपि देखने का कष्ट उठाया है तथा अनेक अमूल्य परामर्श दिये हैं, जिसके लिए कृतज्ञ होना ही पर्याप्त नहीं है । प्रिय शिष्य एवं वर्तमान सहयोगी श्री मनमोहन शुक्ल का प्रेरणाप्रद सहयोग भुलाया नहीं जा सकता । सम्पूर्ण शोध-प्रबन्ध की टंकणयोग्य पाण्डुलिपि तैयार करने में वि० मदनलाल अरोड़ा का श्रम अविस्मरणीय है । मैं इन दोनों योग्य शिष्यों के उज्ज्वल भविष्य की कामना करता हूँ ।

अन्त में मैं भगवती पराम्बा तथा भगवान सदाशिव के चरण-कमलों में प्रणत भाव से यह वाग्यपुष्पोपहार रूप शोध-प्रबन्ध अर्पित करता हूँ।

—शिवादत्त द्विवेदी

गोरखपुर :
शारदी पूर्णिमा : सं० 2031.

विषय-सूची

प्रथम अध्याय — विस्मय : स्वरूप, परिवेश, व्याप्ति एवं स्थापना पृ० 1-74

विषय-प्रवेश, विस्मयतत्त्व का स्वरूप निरूपण, विस्मय शब्द की व्युत्पत्ति, विस्मयतत्त्व का शास्त्रीय एवं पारिभाषिक निर्वचन—(क) साहित्यशास्त्रीय निर्वचन, (ख) अन्य भारतीय आचार्यों द्वारा प्रदत्त विस्मय का पारिभाषिक निर्वचन, विस्मयतत्त्व का दार्शनिक स्वरूप, विस्मय का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण, विस्मय के विभाव, विस्मय के पर्यायवाची : एक सर्वेक्षण — चमत्कार, अद्भुत, कुतूहल, कौतुक, औत्सुक्य, परिवेश और विस्मय — (1) दिव्य अनुभूति का परिवेश, (2) प्राकृतिक परिवेश, (3) मानवीय रचना और व्यापारों का परिवेश— (क) कला का संसार, (ख) वैज्ञानिक आविष्कार का लोक, मानव और मानव के व्यापार, व्याप्ति, स्थापना ।

द्वितीय अध्याय — चेतना-प्रवाह और विस्मयतत्त्व पृ075—133

चेतना प्रवाह एवं विस्मयतत्त्व (अवधान, संप्रेरक, विचारणा, तर्कणा, सर्जनात्मक विचारणा के चार सोपान, अवधान के तीन रूप (सायास, अभ्यासजन्य, अनायास) अवधान के बाह्य निर्धारक तत्त्व, प्रवर्तक— गौतम, रागद्वेष मोह, प्रशस्तपाद— इच्छा द्वेष, योगशास्त्र— अविद्या, उपनिषद्—स्पृहा, बौद्ध—तृष्णा,

जैन – राग-द्वेष-मोह, चार्वाक–रसना, रागमूलक अवधान एवं विस्मयतत्त्व, बुद्धितत्त्व एक विवेचन, बौद्धिकता एवं विस्मयतत्त्व, प्रतिभा एवं विस्मयतत्त्व, कल्पना एवं विस्मयतत्त्व, भावना एवं विस्मयतत्त्व, भावना की कोटियाँ, बौद्धिकता एवं भावुकता ।

तृतीय अध्याय — मूल रस की परिकल्पना एवं अद्भुत रस के मूल रसत्व का निराकरण — पृ० 134-175

(अ) रसराज, (आ) प्रकृति, (इ) मूलरस, पारमार्थिक दृष्टि से मूलरस का विवेचन, आनंदरस या समरस — (क) आनंदरस, (ख) समरस, व्यावहारिक दृष्टि से मूल रस का विवेचन, अद्भुत रस के मूलरसत्व का निराकरण ।

चतुर्थ अध्याय — विस्मयतत्त्व की दृष्टि से काव्य का नूतन वर्गीकरण — पृ० 176-202

काव्यभेद एवं विस्मयतत्त्व, काव्य-विभाजन का आधार और विस्मयतत्त्व,

पंचम अध्याय — चमत्कार सम्प्रदाय एक स्थापना — पृ० 203-285

चमत्कार का दार्शनिक स्वरूप – प्रत्यभिज्ञाशैव दर्शन, गोरखपंथ आदि के आधार पर चमत्कार शब्द की व्युत्पत्ति एवं उत्पत्ति का विवेचन, नाट्यशास्त्र में मुख्यतः नाट्यरस, दण्डी, वामन व रुद्रट आदि में उक्ति की प्रधानता, सूक्ति मुक्तकों के प्रकारभेद, आस्वाद के क्षणों में चेतना के तीन आयाम, संस्कृत साहित्य में चमत्कार

सम्प्रदाय का विकासात्मक अध्ययन — आनन्दवर्धन, वामन, कुन्तक, अभिनवगुप्त, क्षेमेन्द्र, विश्वनाथ विश्वेश्वर कविचन्द्र, पण्डितराज जगन्नाथ, हरिप्रसाद, विद्याराम, पुंजराज, चमत्कार सम्प्रदायवादी लक्ष्य ग्रन्थ- स्तुति कुसुमांजलि (जगद्धर भट्ट), तथा सुधानिधितव (हरिवंशमहाप्रभु), हिन्दी साहित्य में चमत्कार सम्प्रदाय : एक सर्वेक्षण — सेठ कन्हैयालाल पोद्दार, हरिऔध, आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डा०श्यामसुन्दरदास, रामदहिन मिश्र, जयशंकर प्रसाद, सुमित्रानन्दन पंत, डा० नगेन्द्र, लक्ष्मीनारायण सुधांशु, रमेशकुन्तल मेघ, अज्ञेय, लक्ष्मीकान्त वर्मा ।

षष्ठ अध्याय — अद्भुत के अंग, भेद एवं निष्पत्ति पृ० 286-367

अद्भुत रस के विभाव — संस्कृत आचार्यों का विभाव विवेचन, हिन्दी आचार्यों का विभाव विवेचन, मनो- वैज्ञानिकों का विभाव विवेचन, अद्भुत रस का विभाव विश्लेषण, विभावों का वर्गीकरण — (क) तत्व के आधार पर, (ख) निर्मिति के आधार पर, अद्भुत रस के अनुभाव— संस्कृत तथा हिन्दी आचार्यों के अनुसार, मनोवैज्ञानिकों के अनुसार — चेतना में परिवर्तन, बाह्य व्यवहार में परिवर्तन, विस्मय के मनोवैज्ञानिक अनुभाव : एक विवेचन, अद्भुत के संचारीभाव, संस्कृत तथा हिन्दी आचार्यों के अनुरूप, विस्मय संचारीभाव के रूप में, विस्मय स्थायीभाव, विस्मय सुखात्मक स्थायीभाव, अद्भुत रस के भेद, अद्भुत रस की निष्पत्ति — रस, भाव, भावोदय, भाव- शबलता आदि का सोदाहरण विवेचन ।

सप्तम अध्याय — अद्भुत रस की आनुषंगिक सामग्री पृ० 368-417

अद्भुत रस की उत्पत्ति, वर्ण एवं देवता की परिकल्पना—उत्पत्ति विवेचन—भरतमुनि तथा अभिनवभारती के आधार पर, दशरूपक के आधार पर, पौराणिक उत्पत्ति, त्रिगुण से उत्पत्ति, वर्ण, देवता, मित्र शत्रुभाव, अद्भुत रस का अन्य रसों से सम्बन्ध निरूपण — शृंगार, वीर, हास्य, भयानक, रौद्र, वीभत्स, करुण एवं शान्त रस, प्रकृति रस एवं अद्भुत रस, अद्भुत रस एवं वृत्ति, अद्भुत रस एवं गुण, काव्यपाक एवं अद्भुत रस, अद्भुत रस एवं शय्या, अद्भुत रस बुद्धिप्रधान है ।

अष्टम अध्याय : विस्मयतत्त्व का परिपाक एवं आस्वाद पृ० 418-454

विस्मयतत्त्व के परिपाक एवं आस्वाद का विवेचन, अलंकार एवं विस्मयतत्त्व, चित्रविधान एवं विस्मयतत्त्व, प्रतीक विधान और विस्मयतत्त्व, उदात्त और विस्मयतत्त्व, विस्मयतत्त्व का परिपाक ।

नवम अध्याय : उपसंहार पृ० 455-466

सर्जन प्रक्रिया एवं विस्मयतत्त्व, भावतत्त्व-रस, विचारतत्त्व, शैलीतत्त्व, काव्य का आस्वाद एवं विस्मयतत्त्व, स्रष्टा तथा भोक्ता के बीच माध्यम-विस्मयतत्त्व, विस्मय की संवेदनात्मक अनुभूति का वर्गीकरण—ऐन्द्रिय संवेदन, कलात्मक सौंदर्यानुभूति, जिज्ञासा, सांवेगिक और सामाजिक संप्रेक्षण, विचारणा, आस्वादप्रक्रिया के बिन्दु, प्रवृत्तिकाल, भोगकाल, परिणतिकाल ।

परिशिष्ट : सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

चमत्कारोत्कर्षं कमपि कमनीयं विदधती
दिशन्ती सा काचिज्जयति कविवाचां परिणतिः ।
यदास्वादे चेतस्यमृतमिति निःश्रेयसमिति
प्रियं यात्रेत्युच्चैः पदमिति समुद्घोषन्ति मतयः ।।

मधुस्यन्दोमन्दीकृतविपदुपाधिर्गलमरु —
भ्रमक्लेशावेशप्रशमकमनीयो विजयते ।
अखण्ड-श्रीखण्ड-द्रव-नव-सुधासार सरसः
प्रसादो वाग्देव्याः प्रवह-कवि-काव्यामृतवपुः ।।

— जगद्धर भट्ट
स्तुतिकुसुमाञ्जलि, पृ० 99–100.

प्रथम अध्याय

विषयः स्वरूप, परिवेश, व्याप्ति एवं स्थापना

विषय-प्रवेश

मानव के विकास की चर्चा हो या मानवता के विकास की, विस्मय की भावना का उसमें एक अनिवार्य और महत्वपूर्ण योग रहा है । मानव ने अपनी जययात्रा में जो कुछ पाया है— साहित्य और कला के क्षेत्र में, ज्ञान और विज्ञान या दर्शन के क्षेत्र में — वह सब विस्मय की उपलब्धि है । वैदिक ऋषियों ने विस्मय विमुग्ध भाव से उषा के सौंदर्य को निहारा था, अग्नि अर्चियों का सर्वग्रासी रूप प्रणत-चकित भाव से देखा था, झंझा के झकोरों में भीमकाय पादपों को धराशायी होते देख भय विह्वल आश्चर्य से भर गये थे और तब उन्होंने संधान किया था उस शक्ति का, जो सबका संचालन एवं संतुलन करती है । उसी क्षण से विस्मय ने कला को जन्म दिया, दर्शन की आँखें खोलीं और ज्ञान-विज्ञान को दिशा-निर्देश भी दिया और प्रेरणा भी ।

जहाँ तक साहित्य-शास्त्र का सम्बन्ध है, रस को काव्य की आत्मा स्वीकार किया गया है और रस का प्राण माना गया है लोकोत्तर चमत्कार (लोकोत्तर चमत्कार प्राणः कैश्चित् प्रमातृभिः) । स्पष्ट है कि लोकोत्तर चमत्कार विस्मय का जनक है और इसलिए समस्त रसों के मूल में और अधिक स्पष्ट कहें तो समस्त साहित्य के मूल में अद्भुत या विस्मय का तत्त्व परिलक्षित होता है । कुन्तक की वक्रोक्ति हो या रुद्रट का अलंकार, वामन की रीति हो या अभिनव का ध्वनि-सिद्धान्त, सर्वत्र लोकोत्तरता, विलक्षणता, असाधारणता आदि का जो महत्त्व स्वीकार किया गया है, वहाँ भी प्रकारान्तर से विस्मय तत्त्व की व्यापक स्वीकृति है । पण्डितराज जगन्नाथ ने काव्य को 'रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्द' कहा है और रमणीय वही है, जो नित्य-नवीन है —"क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः" — और जो कुछ नवीन है, वह रमणीय इसलिए है कि वह विस्मयजनक है, कुतूहलवर्द्धक है, औत्सुक्य और अनिर्वचनीय आनन्द का पोषक है ।

साहित्य के मूल में अनेक रूपों में यह विस्मय-तत्व ईंटों की तरह बिछा हुआ है किन्तु अभी तक इस दिशा में स्वतंत्र रूप से कोई भी शोधकार्य नहीं हुआ है। इतना ही नहीं अनुसंधाताओं ने विस्मय स्थायिभावाख्य अद्भुत रस को भी चिंतन एवं अनुसंधान का विषय नहीं बनाया है । अतः इस प्रबन्ध का मुख्य उद्देश्य अनुभूति, अभिव्यक्ति एवं चिंतन पक्षों में विस्मय-तत्व के मूल्य को गवेषणात्मक अध्ययन द्वारा प्रतिष्ठित कर काव्यशास्त्र के चिंतन-पक्ष में एक नयी कड़ी जोड़ना है । इसी आयाम में अद्भुत रस एवं स्थायिभावापन्न विस्मय के व्यापक परिशीलन द्वारा उसको नूतन और व्यापक परिवेश में प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया गया है ।

विषय का विवेचन शास्त्रीय-पद्धति पर किया गया है । भारतीय एवं पाश्चात्य साहित्यशास्त्र, मनोविज्ञान, दर्शन आदि को उपजीव्य बनाकर प्राप्त निष्कर्षों एवं स्थापनाओं की पुष्टि के लिए लक्ष्य-ग्रन्थों (विशेषतः हिन्दी-काव्य) से उदाहरण दिये गये हैं किन्तु सम्पूर्ण साहित्य में विस्मय-तत्व की अभिव्यक्ति कहाँ-कहाँ किन-किन रूपों में हुई है, इसका अवांछित विवरण-विस्तार न देकर सघन निरूपण को ही लक्ष्य बनाया गया है । काव्य के विभिन्न अंगोपांगों में विस्मय-तत्व कहाँ तक क्रियाशील है, इसे देखते हुए काव्य एवं विस्मय-तत्व दोनों के परस्पर उपकार्योपकारक भाव सम्बन्ध का विवेचन निश्चय ही साहित्य की श्रीवृद्धि में सहायक होगा ।

विस्मय-तत्व का स्वरूप निरूपण :

विस्मय-तत्व इस शोध का मेरुदण्ड है । अतः इसकी सुस्पष्ट अवधारणा के लिए 'विस्मय' शब्द के व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ का अनुशीलन एवं उसीके आधार पर विस्मय-तत्व का शास्त्रीय तथा पारिभाषिक निर्वचन एवं विचार-विवेचन प्रकृत प्रसंग में अत्यन्त उपादेय होगा । संस्कृत शब्दों की अन्वर्थता की ही यह महिमा है कि शब्दों की अनेक प्रकार से व्युत्पत्ति करने पर वे सभी अर्थ-प्रकार प्राप्त हो जाते हैं, जिन्हें संकेतित करने के लिए उस शब्दविशेष का साहित्य में प्रयोग प्राप्त होता है । विस्मय शब्द भी इसका अपवाद नहीं है । अतः विस्मय शब्द की व्युत्पत्ति के माध्यम से विस्मयतत्व के स्वरूप, प्रभाव, परिणाम, व्याप्ति एवं सीमा आदि का सम्यक् आकलन सुगम हो सकेगा । गया है।

'विस्मय' शब्द की व्युत्पत्ति :

विस्मय शब्द 'वि' उपसर्ग 'स्मिङ् ईषद्हसने' धातु से 'अच्'[1] प्रत्यय द्वारा निष्पन्न हुआ है, जिसका विग्रह वाक्य इस प्रकार होगा – 'विविधः विशिष्टः विचित्रः वा स्मयः = विस्मयः' । अर्थात् विस्मय उसे कहना चाहिए जिस अनुभव या संवेग में मुखमंडल पर स्मय (स्मिति–मुस्कान), बहुविध, विशिष्ट या विचित्र ढंग से प्रकट हो । इसी क्रम में यदि 'वि' का अर्थ 'विविध' या 'विशिष्ट' न करके 'विगत' किया जाये तो विग्रह वाक्य 'विगतः स्मयः' ऐसा होगा । फलतः जहाँ मुस्कान तुप्त हो जाये – चेहरे पर हवाइयाँ उड़ने लगें वह भी विस्मय ही कहा जायेगा । इसके समनार्थी अथवा पर्यायवाची – चित्र, अद्भुत,[2] आश्चर्य,[3] चमत्कार[4] आदि हैं । शब्द-रत्नावलीकार ने इसका एक पर्याय 'संदेह' बतलाया है । इस अर्थ को प्राप्त करने के लिए इसका विग्रह – 'विविधः विलक्षणो वा स्मयः सन्देहः यस्मिन्' करना होगा । स्पष्ट है कि जहाँ संदेह दोहरा चौहरा होकर चमत्कार में पर्यवसित हो जाये उसे भी विस्मय की ही संज्ञा दी जानी चाहिए । विस्मय शब्द का एक ओर यदि दर्प[5] के अर्थ में प्रयोग मिलता है तो दूसरी ओर इसका गर्वनाश[6] अर्थ भी प्राप्त होता है । इस अर्थ की उपलब्धि 'विगतः स्मयः गर्वो यस्य' ऐसी व्युत्पत्ति से होगी । अतः जहाँ विलक्षण एवं विचित्र कारण से व्यक्ति का आई विगलित हो जाय उसे भी विस्मय ही कहेंगे ।

---

1. स्मिङ् अष्टाध्यायी । 3/3/56.
2. 'चित्रमद्भुतमाश्चर्यं विस्मयश्चोदयमुच्यते' – हलायुध कोष, पृ० 745.
3. 'चमत्कारश्चित्तविस्तारूपो विस्मयापरपर्यायः' – सा०द०, पृ० 106.
4. 'विस्मय' शब्द पर शब्द-कल्पद्रुमकोष देखिये ।
5. 'यशोऽनृतेनाक्षरति तपः क्षरति विस्मयात्' – मनुस्मृति, 4/237.
6. देखिये – हलायुधकोष, पृ० 627–628.
   (तंवीरमादाभिपद्य विस्मयः शयिष्यसे वीरवयेष्वनिर्वृतः) भागवत, 3/17/30.

इस प्रकार उपर्युक्त व्युत्पत्तिमूलक व्याख्या के आधार पर निष्कर्ष रूप में यह सिद्धान्त प्रतिष्ठित किया जा सकता है कि चेतना के तीनों धरातलों (मन, बुद्धि एवं अहंकार) पर विस्मय का तत्त्व सक्रिय रहता है । मनोभूमि में विस्मय अनुभूति रूप में प्राप्त होता है, जिसकी उपलब्धि सुखात्मक भी हो सकती है और दुःखात्मक भी । चिंतन के लोक में वह अतर्क्य एवं अविज्ञेय होकर उपस्थित होता है तथा अहंकार के लिए चुनौती बनकर सामने आता है। इस स्थिति को इस प्रकार सूत्रांकित किया जा सकता है :—

(1) मुस्कान का उदय — आह्लाद (जनक)
(2) मुस्कान का लोप — दुःखजनक
} विस्मय का आनुभूतिक एवं (मानसिक) स्वरूप । (स्वरूप)

(3) उत्कट कोटिक संदेह — अनिश्चय की स्थिति — विस्मय का बौद्धिक रूप ।

(4) गर्वनाश—अहं को ठेस — अहंकारमूलक विस्मय (फलतः) अहं का विगलन ।

विस्मय-तत्त्व का शास्त्रीय एवं पारिभाषिक निर्वचन :

(क) साहित्यशास्त्रीय विवेचन :

भरतमुनिकृत नाट्यशास्त्र के अनुसार 'लोकातिशायी कर्म से उत्पन्न होने वाला आनन्दज भाव विस्मय है'।[1] रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने किसी वस्तु की उत्कृष्टता (अतिशयता) से उत्पन्न होने वाले संवेग को विस्मय बतलाया है ।[2] साहित्यसार की टीका में भी

---

1. कर्मातिशयनिर्वृत्तो विस्मयो हर्ष संभवः ।'
— नाट्यशास्त्र, 7/27, पृ० 334.

2. 'उत्कृष्टत्वावसायी विस्मयः' ।
— नाट्यदर्पण, पृ० 176.

चमत्कार के दर्शन आदि (स्पर्श, श्रवण, स्मरणादि) से उत्पन्न होने वाली एक विशेष चित्तवृत्ति को विस्मय कहा गया है ।[1]

विस्मय की व्याख्या करते हुए प्रायः आलंकारिकों ने उसे चित्त का विस्तार, विस्फार या विकास कहा है क्योंकि यह एक आनन्ददायिनी उपलब्धता को जन्म देता है, और मस्तिष्क के व्यापार को तीव्रता प्रदान करता है । इसी संदर्भ में साहित्य-दर्पणकार विश्वनाथ ने लिखा है कि — "लौकिकता की सीमा का अतिक्रमण करने वाले (लोकोत्तर या विलक्षण) अनेक प्रकार के पदार्थों के दर्शनादि से उत्पन्न होने-वाले चित्त के विस्तार को विस्मय कहते हैं ।"[2] इतना ही नहीं वे चमत्कार और विस्मय को परस्पर पर्यायवाची मानते हैं । रस को परिभाषित करते समय उन्होंने उसे 'लोकोत्तरचमत्कारप्राण' कहा । उनकी दृष्टि में चमत्कार विस्मय का ही दूसरा समानार्थी शब्द है । इसीलिए उनके मत में चमत्कार एवं विस्मय का परिणाम है सामाजिक का चित्त-विस्तार या मनोविकास ।[3] अलंकार-चन्द्रिका में भी विस्मय को 'चित्तविस्तारात्मा' कहा गया है ।[4]

यहाँ यह उल्लेख कर देना अप्रासंगिक न होगा कि चित्त विस्तारादि विस्मय के लक्षण हैं और लोकातिशायी, लोकोत्तर, अतिलौकीय पदार्थ आदि उसके विभाव । यद्यपि विभाव आलम्बन एवं उद्दीपन दोनों होते हैं, तथापि प्रकृत प्रसंग में विस्मयजनकता की भूमिका में उसका आलम्बनगत वैशिष्ट्य ही प्रमुख है, क्योंकि आलम्बनगत वैचित्र्य स्वतः भी उद्दीपन बन जाता है । हाँ, यदि विलक्षण आलम्बन

---

1. 'चमत्कारदर्शनादिजन्माचित्तवृत्तिविशेषो विस्मयः' ।
   — साहित्यसार की सरसागोद व्याख्या, पृ० 103.
2. 'विविधेषु पदार्थेषु लोकसीमातिवर्तिषु ।
   विस्फारश्चेतसो यस्तु स विस्मय उदाहृतः ।।'— सा०द०, तृ०परि०, पृ० 228.
3. 'चमत्कारश्चित्तविस्तारलक्षणो विस्मयापरपर्यायः' — वही, पृ० 106.
4. 'चित्तविस्तारात्मा विस्मयः' — अलंकारचन्द्रिका, आख्यानुप्रासन की टीका, पृ० 120.

विलक्षण परिवेश आदि (उद्दीपन) से युक्त हो तो फिर तो उसका विस्मयोद्रेक के निमित्त सोने में सुहागा हो जाना अत्यन्त स्वाभाविक है ।

श्री विद्यानाथ ने अपूर्व अर्थ (पदार्थ) के सम्यक् दर्शन (दर्शनादि) से उत्पन्न होने वाले चित्त-विस्तार को विस्मय कहा है ।[1] रूपगोस्वामी ने भी अलौकिक वस्तु आदि के दर्शनादि द्वारा चित्त के विस्तार को ही विस्मय कहा है ।[2] इसी चित्त-विस्तार को ध्यान में रखकर 'वामन झलकीकर' ने 'काव्यप्रकाश' की अपनी टीका में 'काव्यप्रदीप'[3] से एक उद्धरण दिया है, जिसका तात्पर्य है कि "वस्तु की महिमा के दर्शन से उत्पन्न होने वाले चित्त-विस्तार का नाम विस्मय है ।" पण्डितराज जगन्नाथ ने चित्त-विस्तार के स्थान पर 'चित्त-विकास' कहना अधिक उपयुक्त समझा है । उनके मत में अलौकिक वस्तु के दर्शनादि से उत्पन्न होने वाला विकास (चित्त-विकास) ही विस्मय है ।[4] कहीं-कहीं 'विकासाख्यो' के स्थान पर 'आश्चर्याख्यो' पाठ मिलता है ।[5] ऐसी स्थिति में विस्मय आश्चर्य-बुद्धि का पर्यायवाची बन जाता है । विंगलूपाल भी लोकोत्तरता-जन्य चित्त-विस्तार को ही विस्मय मानते हैं ।[6] इस प्रकार प्रायः सभी आलंकारिक चित्त के विस्तार, विस्फार या विकास को ही विस्मय की संज्ञा प्रदान करते हैं ।

इस विवेचन के उपरांत चित्त-विस्तार की व्याख्या का प्रश्न स्वतः उठता है । जीवगोस्वामी ने लिखा है कि 'यह क्या है ?' ऐसी जिज्ञासा के उदय से

---

1. 'अपूर्वार्थसंदर्शनाच्चित्तविस्तारो विस्मयः'
   — प्रतापरुद्रीय यशोभूषण (विद्यानाथ), संपा० कुमार स्वामी । पृष्ठ १६८
2. 'लोकोत्तरार्थ वीक्षादेर्विस्मयश्चित्त विस्तृतिः ' ।— श्री हरिभक्तिरसामृतसिन्धु, दक्षिण विभाग लहरी, 52 श्लोक, 45 उत्तरार्द्ध ।
3. 'विस्मयश्चित्त-विस्तारो वस्तुमाहात्म्यदर्शनात्' — बालबोधिनी, पृ० 112.
4. 'अलौकिकवस्तुदर्शनादिजन्मा विकासाख्यो विस्मयः ' ।—रसगंगाधर, पृ० 39.
5. साहित्यसार की सरसामोद व्याख्या, पृ० 103.
6. रसार्णव सुधाकर, पृ० 157.

मन की भिन्न-भिन्न प्रकार की गति ही चित्त की विस्तृति[*17] है।[1] इसका और भी स्पष्टीकरण उन्होंने एक दूसरे स्थान पर इस प्रकार किया है — यह कैसे हो गया ? इस प्रकार की हेतु की संभावना में असमर्थ बुद्धि का स्वरूप विस्मय है।[2] अतः वस्तु में थाह न पा सकने के कारण ऊभ-चूभ करती चेतना तथा व्यापार में कार्य-कारण शृंखला न जोड़ पाने वाली बुद्धि की बेबसी ही विस्मय का स्वरूप है ।

बात यह है कि अपूर्व वस्तु आदि के दर्शनादि रूप ऐन्द्रिय संवेदन से एक प्रकार का उद्रेकी मानस-आघात होता है, जिसके परिणाम स्वरूप मस्तिष्क उत्तेजित हो उठता है और वह सामान्य धरातल से उठकर अधिक सतर्क, अधिक सक्रिय तथा अधिक संवेदनशील हो जाता है । ऐसी स्थिति में बोध अथवा संवेदन की परिधि अथवा धरातल का विकास अनिवार्य हो उठता है क्योंकि सामान्य अनुभव की सीमा का अतिक्रमण करनेवाले वस्तु या व्यापार को समेटने के लिए चित्त फलक के विस्तार के अतिरिक्त और उपाय भी क्या है ? अतएव भारद्वातनय ने विस्मय को 'चित्त का वैचित्र्य'[3] कहना अधिक उपयुक्त समझा है, जो जीव गोस्वामी की 'नानागतिः' का ही परिष्कृत रूप है।

इसी प्रकार साहित्यदर्पण की किसी टीका का साक्ष्य देकर शब्दकल्पद्रुम में कहा गया है कि लोकातीत अर्थ के आकलन के क्षण में 'यह क्या है ?' इसप्रकार की ज्ञानधारा के उत्पन्न हो जाने पर चित्त का प्रायः दीर्घत्व प्राप्त कर लेना ही चित्त-विस्तार है । दूसरे आचार्यों के मत में, यह ज्ञात कारणों से संभव नहीं है, ऐसा जान लेने के बाद कारणान्तर के अनुसंधान के क्षण में होनेवाला मनोव्यापार ही

---

1. 'चित्तस्य विस्तृतिः किमिदमिति नाना गतिः - - - - विकासस्तु प्रकाशः'।
   — दुर्गमसंगमनी टीका, पृ० 295.
2. 'विस्मयश्चेदं कथं जातमिति हेत्वसंभावनामयी बुद्धिः' — वही, पृ० 441.
3. 'विस्मयश्चित्तवैचित्र्यम्' । — भावप्रकाशन, पृ० 35.

चित्त-विस्तार है ।[1]

वस्तुस्थिति यह है कि चित्त का विस्तार, विकास या आधिक्य का भाव ही सुख है और उसका ह्रास संकोच एवं अल्पता ही दुःख है । सुख की व्युत्पत्ति है सु=सुलभ है, ख=आकाश=व्याप्ति जिसकी, वह सुख है, आनन्द है । इसके विपरीत जहाँ विस्तार का अवकाश नहीं है—दुः=दुर्लभ है, ख=आकाश=व्याप्ति — वहाँ दुःख है ।

'यो वै भूमातत्सुखम् । नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखम्' - 7/23/।

इसीकी व्याख्या करते हुए लिखा है कि 'यो वै भूमातदमृतम् यदल्पं तन्मर्त्यः' (वही) । अतः भूमा अथवा विस्तार ही आनन्द का पर्यायवाची शब्द है ।[2] डा० भगवानदास ने भी लिखा है —"सूक्ष्म परीक्षण से यह विदित होता है कि आनन्द विस्तार की अनुभूति है तथा आत्मा का विकास है । इसकी वृद्धि, इसकी सघनता, इसकी दूसरों पर श्रेष्ठता अथवा इसकी अपनी स्वयं की अतीत-स्थिति की अपेक्षा श्रेष्ठता इसके आधिक्य का संकेत करती है। संक्षेप में इसके आधिक्य का अर्थ है स्वयं की पूर्वस्थिति की अपेक्षा आधिक्य अथवा दूसरों की तुलना में आधिक्य ।"[3]

---

1. 'लोकातीतार्थाकलनेन किमेतदिति ज्ञानधाराजनने चित्तस्य दीर्घप्रायत्वम् चित्त-विस्तारः । दृष्टहेतुभ्योऽसंभवित्वज्ञानेन हेत्वन्तरानुसंधाने मनोव्यापार एव चित्त-विस्तार इत्यपरे । इति साहित्यदर्पण टीका ।" —शब्दकल्पद्रुम, भाग-2, पृ० 433.
2. 'जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धान्त' — जीवन और काव्य, लक्ष्मीनारायण— 'सुधांशु', पृ० 5.
3. By careful examination it appears that the pleasure is the feeling of an expansion, an increase of the self, its growth, its intensification, its superiority over others or over its own past states; its moreness in short moreness than before and as compared with others.

   Dr. Bhagwan Dass,
   Science of Emotion 1924, Ch.10 Page 240-41.

इसी प्रकार सहृदयता का अर्थ केवल सहानुभूतिपूर्ण हृदय नहीं बल्कि हृदय की जितनी भी वृत्तियाँ हैं, उन सबकी स्थिति अपेक्षित है (हृदयेन सह सहृदयः । समानं हृदयं यस्य सः सहृदयः)।[1]

अतः चित्त-विस्तार आनन्द का ही पर्याय है। इसीलिए साहित्य में विस्मय की अनुभूति को आनन्द की अनुभूति के रूप में ही स्वीकार किया गया है जबकि सामान्यतः लौकिक विस्मय का सांवेगिक रूप सुखात्मक भी होता है और दुःखात्मक भी ।

(ब) अन्य भारतीय आचार्यों द्वारा प्रदत्त विस्मय का पारिभाषिक निर्वचन :

आचार्य शंकर के अनुसार अनेक अद्भुत वस्तुओं के दर्शन (अनुभव स्मरण आदि का भी संग्रह अपेक्षित है) से उद्रिक्त भाव विस्मय कहलाता है ।[2] शाँकरभाष्य के व्याख्याकार आनन्दगिरि ने गीता ११/१४ के शाँकरभाष्य पर टिप्पणी करते हुए लिखा है कि अद्भुत दर्शनादि से उत्पन्न आश्चर्य-बुद्धि से जिस संवेग का उदय होता है, उसे विस्मय कहते हैं ।[3] उसी श्लोक की व्याख्या करते हुए 'गूढार्थ दीपिका'[4] के व्याख्याकार श्री 'धनपति' ने अपनी 'भाष्योत्कर्ष दीपिका' में

---

1. जीवन और काव्य, लक्ष्मीनारायण सुधांशु, पृ० 16.
2. 'अनेकानि अद्भुतानि दर्शनानि यस्मिन् रूपे तदनेकाद्भुतदर्शनम्'
   — गीता ११/१०, पृ० 471 (निर्णय सागर प्रेस, बम्बई—1912).
3. 'ततः स विस्मयाविष्टो - - - -' गीता ११-१४ पर शाँकरभाष्य —
   'विस्मयेनाविष्टो विस्मयाविष्टः'। उसी पर 'आश्चर्यबुद्धिर्वाविस्मयः' आनन्दगिरि ।
   गीता, वही, पृ० 473.
4. गीता — मधुसूदनी टीका, ११/१४.

तथा श्रीधरस्वामी ने अपनी श्रीधरी में 'विस्मयाविष्टः' का ही अर्थ आश्चर्य-बुद्धियुक्तः किया है जो 'आनन्दगिरि' से ही मिलता-जुलता है।[1] गीता के पैशाच भाष्यकार श्री हनुमान ने विस्मय को 'कुतूहल' की संज्ञा दी है।[2] श्री मधुसूदन सरस्वती ने इसकी साहित्यिक सरणी से व्याख्या की है। उनके अनुसार अद्भुत (वस्तु, रूप, व्यापार) के दर्शन (दर्शनादि) से उत्पन्न होने वाला 'अलौकिक-चित्त-चमत्कार' ही विस्मय है।[3] (यहाँ प्रकरण अर्जुन द्वारा भगवान श्रीकृष्ण के दिव्य एवं विराट् रूप के दर्शन का है, अतः उससे उत्पन्न विस्मय को आचार्य मधुसूदन ने अलौकिक-चित्त-चमत्कार की संज्ञा दी है। स्पष्ट है कि जहाँ लोकातिक्रान्त अतिमानवीय अथवा दिव्य रूपादि की इन्द्रियग्राह्यता अथवा स्मृति से चमत्कार का उदय होता है, उसे अलौकिक चित्त-चमत्कार कहा गया तो लौकिक आलम्बन में मात्र असामान्यता अथवा अनोखेपन के कारण उत्पन्न विस्मय 'लौकिक-चित्त-चमत्कार' कहलायेगा। यह भी द्रष्टव्य है कि आलम्बन लौकिक हो या अलौकिक किन्तु रस रूप में पर्यवसित होने वाला विस्मय अलौकिक-चित्त-चमत्कार रूप ही होगा।)

विस्मय की 'गर्वनाश' परक व्युत्पत्ति को ध्यान में रखकर श्रीपुरुषोत्तमजी ने लिखा है – "अर्जुन के विस्मय में उसके चित्त में परस्पर विरोधी भाव का द्वन्द्व है क्योंकि जहाँ एक ओर वह स्वयं एक नगण्य प्राणी है, वहाँ दूसरी ओर श्रीकृष्ण अनन्त, दिव्य, सर्वशक्तिमान एवं स्रष्टा ईश्वर हैं।[4] इसी प्रकार तत्त्वदीपिनी टीका में आचार्य वल्लभ ने, बरवर मुनि ने तथा ब्रह्मानन्द गिर्याख्यान में श्री वेंकटनाथ ने[5]

---

1. 'भाष्योत्कर्ष दीपिका तथा श्रीधरी'– गीता, वही, पृ० 473.
2. 'विस्मयः कुतूहलम्।पैशाच भाष्य, गुजराती प्रि० प्रे०, बम्बई–1938, गीता 18/77.
3. 'विस्मयेन अद्भुत दर्शन प्रभवेन अलौकिक चित्त चमत्कार विशेषेण आविष्टः व्याप्तः'। – वही, पृ० 473.
4. Purusottam Ji observes that in Arjuna's wonder there is a feeling of conflict between himself as an insignificant creature and God as an infinite, eternal, omnipotant creater. Indian Psychology Emotion and Will, Vol.II, J.N.Sinha, 1961. –अमृत तरंगिणी (पुरुषोत्तमजी), गुजo प्रिo प्रेo, 1938.
5. विवरण के लिए जेo एनo सिन्हा की उक्त पुस्तक देखिये।

भी अपूर्व वस्तु दर्शनादि से जन्म लेने वाले संवेग को विस्मय कहा है । इस प्रकार आचार्यों का विवेचन विस्मय के व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ एवं साहित्यशास्त्रीय विवेचन से मिलता-जुलता है ।

विस्मय-तत्त्व का दार्शनिक स्वरूप :

भारतीय दर्शन में आनुषंगिक रूप से जो कुछ भी मिलता है उसे प्रायः विस्मय शब्द से न कह कर चमत्कार शब्द से ही व्यक्त किया गया है ।

सांख्यशास्त्र में सृष्टि के विकास की जो प्रक्रिया वर्णित है, तदनुसार क्रम इस प्रकार है — मूल प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार, पंचतन्मात्रायें, इन्द्रियाँ आदि ।[1] इसके अनुसार अहंकार (मनस्तत्त्व) मध्यवर्ती है । जहाँ एक ओर वह सूक्ष्म भोग और भोग-साधन रूप पंचतन्मात्राओं एवं इन्द्रियों से संपृक्त है,[2] वहीं वह महत्तत्त्व (बुद्धि) और प्रकृति से भी । जब सब कुछ सामान्य होता है तब 'अहम्' प्रकृति एवं महत्तत्त्व से प्राप्त शक्ति अथवा प्रकाश द्वारा ग्राहक से गृहीत विषय का सहज भोग करता है किन्तु जब इन्द्रियों के माध्यम से गृहीत विषय-चाक्षुष, श्रावण, मानस, आदि-अहं की परिधि में असमाहित होते हैं, और मन उसके आकलन में अपने को असमर्थ पाता है, तब वह एक आघात का अनुभव करता है। ऐसी दशा में वह प्रकृति एवं महत्तत्त्व से अधिकाधिक चेतना-प्रकाश प्राप्त करने का प्रयत्न करता है और तदनुकूल 'नानागति' से अथवा 'विचित्र' रूप से अपना विस्तार या विकास करता है । साथ ही वह

---

1. 'मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त ।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ।।'
— सांख्यकारिका, पृ०

2. 'पंचप्राणमनोबुद्धि दशेन्द्रिय समन्वितम् ।
अपंचीकृत भूतोत्थं सूक्ष्मांगम् भोग साधनम् ।।'
— वही, पृ०

ग्राहक इन्द्रियों को भी अधिक सतर्क, अधिक सूक्ष्म-संवेदनशील एवं सूक्ष्म होने के लिए प्रेरित करता है । परिणामस्वरूप असामान्य दशा में इन्द्रियों के माध्यम से अग्राह्य विषय भी गृहीत होने लगते हैं और वे भोग में विषय बन जाते हैं । ऐसा भोग्य विषय सामान्य भोग्य से भिन्न होने पर भी विशिष्ट एवं अननुभूत भोग्य के रूप में उपस्थित होने के कारण अद्भुत स्वाद, अद्भुत रूप, अद्भुत शब्द, अद्भुत गन्ध, अद्भुत स्पर्शादि के रूप में उपलब्ध होता है । ऐसी स्थिति में यह स्वीकार किया जा सकता है कि अहंकार ही विस्मय-तत्त्व का मूल केन्द्र है और विगलित या असम्राहित अहंकार जिस प्रक्रिया से अपने को समायोजित करने का प्रयत्न करता है, उस प्रक्रिया में चित्त का विस्तार या विकास होता है ।

प्रत्यभिज्ञा शैव संप्रदाय में भी शिव की पांच शक्तियों[1] की चर्चा मिलती है — चित् शक्ति, 2. आनन्द शक्ति, 3. इच्छा शक्ति, 4. ज्ञान शक्ति और 5. क्रिया शक्ति । इन पांचों शक्तियों के क्रमशः पांच परिणामी स्वरूप भी बतलाये गये हैं — 1. प्रकाश रूप, 2. स्वातन्त्र्य रूप, 3. तच्चमत्कार रूप, 4. आमर्शात्मक, एवं 5. सर्वाकार योगित्व । निखिल सृष्टि की उत्पत्ति के लिए जब चिदात्मा स्वेच्छा से संकल्प करता है तो उसे इच्छाशक्ति कहते हैं, यह इच्छाशक्ति ही है जिसके द्वारा महाचिति अपने को आधार बनाकर विश्व का उन्मेष या उन्मीलन करती है ।[2] शिव की यही इच्छाशक्ति अनन्त चमत्कार (विस्मय) में परिणित हो जाती है। यहां यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि शिव की इच्छाशक्ति की भांति

---

1. 'तस्य च स्वातन्त्र्यस्य आनन्द शक्तिः, तच्चमत्कार इच्छा शक्तिः प्रकाश-रूपताविच्छक्तिः आमर्शात्मकता ज्ञान शक्तिः सर्वाकारयोगित्वं क्रियाशक्तिः इत्येवं मुख्याभिः शक्तिभिः युक्तोऽपि वस्तुतः इच्छा, ज्ञान, क्रियाशक्ति युक्तः अनवच्छिन्नान्तः प्रकाशो निजानन्द विश्रान्तः शिवरूप ------।' तंत्रसार, अध्याय प्रथम उपोद्घात ।
2. 'चितिः स्वतंत्रा विश्वसिद्धि हेतुः स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति । प्रत्यभिज्ञाहृदयम् ।" — सं० 1, सू० 2.

काव्य संसार में कवि ब्रह्म की इच्छाशक्ति (कल्पना शक्ति) भी नवोल्लेख द्वारा सहृदय के सम्मुख विस्मयावह सृष्टि निर्माण करके उसे चमत्कृत करती है ।

शिवसूत्र में विस्मय को 'योग की भूमिका' बतलाया गया है ।[1] योगी के योग की बहुत-सी भूमिकायें (धरातल रूप) होती हैं जिनमें पहुंचने पर योगी प्राप्त आनन्द का विस्मय विमुग्ध भाव से आकलन करता है । शिवसूत्र के अतिरिक्त इन भूमिकाओं की चर्चा 'अमनस्कयोग' में भी प्राप्त होती है, उसके अनुसार दश दिनात्मकलय-योग में आलस्य योगीन्द्र विलक्षण एवं गुप्त अनेकानेक विचित्रताओं के दर्शन करता है । तेरह दिन के लय योग में योगीन्द्र को अचिन्तनीय एवं अद्भुत खेचरी सिद्धि प्राप्त होती है ।[2]

वस्तुतः ज्ञान अथवा अनुभूति की दो कोटियां होती हैं । एक इन्द्रिय-जन्य ज्ञान तथा दूसरा अतीन्द्रिय ज्ञान अथवा विश्वातीत ज्ञान । इन्द्रियजन्य ज्ञान की एक प्रक्रिया है । "हमारी जिह्वा जब किसी वस्तु का आस्वाद करती है, तब उसके स्वाभाविक या कृत्रिम कर्म से हमारी आत्मा में जो एक प्रकार का विकार उत्पन्न होता है, उसे रस या स्वाद कहते हैं । किसी वस्तु के गर्भ से बाहर निकलकर जब उसके सूक्ष्म परमाणु हमारी नाक के मज्जातंतु से टकराकर आत्मा तक पहुंचते हैं, तब हमें उसकी गन्ध मिलती है । - - - - ज्ञानेन्द्रियों से बाह्य जगत् का स्थूल ज्ञान होता है - - - - वे अन्तस् का बाह्य जगत् से परिचय कराने वाली परिचारिका मात्र है ।"[3] ये इन्द्रियां अपनी अनुभूति को सहज आनुभूतिक संवेदन बिम्बों के

---

1. 'विस्मयो योग भूमिका', वही ,
2. 'दशरात्रलयेनापि योगीन्द्रः स्वात्मनिस्थितः ।
   यानि कानि च गुप्तानि महाश्चर्याणि पश्यति ।।75।।
   ततस्त्रयोदशाहेन लयेनापि महाद्भुतात् (महाद्भुतम्)।
   योगीन्द्रः खेचरीं सिद्धिं लभते चिन्तनादपि (चेतनादपि)।।78।।
   - अमनस्कयोग(गुरु गोरखनाथ), सं० श्रीयोगनाथस्वामी, पृ० 19.
3. काव्य में अभिव्यंजनावाद : लक्ष्मीनारायण सुधांशु, पृ० 24-25.

रूप में चेतना लोक में पहुंचाती रहती हैं । यदि ये बिम्ब पूर्ण परिचित बिम्बों की कोटि के हैं तो उनके साथ मन या बुद्धि का समायोजन सरलता से हो जाता है और मानस व्यापार यथावत् चलता रहता है किन्तु वे यदि अपरिचित, अपूर्व एवं विलक्षण हैं तो समायोजन सम्भव नहीं होता । फलतः समायोजन के लिए अपने फलक का विस्तार करनेवाली चेतना पग पग पर विस्मय का अनुभव करती है ।

जहाँ तक अतीन्द्रिय योगज प्रत्यक्ष या आवृत चेतना शक्ति से परे विश्वातीत ज्ञान का प्रश्न है वह एक विशेष दशा है जो सार्वजनिक अनुभूति का विषय नहीं बन सकती । इसीलिए वह असामान्य है । उसका अनुभव चाहे जिसको और जैसे होता है, सदैव लोकोत्तर, अनिर्वचनीय तथा अपूर्व होता है । अतः विश्वोत्तीर्ण दशा में विश्वात्मक अनुभव से विलक्षण अनुभव का होना सुदृढ विस्मय लोक का सृजन करेगा ।

विस्मय का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण :

मनोविज्ञान की दृष्टि में अन्य संवेगों की भांति विस्मय भी एक मिश्रित संवेग है । अतः किसी भी लक्षण का अतिव्याप्ति ग्रस्त हो जाना अत्यन्त सरल है । एक बात यह भी है कि समृद्ध भाषाओं में भी भावनाओं की सूक्ष्म किन्तु विश्लेषणात्मक रंगरेखा को उभारने के लिए शब्द समर्थ नहीं है ।[1] अतः स्थूल लक्षण के बदले प्रभाव एवं अनुसारी परिणामों के द्वारा तथा मिलते-जुलते अन्य संवेगों से साम्य-वैषम्य प्रदर्शित करके ही विस्मय को लक्षित करने का प्रयास किया गया है ।

---

1. On account of the paucity of the languages resulting from the absence on the part of the races using those languages of the feeling of any need for more minute and elaborate expression to indicate many distinguishable though related phases of same mood.

   - Dr. Bhagwan Dass: The Science of the Emotions, Page 93.

'दर्शन मनोविज्ञान कोश' में कहा गया है कि "विस्मय आश्चर्य तथा संभ्रम (आतंकित श्रद्धा) की मिश्रित अनुभूति है, जो किसी ऐसे पदार्थ के गोचरीकरण से उत्पन्न होती है, जिससे हमारी शक्ति एवं ज्ञान की सीमा अतिक्रान्त हो जाती है और (फलतः जिसे हम अति प्राकृतिक या अतिमानवीय की संज्ञा प्रदान करते हैं ।)"[1]

उक्त कोशकार ने सामान्य विस्मय को धार्मिक विस्मय से पृथक् करते हुए लिखा है कि "धार्मिक संवेग के रूप में विस्मय बहुधा आत्मचेतना सम्बन्धी तथा निष्क्रिय होता है । इसका उद्बोधन महान एवं रहस्यमय के द्वारा होता है । रहस्यमयता के बिना केवल महत्ता इसे उद्बुद्ध नहीं कर सकती । दूसरी ओर केवल रहस्यात्मकता कौतूहल का उद्रेक करती है न कि विस्मय का । ऐसी रहस्यात्मकता शुद्ध बौद्धिक छल है, विस्मय (एक प्रकार की) बुद्धिमत्तापूर्ण अनुभूति है । अतः विस्मय एक ऐसी अनुभूति है, जो किसी महान के साक्षात्कार से उत्पन्न होती है तथा जिसके विषय में हमें कुछ ज्ञान होता है, किन्तु जिसकी तह तक हम नहीं पहुँच पाते हैं ।"[2]

यदि उक्त परिभाषा की साहित्यशास्त्रीय शब्दावली में व्याख्या की जाये तो कहा जा सकता है कि अपेक्षाकृत जहां विस्मय स्थायी होता है, वहां श्रद्धा, प्रशंसा,

1. Wonder : This is a mingled feeling of surprise and awe which rises in view of the phenomenon that surpass our power and knowledge and which we ascribe to a supernatural and superhuman origin. Dictionary of Philosophy and Psychology, James Mork Baldwin, 1902, Vol.II, Page 820.

2. Wonder as a religious emotion is largely subjective and passive. It is called forth by the great and mysterious, Greatness alone without mystry would not call forth and on the other hand the mysterious alone excites curiousity but not wonder, nor would the absolutely mysterious call it forth. It would be simply a bluff to our intelligence. Wonder is the feeling which arises in view of some intelligence. Wonder is the feeling which arises in view of something great about which we have some knowledge, but whose inner nature we cannot penetrate. Ibid, p.820.

संभ्रम, आश्चर्य, कौतूहल, औत्सुक्य जैसे जाने कितने भाव संचारी के रूप में आते-जाते रहते हैं और विस्मय को सान्द्रता प्रदान करते रहते हैं । इसके विभाव अतिमानवीय, अति प्राकृतीय, महान, रहस्यपूर्ण एवं असामान्य होते हैं । इसका परिणामी प्रभाव स्वयं की शक्ति अथवा ज्ञान के हीनता बोध के रूप में होता है फलतः अनेक प्रकार के तादृश अनुभाव जन्म लेते हैं । बहुत कुछ इससे मिलता जुलता विवेचन 'वेब्स्टर' शब्दकोष में है। हाँ अन्तर यह है कि जहाँ जेम्स मार्क आलंबन के विषय में कुछ ज्ञान का होना आवश्यक मानता है. वहाँ 'वेब्स्टर' अपरिचित और पूर्णतः अपरिज्ञात होने में भी विस्मय मानता है । उसका कथन है कि "आश्चर्य, श्रद्धा एवं संभ्रम की एक ऐसी (मिश्रित) अनुभूति जो किसी नूतन, अस्वाभाविक, अपरिचित, महान, अद्भुत (विलक्षण) तथा पूर्णतः अपरिज्ञात के कारण उद्रिक्त होती है ।"[1] इसीलिए वेब्स्टर ने प्रशंसा, गुण-ग्रहण, चमत्कार, श्रद्धा, समादर (संभ्रम), आश्चर्य, अद्भुत एवं कौतुक को पर्यायवाची माना है।[2] एक अन्य कोश में इसका विवरण इस प्रकार है :—

किसी नूतन (अपूर्व) अप्रत्याशित, अबोध्य (अव्याख्येय) वस्तु की उपलब्धि द्वारा उत्पन्न संवेग (विस्मय कहलाता है) जिसमें चमत्कार उद्विग्न अथवा बेचैन कर देने वाली उत्सुकता से मिश्रित है तथा वह मानसिक स्थिति जिसमें उसका संवेग स्थित है । (इसका दृष्टान्त चमत्कार का आवेश है) (जहाँ) विस्मय की अन्तः शक्ति निष्क्रिय नहीं होती । आतंक के असामान्य व्यापार से यह अधिकाधिक

---

1. The feeling of surprise, admiration and awe which is excited by something new unusual strange, great, extra-ordinary or not well understood.

   Webster's New Twentieth Century Dic. II Ed., Page 2103.

2. Ibid, Page 2103.

उन्मुक्त स्वरूप ग्रहण करती है ।[1] विलियम मैग्डूगल तथा डा० भगवानदास आदि ने प्रशंसा की व्याख्या से ही विस्मय तक पहुंचने का प्रयास किया है । मैग्डूगल का मत है कि "प्रशंसनीय की भावना से दो मूल संवेग निश्चित रूप से परस्पर गुथे हुए उभरते हैं - एक विस्मय तथा दूसरा अहं का निषेध अथवा परवश आत्मार्पण । विस्मय का प्रादुर्भाव श्रद्धेय वस्तु की निरन्तर भावना तथा सामीप्य की प्रवृत्ति से होता है क्योंकि जैसा कि हमने देखा है यह कौतूहल जैसी वृत्ति का भी गुण है और आश्चर्यपूरित श्रद्धा की सान्द्रता में विस्मय स्पष्ट रूप से मुख मंडल पर झलकने लगता है ।"[2]

स्पष्ट है कि मैग्डूगल ने विस्मय का सम्बन्ध औत्सुक्य से जोड़ा है क्योंकि उसके विचार में औत्सुक्य मूल प्रवृत्ति है । उसका विचार है कि - इस संवेग का मूल उत्तेजक उस पदार्थ को होना चाहिए जो अभ्यासतः निरन्तर देखे जाते हुए परिचित पदार्थ से साम्य रखता हुआ भी प्रत्यक्षीकरण में भिन्न प्रतीत हो । अतएव औत्सुक्य एवं भय के उत्तेजकों का सामान्य शब्दों में भेद करना सरल नहीं है, क्योंकि भय का अत्यन्त सामान्य रूप से यह उत्तेजक होता है जो अजनबी अथवा

---

1. The emotion excited by the perception of something novel and unexpected or inexplicable, astonishment mingled with perplexity or bewildered curiousity. Also the state of mind in which his emotion exists; an instance of this a fit of wonderment. The faculty of wonder is not defunct but is only getting more and more emancipated from the unnatural service of terror.

2. There seem to be two primary emotions essentially involved in the complex state provoked by the contemplation of the admired object namely wonder and negative self feeling or the emotion of submission. Wonder is revealed by the impluse to approach and to continue to contemplate the admired object; for as we saw this is the characteristic impluse of the instinct of curiousity and wonder is clearly expressed on the face in intense admiration.

William Mcdougall,
-An Outline of Psychology, Page 332-333.

अपरिचित हो । बेद केवल स्तर का प्रतीत होता है । सामान्य कोटि के अजनबी एवं अस्वाभाविक से औत्सुक्य उत्तेजित होता है जबकि विशिष्ट एवं सशक्त कोटि से भय ।[1]

इस प्रकार मैग्डूगल के मत से अजनबी असामान्य अथवा अपरिचित औत्सुक्य को जन्म देता है, जिसका अनुभव विस्मय के रूप में किया जाता है ।

डा० भगवानदास ने प्रशंसा जैसे एक मिश्रित संवेग की चर्चा करते हुए बताया है कि – "विस्मय प्रशंसा से स्पष्टतः भिन्न है यद्यपि उसमें प्रशंसा से बहुत कुछ समानता भी है । आलंबन की श्रेष्ठता के प्रति सजगता के साथ आकर्षण, सामीप्य की इच्छा किन्तु वैसा कर सकने में – अपनी क्षमता के प्रति अनिश्चय का भाव और सबका सग आलंबन की अप्रत्याशितता से घिरा हुआ जो सामान्य अनुभव के क्रम में ही कुछ विलक्षण होकर उभरता है । यह विलक्षणता ही वस्तुतः समीप होने की क्षमता के प्रति अनिश्चय की जननी है ।"

"यह संवेग एक ओर प्रशंसा के निकट है तो दूसरी ओर संभ्रम एवं संशय के, तथापि इन दोनों में सूक्ष्म अन्तर है ।"

"गहनता गूढ़ता (दुर्बोधता की सीमा तक) एवं कौतूहल के संवेग विस्मय के संवेग से पर्याप्त साम्य रखते हैं । (तथापि) उनको अभिव्यक्ति देने के लिए समुचित नाम नहीं है, क्योंकि अद्भुत वस्तु से उत्पन्न संवेग की परिचायक

---

1. The native excitant of the instinct would seem to be any object similar to yet perceptibly different from familiar objects habitually noticed. It is, therefore, not easy to distinguish, in general terms, between the excitants of curiousity and those of fear; for one of the most general excitants of fear is whatever is strange or unfamiliar. The difference seems to be mainly one of degree, a smaller element of the strange or unusual exciting curiousity while a large and more pronounced degree of it excites fear.

William Medougall, Introduction to Social Psychology, Page 57-58.

विस्मय है । संवेग के आलंबन का विशिष्ट एवं रचनात्मक स्वरूप और उसका न्यूनाधिक वैलक्षण्य और महत्त्व इन दोनों का भेद प्रतिपादित करता है ।"[1]

इसी प्रकार "आश्चर्य और चमत्कार विस्मय रूप संवेग के रूपान्तर हैं । कभी-कभी तो ये शब्द पराजय या वितृष्णा के समानान्तर मनोभाव को व्यक्त करने के लिए प्रयुक्त होते हैं और कभी सादृश्य और सौकर्य के लिए ।"[2]

इस प्रकार डा० दास ने प्रशंसा आदि से भेद प्रतिपादित करके विस्मय का स्वरूप स्थिर किया है । इस संदर्भ में मैग्डूगल की भी यही धारणा है। उसका कथन है कि "हम प्रशंसनीय के परीक्षण-निरीक्षण के लिए तत्काल आतुर नहीं होते जैसा कि औत्सुक्य और विस्मय में होता है ।"[3]

---

1. Wonder is distinct from admiration: yet it has something in common with it too. It is consciousness of the superiority of the objects plus attraction, the desire to approach, plus uncertainty of one's own ability to do so, the whole being overshadowed by the unexpectedness of the object, it being something out of the ordinary course of experience. It is this extra-ordinariness, indeed, which is the immediate cause of the uncertainty as to ability to approach xxxx The emotion stands close to admiration on the one hand and awe and diffidence on the other, yet there is subtle distinction between them.

   The mystical, the mysterious, the curious, the emotion of these are allied to the emotion of the wonderful. These do not seem to be exact names expressing those emotions as wonder describes the emotion produced by wonderful. The special constitutional characters of the objects of the emotions and their greater or less extraordinariness and the importance make the difference between them.

   The Science of the Emotions: Dr. Bhagwan Dass, Page 94-95.

2. Surprise Astonishment &c. are modifications of the emotion of wonder. The words are sometimes used to express corresponding moods on the side of repulsion also by anology and convenience. Ibid, Page 96.

3. But admiration is more than wonder, we do not simply

उस क्षण में तो हम प्रशंसनीय की महिमा से अभिभूत होने के कारण विभोर हो जाते है । "यदि किसी वस्तु से, जिसका हम साक्षात्कार कर रहे है, किसी व्यक्ति-शक्ति का संकेत नहीं मिलता तो अनुभव मात्र विस्मय है या कम से कम प्रशंसा नहीं है ।"[1]

अलेक्जेण्डर बेन ने विस्मय का विवेचन नूतनता के संदर्भ में किया है उसका विचार है कि -"विस्मय भी उसी प्रकार सम्बद्धता के सिद्धान्त से अपने महत्त्वपूर्ण तत्त्वों को ग्रहण करता है तथापि यह सामान्य नूतनता अथवा परिवर्तन से कुछ अधिक है । विस्मयजनक अपने स्वरूप से हटे होने के कारण हमें चमत्कृत करता है । यह स्वरूप परिवर्तन हमारे संस्कार से (बहुत) ऊपर उठा हुआ या (बहुत) नीचे गिरा हुआ होता है ।" "विस्मय की अन्योन्याश्रित स्थिति तो वस्तु का सामान्य, परंपरागत, साधारण एवं मध्यम स्तर होती है । हाँ, दोनों (निम्नोत्तर) का विरोध या संघर्ष एक आघात देता है , जो आश्चर्यजनक है। इस प्रकार विस्मय जहाँ विरोध तथा सम्बद्धता का संवेग है, वहीं साथ-साथ यह संघर्ष का भी संवेग है जिसकी आकस्मिकता उद्दीपन को अधिक सजीव बना देती है ।"[2]

---

proceed to examine the admired object as we should one that provokes merely our curiousity or wonder.

An Outline of Psychology, Page 333.

1. If this sense of a personal power is not suggested by any object that we contemplate, the emotion, we experience is merely wonder.

Ibid., Page 333.

2. The emotion of wonder likewise derives its essential character from relativity. It is, however, something more than mere novelty or change. The wonderful is whatever startles us by deviating from its kind, something that rises above or falls beneath, what we have been accustomed to. xxx The correlative state to wonder is the common, customary, ordinary or average standard of the class. The opposition or conflict of the two leads to a shock of surprise. xxx Thus, while wonder is an emotion of contrast or relativity, it is besides an emotion of conflict, the suddenness of which

बेन की धारणा है कि विस्मय दुःखद और सुखद दोनों प्रकार का होता है क्योंकि "सामान्यतः संघर्ष दुःखद होता हैऔर बहुत से दृष्टान्तों में विस्मय चमत्कार और आश्चर्य दुःखद निराशा के पर्याय हैं ।[1] सुखद विस्मय पर विचार करते हुए उन्होंने कहा है कि – "प्रशंसनीय में कलात्मक सौंदर्य बोध जन्य विस्मयजनकता है ।[2] "जब कभी दो वस्तुओं में जिन्हें कभी एक सा नहीं समझा गया हमें पहली बार समानता दिखाई जाती है या हम ढूंढ निकालते हैं तब हम आनन्ददायक विस्मय से उद्रिक्त हो जाते हैं और आकृष्ट तथा चमत्कृत होते हैं ।"[3] हम जानते हैं कि वैज्ञानिक आविष्कार आदि में विस्मय का आघात आनन्द के साथ मिला रहता है । "अनेकता में एकता, बहुरूपता में समरूपता और उलझन एवं व्यस्तता में सुलझाव का सुखद होना" सर्वानुभूत तथ्य है । रहस्य का अनावरण तथा जो पूर्णतया ज्ञान की सीमा से परे समझा जाता है उसका सफल बोध इसी प्रकार हमें हर्षोन्माद की सीमा तक आनन्दित कर सकता है।"[4]

---

makes the stimulation more lively.

The Emotion and Will - Bain, Chapter IV, Novelty, Page 46.

1. As a general rule conflict brings pain and in many instances wonder, astonishment and surprise are names for painful disappointment. Ibid., page 46.

2. The admirable is the æsthetic wonderful. Ibid, Page 46.

3. When we suddenly discover or have been pointed out to us for the first time a likeness between two objects lying wide apart and never considered as of the same class, we are arrested, startled and excited into a pleasing wonderment. Ibid, Ch. XI, Page 163.

4. We may lawfully derive all the enjoyment that accrues from the tracing of similarity in apparent diversity, of unity in variety, of simplicity in complexicity, of order in confusion. xxxxx The clearing up mystries and the successful comprehansion of what seemed utterly beyond the ken of our faculties, may like wise delight the spirit even to ecstasy.

Chamber's paper for the people No.92 what is philosophy quoted by Bain on Page 165.

वेन ने ही अन्यत्र विस्मय-तत्त्व का ऐसा विश्लेषण किया है, जो हमारे संस्कृत आचार्यों से पर्याप्त साम्य रखता है । वह भी चित्त-विस्तार की बात करता हुआ कहता है –"विस्मय नूतन एवं स्पष्टक्षमतायुक्त आश्चर्य को धारण करता है, एक ऐसी क्षमता, जो ऐसी वस्तु की भावना कर सकती है, जो सामान्य अनुभव से बहुत ऊपर उठा हुआ होता है और श्रेष्ठता की भावना के साथ हमें उन्मत्त करता है ।[1] यहाँ श्रेष्ठता की भावना के साथ उन्मत्त करना स्पष्टतः चित्त-विस्तार ही है ।

जिस प्रकार संस्कृत आलंकारिकों ने विस्मय को चित्त-विस्तारात्मा कहा है, क्योंकि वह एक आनन्दपूर्ण उत्साह को जन्म देता है और मस्तिष्क को अपूर्व सक्रियता से भर देता है, वैसे ही 'सली' ने भी विस्मय की प्रक्रिया का सुंदर वर्णन किया है । वह कहता है कि सर्वप्रथम 'एक मानसिक आघात अथवा क्षोभ, उसका कारण है किसी वस्तु की अकस्मात् उपस्थिति, जिसके लिए अवधान प्रस्तुत नहीं है ।" अनन्तर संभवतः आत्म रक्षात्मक प्रतिक्रिया अटल अवधान के रूप में प्रकट होती है । यह तल्लीनता अनुकूल अनुभूतियों का उत्स है । पहले तीव्र क्रियाशीलता का फिर संतोष की सांस, आत्म-स्वीकरण(व्यवस्थापन) और बौद्धिक आधिपत्य का ------ क्योंकि किसी नूतन एवं असामान्य की अनुभूति अपने आप में आनन्द दायिनी है और अनुकूल परिस्थितियों में तो हम विस्मय को एक स्पष्ट आनन्दप्रद उन्नयन (चित्त-विस्तार) के रूप में अपना विस्तार करते हुए पाते हैं, जिसके साथ एक सशक्त एवं चिरस्थायिनी अवधान की

---

1. Wonder contains surprise, attended with a new and distinct effect, the effect of contemplating something that rises far above common experience which elevates us with the feeling of superiority.

   – The Emotion and Will, Page 86.

प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई है ।[1] सली ने जिस स्पष्टता के साथ विस्मय के उदय से लेकर चमत्कार में पर्यवसान तक की विस्तृत प्रक्रिया का वर्णन किया है, वह साहित्यशास्त्र से वितरण रूप से साम्य रखता है । उसने अन्यत्र लिखा है — "मात्र आकस्मिकता के बदले यदि समक्ष में आलंबन अजनबी और अपरिचित है उस समय आश्चर्य की भावना एक दीर्घकालीन विस्मय भावना अथवा चमत्कार की दशा में परिणत हो जाती है ।"[2]

इस प्रकार मनोविज्ञान में परिभाषित विस्मय-तत्त्व का निम्नांकित रूप से निर्वचन किया जा सकता है ।

विस्मय के विभाव :

1. (क) अस्वाभाविक, अपरिचित, महान, अद्भुत, असामान्य, अति प्राकृतिक, अतिमानवीय, तथा रहस्यपूर्ण हों ।
   (ख) उनकी उपस्थिति आकस्मिक तथा नूतन रूप में हो ।

---

1. A mental shock or disturbance is due to a sudden presentation of something for which attention is not prepared. xxxx This intensified attention is the source of agreeable feelings first of heightened activity then of relief, self adjustment and of intellectual mastery xxx.

   The realization of something new and xxx extraordinary isin itself exhilarating and under favourable circumstances we find wonder manifesting itself as distinctly pleasurable elation involving an energetic and prolonged reaction of attention.

   - Outlines of Psychology - Sully, Page 362 quoted by J.N. Sinha, Indian Psychology, Page 203.

2. If instead of being merely unexpected at the moment the object is strange and unfamiliar the feeling of surprise passes into the more prolonged state of wonder or astonishment.

   - Outlines of Psychology - Sully, Page 362.

2. औत्सुक्य, आश्चर्य, श्रद्धा, चमत्कार, कौतूहल, भय, आतंक इससे मिलते-जुलते संवेग हैं अथवा इसी संवेग की विभिन्न अवस्थाओं के विभिन्न रूप हैं ।
3. यह संवेग सुखद भी है और दुखद भी । कलात्मक सौंदर्यबोध में यह सदैव सुखद है ।

इस प्रकार साहित्य, दर्शन, मनोविज्ञान आदि को उपजीव्य बनाकर विस्मय का जो अनुशीलन किया गया है, उसे संक्षेप में निम्नलिखित सारणी द्वारा प्रस्तुत किया जा सकता है :—

विवेचन की आधारभूमि	मनोवैज्ञानिक निर्वचन	काव्यशास्त्रीय निर्वचन
1. मुखमंडल पर स्मिति का उदय अथवा तिरोभाव	दैहिक प्रतिक्रियामूलक (बाह्य अभिव्यक्ति)	अनुभावमूलक
2. संदेह का चमत्कार में पर्यवसान	एक दैहिक क्रिया का दूसरी दैहिक क्रिया में संक्रमण	संचारीभावमूलक
3. विचित्रता के कारण अहं का विगलित हो जाना	उत्तेजक का व्यक्तित्व पर प्रभाव (मानसिक प्रतिक्रियामूलक)	उद्दीपनमूलक
4. चित्त विस्तार, विकास एवं वैचित्र्य का उत्कर्ष में पर्यवसान	ज्ञानेन्द्रिय प्रभावजन्य मानस अभिव्यक्तिमूलक	रसोद्रेकमूलक
5. चित्त चमत्कार (लौकिक-अलौकिक)	उत्तेजक की ज्ञानेन्द्रिय पर प्रतिक्रिया	विभावमूलक (आलम्बनात्मक)
6. कुतूहल	नैसर्गिक उद्वेरकपर बल	अयत्नज अलंकारमूलक
7. आश्चर्यबुद्धि	चिंतन पर बल	भावयोगावेशमूलक (बौद्धिक)
8. लोकोत्तरदायी कर्म से निष्पन्न होनेवाला आनन्दज भाव	अनुभूतिमूलक	रसानुभूतिमूलक

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर 'विस्मय' की परिभाषा का स्वरूप इस प्रकार बन सकता है — पदार्थों की अलौकिकता, असीमता, अपूर्वता, अभिनवता, उत्कृष्टता, वैचित्र्य, उदात्तता, रहस्य आदि से अनुप्रेरित मानस में चमत्कार रूप जिस संवेग का उदय होता* उसे विस्मय कहते हैं जिसके आकलन के लिए चित्त-विस्तार आवश्यक एवं अनिवार्य है । यह विस्मय हर्ष को जन्म देने वाला है[1] तथा स्वभावतः 'कर्मातिशयित्व'[2] अथवा 'उत्कृष्टत्वावसायित्व'[3] से प्रेरित होने के कारण मस्तिष्क को अपूर्व सक्रियता प्रदान करने में समर्थ है ।

विस्मय के पर्यायवाची शब्द : एक सर्वेक्षण :

विस्मय-तत्त्व के तारतम्य, मात्राभेद, प्रभाव आदि के संसूचक अन्य अनेक शब्दों के साहित्य में यथावसर प्रयोग दृष्टिगत होते हैं जिनसे न केवल विस्मय तत्व के सूक्ष्म उतार-चढ़ाव की झांकी देखने को मिलती है अपितु उनके द्वारा उसके किसी न किसी पक्ष का सूक्ष्म अभिव्यंजन एवं निर्वचन भी होता है । अतः विस्मय-तत्त्व के समग्र आस्वाद के लिए विस्मय के तथाकथित पर्यायवाची शब्दों के स्वरूप और व्याप्ति का आकलन अत्यन्त आवश्यक एवं उपयोगी है । संस्कृत एवं हिन्दी में इस अर्थ में चमत्कार, अद्भुत, आश्चर्य, कुतूहल, कौतुक, औत्सुक्य आदि शब्दों का यथावसर प्रयोग उपलब्ध होता है जिनका क्रम प्राप्त विवेचन प्रस्तुत है ।

चमत्कार :

चमत्कार इस कड़ी का सबसे महत्वपूर्ण शब्द है, इसे निःसंकोच विस्मय के विकल्प के रूप में स्वीकार किया जा सकता है । साहित्यशास्त्रीय संदर्भ में

---

1. 'हर्ष संभवः' — ना०शा०, 7/27, पृ० 335.
2. नाट्यदर्पण, पृ० 176.
3. नाट्यशास्त्र, 7/27, पृ० 335.

तो यह अतिशय चर्चित शब्द है किन्तु इतना होते हुए भी बोध प्रबन्ध में विस्मय को ही प्राधान्य दिया गया है क्योंकि चमत्कार अधिक प्रयोग के कारण इतने संदर्भों से जुड़ गया है कि इसके प्रयोग में अतिव्याप्ति एवं अस्पष्टता का भय है । चमत्कार यदि एक ओर रस के आस्वाद की प्रक्रिया से जुड़ा हुआ है तो दूसरी ओर और बौद्धिक व्यायाम तथा शब्दों के इन्द्रजाल को भी अपने अंचल में समेट लेता है, साथ ही साहित्य से भिन्न क्षेत्रों में भी चित्त को चकित कर देने वाले समस्त वस्तु व्यापार इसकी परिधि में आ जाते हैं । अतएव 'चमत्कार' की अर्थविकृति से खिन्न होकर डा० नगेन्द्र को लिखना पड़ा कि " आगे चलकर भारतीय साहित्य में तथा पाश्चात्य साहित्य में भी 'चमत्कार' 'लोकोत्तर' आदि शब्दों का रूढ़ अर्थ में आश्चर्यजनक तत्वों के लिए प्रयोग होने लगा और इन शब्दों की अर्थविकृति के साथ ही काव्यमूल्यों में भी विकृति आने लगी, चमत्कार कुतूहल का पर्याय होकर रसवादी काव्यमर्मज्ञों के लिए क्षोभ का कारण बन गया ।"[1]

डा० सत्यदेव चौधरी ने एक स्थान पर लिखा है कि —"समुचित यह रहेगा कि इस अद्भुत तत्व को न तो रामचन्द्र-गुणचन्द्र के समान अद्भुत नाम देना चाहिए और न विश्वनाथ के समान इसे विस्मय का अपर पर्याय मानना चाहिए क्योंकि इनसे क्रमशः अद्भुत रस और विस्मय नामक स्थायीभाव का भ्रम होता है । स्पष्टता के लिए इसे धर्मदत्त के समान चमत्कार नाम ही देना चाहिए ।"[2]

---

1. रस सिद्धान्त : डा० नगेन्द्र, पृ० 264.
2. अद्भुत रस की स्थिति : अद्भुत तत्व की प्रबलता : काव्य शास्त्रीय निबन्ध : डा० सत्यदेव चौधरी, पृ० 147.

कहना न होगा कि डा० चौधरी के मत से सहमत होते हुए भी हम उपर्युक्त कारणों से विस्मय-तत्व कहना अधिक उचित समझते हैं। एक बात और है कि मनोविज्ञान के संदर्भ में भी विस्मय ही अधिक संगत होगा । हाँ, चमत्कार संप्रदाय की चर्चा हम आगे करेंगे । अस्तु 'चमत्कार' शब्द में 'चमत्' आश्चर्यबोधक अव्यय है तथा 'कार' शब्द 'कृञ्' धातु से भाव अर्थ में 'घञ्' प्रत्यय द्वारा निष्पन्न हुआ है । इसका विग्रह वाक्य 'चमत्करणं चमत्कारः चमत्कृतिर्वा' ऐसा करना होगा । शब्द-कल्पद्रुम के अनुसार यह भी विस्मय की भाँति चित्त विस्तार रूप[1] है । अतः निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि जिस पदार्थ एवं व्यापारादि से चित्त विलक्षण चमक (आश्चर्य) से प्रकाशित हो उठे उसे चमत्कार कहते हैं । श्री परशुराम चतुर्वेदी ने[2] अपनी व्याख्या द्वारा इसे 'आश्चर्य का कार्य' तथा समझ के बाहर की बात माना है। चूंकि चतुर्वेदी जी का उद्देश्य साहित्येतर चमत्कार की चर्चा करना था अतः उन्होंने इसका सम्बन्ध 'मिस्टिसिज्म' से जोड़ा है ।[3] अग्निपुराण में चमत्कार को ईश्वर चैतन्य का पर्याय स्वीकार करते हुए कहा गया है कि —" वेदांत में ईश्वर को

---

1. चमत्कार शब्द कल्पद्रुम, भाग 2, पृ० 433.
2. ""चमत्कार के प्रथम अंश 'चमत्' को यदि (किसी अपूर्व चमक के अर्थ में) आश्चर्य का बोधक मान लिया जाय तथा इसी प्रकार इसके द्वितीय अंश 'कार' को भी (नमस्कार, बहिष्कार आदि वाले 'कार' की भाँति) कार्य शब्द का एक पर्याय स्वीकार कर लिया जाय तो उस पूरे का अर्थ या आशय कुछ इस प्रकार विलक्षण होता जान पड़ेगा जो हमारी समझ के बाहर की बात होगी । ""

— चमत्कार तत्व और उसका स्वरूप । विश्वभारती पत्रिका वर्ष 1971 अंक 3 पृ० 6-7.

3. देखिये, वही, पृ० 6-7.

अक्षर, परम, ब्रह्म, सनातन, अनन्या, विभु, एक, चैतन्य एवं ज्योति कहते हैं, उसका सहज आनन्द जब कभी व्यक्त होता है तो उसकी व्यक्ति को चैतन्य, चमत्कार अथवा रस कहते हैं ।[1]

प्रत्यभिज्ञा शैव दर्शन में शिव की इच्छाशक्ति के परिणामी स्वरूप के रूप में चमत्कार को स्वीकार किया है । योगवाशिष्ठ में 'चित्त-चमत्कार' की चर्चा आती है जिसे प्रो० सुरेन्द्रनाथदास गुप्त ने 'सेल्फ फ्रूटीफाइंग थाट' माना है ।[2] इस प्रकार यदि वेदान्त उसे आनन्द से जोड़ता है तो योग आत्मज्ञान से । इन्हीं विचारों से प्रभावित होकर चमत्कार को चैतन्य से जोड़ने का अभिनव गुप्त ने भी प्रयास किया है —"चमत्कार का सर्वथा अभाव ही जड़ता है । चेतना को क्षुब्ध कर देने वाले चमत्कार के आवेश का आधिक्य ही सहृदयता कहा जाता है । अतः जिसका हृदय इस प्रकार भोग और आसक्ति के अभ्यास-निविष्ट चेतना के चैतन्य अंश से संवलित है, उसीको अंतिमय चमत्कार का स्वाद प्राप्त होता है ।"[3]

मनोविज्ञान इस चमत्कार को वण्डर (wonder) की अनुभूति के रूप में स्वीकार करता है और इसके लिए 'वण्डरमेंट', 'रैप्टाविजमेंट', 'मार्वलस', मिरेकुल आदि शब्दों का प्रयोग करता है । साहित्यशास्त्र में चमत्कार की व्याख्या

---

1. "अक्षरं परमं ब्रह्म सनातनमजं विभुम् । वेदान्तेषु यदप्यैकं चैतन्यं ज्योतिरक्षरम् । आनन्दस्यैकतानस्य व्यज्यते सकलाचल । व्यक्तिः सा तस्य चैतन्य चमत्कार इहोच्यते ।" — अग्निपुराण, 339/1-2.
2. हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलासफी, जिल्द 2, पृ० 236.
3. "सर्वतोऽयचमत्कारे नहि तैव अधिक चमत्कारावेश एव चीर्यशोभाया सहृदयता उच्यते । यस्यैव एतद् भोगासंगाभ्यासनिवेशितानन्त ब्रह्मचर्यग्राह्यतं हृदयं तस्यैवसातिशय चर्वणिव्या रसोदेनोत्ती । एसे० एसा० अभि०, पृ० 73.

अनेक रूपों में मिलती है । भामह से लेकर दण्डी, वामन एवं रुद्रट आदि तक सभी ने उक्ति पर बल दिया और काव्य का सम्बन्ध अलंकृति एवं तज्जन्य चमत्कार से जोड़ा । उन्होंने काव्य में चमत्कार तथा नाटक में रस की प्रतिष्ठा स्वीकार की किन्तु परवर्ती काल में अभिनव गुप्त ने जब काव्य एवं नाटक दोनों में समान रूप से रस की प्रतिष्ठा की तो चमत्कार 'अविघ्नासंवित्' अथवा 'रसन व्यापारजन्य आस्वाद प्रधानाबुद्धि' हो गया । अभिनव गुप्त ने अपनी अर्थसिद्धि के लिए चमत्कार शब्द की निम्नलिखित व्याख्या की है :—

"चमत्कार सर्वनिष्ठ आत्मविश्रान्ति की स्थिति है । यह 'चमत्त्व' भोग अथवा आस्वादजन्य आनन्द रूप है, उसी को करता है, प्रसंग में उसीका विमर्श करता है अन्यत्र नहीं दौड़ता (तन्मय हो जाता है), इसीको चमत्कार कहते हैं । 'चमत्' क्रियाविशेषण (अव्यय) भी है । अथवा यह एक अखंड (अव्युत्पन्न प्रातिपदिक) शब्द है, जिसका अर्थ है निर्विघ्न आस्वाद की वृत्ति। ~~बुद्धि~~ + अथवा 'चमत्' अन्तःस्पन्दन (स्फुरणा) जन्य आन्दोलन से उत्पन्न विमर्श स्वरूप अशब्द (अनिर्वाच्य) स्थिति का अव्यक्तानुकरणात्मक शब्द है । अतः काव्यनाट्य से उत्पन्न होने वाले रसादि में भी (तद्भाव) भावितचित्त-वृत्ति में उत्पन्न निर्बन्ध एवं निर्विघ्न रसास्वाद जो रसन व्यापार रूप है, चमत्कार है — ऐसा अन्यत्र कहा गया है ।[1] अभिनवगुप्त की इस व्याख्या को इस प्रकार सूत्रित किया जा सकता है :—

---

1. "चमत्कारोहि स्वात्मन्यनन्यापेक्षे विश्रमणम् । एवं भुंजानतारूपं चमत्त्वम् तदेव करोति संरम्भे विमृशतिनान्यत्रानुधावति । चमद् इति क्रिया विशेषणम्, अखण्ड एव वा शब्दोनिर्विघ्नास्वादनवृत्तिः चमदिति वा अन्तस्स्पन्दान्दोलनोदितपरामर्शमयाशब्देनाव्यक्तानुकरणम् काव्यनाट्यरसादावपि भावित चित्तवृत्त्यन्तरोदयानियमात्मक विघ्नविरहित एवास्वादो रसनात्माचमत्कारः इत्युक्तमन्यत्र ।

चमत्कार — (1) स्वनिष्ठ आत्म विश्रान्ति
(2) भोग अथवा आस्वादजन्य आनन्द
(3) ('चमत्') आश्चर्यबोधक क्रियाविशेषण
(4) निर्विघ्न आस्वाद की बुद्धि
(5) अन्तः स्पन्दनजन्य अनिर्वाच्य स्थिति का बोधक
(6) रसन व्यापार आस्वाद ।

यद्यपि अभिनवगुप्त ने यथावसर इन सभी अर्थों में चमत्कार का प्रयोग किया है किन्तु मूलतः उन्होंने निर्विघ्न रसनात्मक प्रतीति (भोग) के क्षणों के अनिवार्य आनन्द को ही चमत्कार कहा है । इस रसास्वाद के असंलक्ष्य क्रम प्रत्यय का वर्णन करते हुए आनन्दवर्द्धन ने कहा है कि —

तदयत्न सचेतसां सोऽर्थो वाक्यार्थ विमुखात्मनाम्,
युद्धौतत्वार्थदर्शिन्यां झटित्येवाव भासते ।।

इसका विवेचन करते हुए गणेश त्र्यंबक देशपांडे लिखते हैं — "रसिक को होने वाला यह झटिति प्रत्यय उतना ही सजीव होता है, जितना कि स्वयं रसिक, यह प्रत्यय इतना सजीव होता है कि इससे रसिक का शरीर रोमांचित हो जायेगा उसकी आंखों से अश्रु बहने लगेंगे एवं उसका कंठ भी गद्गद होगा । अभिनव-गुप्त कहते हैं कि यह चमत्कार है तथा रोमांच आदि का उद्भव भी चमत्कार ही है । यह चमत्कार ही चैतन्य आनन्द तथा समाधान है । चमत्कार, निर्वृत्ति, आनन्द पर्याय शब्द हैं (आनन्दोनिर्वृत्यास्वाद्यचमत्कारापरपर्यायः — लोचन)।[1]

रेनीरेनोलीः द एस्थेटिक एक्सपीरिएन्स एकार्डिंग टु अभिनवगुप्त, पृ० 72.
इसे आनन्दवर्द्धन ने भी कहा है —चमत्कृतिरिति आस्वादप्रधाना बुद्धिपरिस्थर्थः ।
—ध्वन्यालोक, 4/15.

1. भारतीय साहित्यशास्त्र, पृ० 326.

भट्टतौत ने जब नाट्य को अनुकरण के स्थान पर अनुव्यवसाय माना तब रसन, आस्वादन, चमत्कार, चर्वणा, भोग आदि अनुव्यवसाय के पर्याय के रूप में स्वीकार किये गये । भट्टनायक ने भी भोग को ही चमत्कार माना ।"[1] भट्टलोल्लट आदि ने भी काव्य के कलात्मक – वक्रोक्तिमूलक चमत्कार को महत्व दिया था किन्तु अभिनवगुप्त ने दर्शनानुप्राणित अद्वैतपरक अर्थ स्वीकार करके लिखा — "सा चाविघ्नासंविच्चमत्कारः" । वस्तुतः इस अविघ्न संवित् में होने वाला प्रत्यय और तदनुवर्ती अद्भुत भोगावेश दोनों ही चमत्कार हैं । नोली ने चमत्कार का सौंदर्य बोध के अर्थ में प्रयोग किया है – "चमत्कार शब्द का अर्थ है सौन्दर्यबोध, रस के आस्वाद की स्थिति । (अतः) चमत्कार स्वाद का सौन्दर्यबोध है ।[2] रस-लोकोत्तर चमत्कार प्राण है और जो चमत्कारी है वह विस्मयजनक भी है और सुन्दर भी । आनन्दवर्द्धन का कथन है – "जहां जो कुछ सुन्दर है, वह कुछ विलक्षण स्फुरणा से युक्त है । इस प्रकार की बुद्धि लोक के अन्तस् में उत्पन्न होती है । यहां 'स्फुरणा' यह कोई विलक्षण-तत्त्व है, जिससे सहृदय चमत्कार प्राप्त करता है ।"[3] इस पर डा० निर्मला जैन का कथन है – "विषय पक्ष में जो सौन्दर्य है विषयिपक्ष में वही चमत्कार है । सौन्दर्य वस्तु धर्म है और चमत्कृति आस्वाद रूप, अतः चेतना का धर्म है"।[4]

---

1. भारतीय साहित्यशास्त्र, पृ० 301.

2. The term Ćamatkara means aesthetic experience the state of frvition of the Rasa. Ćamatkara is aesthetic experience of tasting. नोली पृ० ७२

3. "यदपितदपिरम्यं यत्रलोकस्य किंचित् स्फुरितमिदमितीयं बुद्धिरभ्युज्जिहीते ।
स्फुरणेयं काचिदिति सहृदयानां चमत्कृति रुत्पद्यते ।।"
— ध्वन्यालोक, 4/15.

4. रस सिद्धान्त और सौन्दर्यशास्त्र, पृ० 68.

वस्तुतः यह चमत्कार एक तो आस्वाद रूप होता है, दूसरे विस्मय रूप ।[1] श्री रमेश कुन्तल मेघ का विचार है कि "चमत्कार प्राकृतिक कानून (नैचुरल ला) की वैज्ञानिक अथवा दार्शनिक धारणा न होकर एक धार्मिक अन्तः श्रेणी (कैटेगरी) है । चमत्कार (दशा) में तन्मयता और चिन्मयता की प्रधानता होती है अर्थात् यह तर्क के बजाय उन्मेष या उद्घाटन का रहस्यवादी तर्कशास्त्र है अतः यह अलौकिक है क्योंकि प्राकृतिक नियम स्थगित हो जाता है । ××× चमत्कार में अति प्राकृतिक तत्व भी शामिल है ।"[2] अतः उनका निष्कर्ष है कि "जब परिस्थितियों का विकसन प्राकृतिक एवं लौकिक रीति से न होकर किसी अन्य ढंग से होता है, तब चमत्कार दशा का उदय होता है"[3]। उन्होंने चमत्कार दशा के निम्नलिखित तत्व बताये हैं ।

(1) यथार्थता प्राकृतिक क्रमापन का अंग न होकर भी उससे पृथक् नहीं है, उससे ऊपर भी है ।

(2) चमत्कार-भाव एवं उन्मेष-भाव का साहचर्य होने से अति-प्राकृतिक तत्व (परमशिव) के इच्छाशक्ति रूप का समावेश होता है, जिससे चमत्कार के सौंदर्य तात्त्विक एवं धार्मिक अर्थ उद्बुद्ध होते हैं ।

(3) चमत्कार-भाव का उन्मेष-भाव से परिपाक होने पर आश्चर्य एवं रोमांच के तत्व भी प्रकट होते हैं ।

(4) इस परिपाक के कारण ही चमत्कार दशा के बौद्धिक प्रमाण देना असंभव है, ऐसे उन्मेष या उद्भाटन में जो ईश्वर द्वारा

---

1. रससिद्धान्त और सौंदर्यशास्त्र, पृ० 70.
2. मध्ययुगीन रसदर्शन और समकालीन सौंदर्यबोध, पृ० 206.
3. वही, पृ० 206.

जीव से आत्मसंवाद की धारणा भी मौजूद है तथा ऐसे चमत्कार में असीम निर्विकल्प के साथ ससीम वैयक्तिकीकरण का करिश्मा भी जुड़ा है।"

स्पष्ट है कि चमत्कार में विस्मय की भांति सहसा उन्मेष, वैचित्र्य की अनुभूति एवं अतिलोकीय भावना होती है ।[1] विश्वनाथ ने तो सीधे चमत्कार और विस्मय की एक वाक्यता कर दी है और उसकी अनुभूति के समकाल में चित्त विस्तार को अनिवार्य ठहराया है ।[2]

पंडितराज जगन्नाथ ने चमत्कार को लोकोत्तर ज्ञान के (कौतूहल) के अतिरिक्त उसे आह्लाद भी बताया ।[3] इस प्रकार 'चमत्कारत्व' एक जाति हुई । उन्होंने उसे 'अनुसंधानात्मा' से जोड़ा क्योंकि संस्कारों द्वारा पुनः पुनः उद्बोधन से चमत्कार की सिद्धि होती है । ज्ञान दो प्रकार के होते हैं — प्रबोधक एवं चमत्कारक । अनुसंधान से प्रबोधक भी चमत्काकारी हो उठता है ।

जहां विश्वनाथ इसे चित्त विस्तार से जोड़ते हैं और अभिनव संविद् विश्रान्ति से वहीं पंडितराज इसे अनुसंधानात्मा स्वीकार करते हैं ।

"वस्तुतः 'चमत्कारत्व' अर्थात् चमत्कार नामक द्रव्य में द्वन्द्वात्मकों का सह अस्तित्व है : भाव और ज्ञान का, अनुभव और संस्कार का, चैतन्य और चित्तवृत्ति का, यथार्थता और लोकोत्तरता का, सुख और आह्लाद का इत्यादि-इत्यादि ।"[4]

---

1. मध्ययुगीन रसदर्शन और समकालीन सौंदर्यबोध, पृ० 207 और 297.
2. "चमत्कारश्चित्तविस्ताररूपो विस्मयापर पर्यायः" — सा०द०
3. "रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम् । रमणीयता च लोकोत्तराह्लादज्ञान-गोचरता । लोकोत्तरत्वं चाह्लादगतश्चमत्कारत्वापरपर्यायोऽनुभवसाक्षिको जाति विशेषः । कारणं चतदवच्छिन्नो पुनः पुनरनुसंधानात्मा ।—रसगंगाधर ।
4. मध्ययुगीन रसदर्शन और समकालीन सौंदर्यबोध, पृ० 363.

अद्भुत :

इस कड़ी का अतिशय महत्वपूर्ण शब्द है अद्भुत । इसकी वैयाकरणिक व्युत्पत्ति कई प्रकार से की गयी है । अमरकोश में क्षीरस्वामी ने लिखा है — 'अत' आश्चर्यार्थिक अव्यय है, अतः आश्चर्य का होना ही अद्भुत है ।[1] हलायुधकोश में 'आकस्मिक सततगतिशील एवं प्रकाशमान को अद्भुत स्वीकार किया गया है ।[2] शौनकाचार्य के बृहद् देवता के एक मंत्र की व्याख्या करते हुए निरुक्तकार यास्क ने लिखा है —"अद्भुत वह है जो कुछ ऐसा है, जैसा अभी हुआ नहीं ।"[3] अतः निरुक्तकार 'जैसा पहले नहीं हुआ उस जैसा' अर्थ स्वीकार करते हैं । यह अर्थ नवीनता, रमणीयता के अधिक निकट है, इस प्रकार अद्भुत में आश्चर्य, आकस्मिकता, गत्वरता, प्रकाशवत्ता, नवीनता, रमणीयता आदि के तत्त्व प्राप्त होते हैं जिससे चेतना में विस्मय का उदय होता है । रसशास्त्र में विस्मय को स्थायीभाव और अद्भुत को रस स्वीकार किया गया है अतः विस्मयावेश ही अद्भुत है अथवा विस्मय की अनुभूति अद्भुत के रूप में होती है । ऋतु धर्म के रूप में जो (अद्भुत) अभूत है,

---

1. "अत आश्चर्यार्थे अव्ययम् । तस्य वचनमद्भुतम्"
   — अमर०क्षीर०नाट्य वर्ग श्लोक 20, पृ० 52.
2. "अततीति अत् (अत सातत्यगमने विवप्) आकस्मिकार्थम् अव्ययम् तथा भातीति भुत् (अविभुवो तुच् औणादिः)"
   — हलायुधकोश, कारिका 92, पृ० 114.
3. "न ह्येनादृयतनं हूयते ऋतद्वेद यद्दभुतम् —ऋतद्वेदयदद्भुतम् इदमपीतरत् अद्भुतमभूयदभूतमिव (अद्भुत पद का अर्थ अभूत से करते हुए इस मंत्र खंड की व्याख्या करते हैं जो (अभी हुआ नहीं है) भविष्य के गर्भ में है, उसको कौन जानता है ।)
   — आचार्य विश्वेश्वर निरुक्त : प्रथमोऽध्यायः : पृ० 60–61.

क्रिया धर्म के रूप में आकस्मिक है वही चेतना धर्म के रूप में अद्भुत अथवा विस्मयावेश रूप है ।

जहाँ तक प्रयोग का प्रश्न है, अभिज्ञान शाकुन्तलम् में अप्रत्याशित घटना के संदर्भ में अद्भुत का प्रयोग मिलता है ।[1]

उपनिषदों में अपूर्व अथवा विलक्षण अर्थ में प्रयोग देखा जाता है ।[2] गीता में अद्भुत का प्रयोग कई अर्थों में आया है ।[3] अध्याय ग्यारह में श्रीकृष्ण के अद्भुत तथा उग्र (विराट) स्वरूप को देखकर प्रव्यथित (भीत अथवा चंचल, अशान्त) होने की बात कही गई है । भाष्योत्कर्ष दीपिका ने प्रव्यथित का अर्थ पीड़ित किया है । रूप के संदर्भ में अद्भुत का प्रयोग अदृष्टपूर्व है । अन्यत्र अदृष्टपूर्व का अर्थ अद्भुत किया गया है । ऐसा अद्भुत लोक में असंभाव्यमान होने के कारण[4] रोमांच आदि विकार भी प्रकट करता है किन्तु यही

---

1. "देव अद्भुतं खलु संवृत्तम्" — शाकुन्तलम् । अंक 5 पुरोहित का कथन, पृ० 180.
2. (क) "सदसस्पतिमद्भुतम् प्रियमिन्द्रस्य काम्यम् । सनिं मेधामयासिषम्"
— नारायणो०, 4, पृ० 137.
(ख) "तमादिमध्यान्तविहीनमेकं विभुं चिदानन्दमरूपमद्भुतम्"
— कैवल्यो०, खण्ड 1, मंत्र 7, पृ० 128.
3. "दृष्ट्वाद्भुतम्रूपमुग्रं तवेदं लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन्।" गीता 11/20
"प्रव्यथितं अत्यन्तभीतं प्रचलितं वा ।
4. "इत्यहं वासुदेवस्यपार्थस्यच महात्मनः संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् । अद्भुतम् चेतसो विस्मयाख्य विकार करं लोकेष्वसंभाव्यमानत्वात् । लोमहर्षणम् शरीरस्य रोमांचाख्य विकार करम्।"
— मधुसूदनी, पृ० 771.

अद्भुत स्मृत होने पर संभ्रम एवं हर्ष का कारण बनता है ।[1] अतः असंभाव्यमानता अद्भुत को जन्म देती है ।[2] अद्भुत का साक्षात्कार यदि उग्र विराट एवं विलक्षण है तो सबसे पहले आत्मरक्षात्मक प्रतिक्रिया होती है और वहाँ चमत्कार के साथ आतंक की अनुभूति होती है और अवधान आकर्षण-विकर्षण के झूले में झूलता रहता है । हम देखने का साहस करते घबराते हैं और देखे बिना रहा भी नहीं जाता । हाँ, यदि साक्षात् कृत वस्तु सुन्दर या कोमल है तो हममें कुतूहल की प्रधानता होती है और हमारा मन उसमें रम जाता है सुन्दर का ध्यान अपेक्षाकृत कहीं अधिक सुंदर होता है किन्तु उग्र एवं विराट का ध्यान या स्मरण भी योग क्षेम चिन्ता विनिर्मुक्त होने के कारण आनन्ददायक अद्भुत की सी अनुभूति प्रदान करता है तथा इसके हर्ष, पुलक, स्वेद, संभ्रम आदि अनुभाव उत्पन्न होते हैं । वस्तुतः हमें विस्मय या अद्भुत का भोग जीवन अथवा साहित्य में शक्ति शील और सौंदर्य के बिन्दु पर होता है । हमारी प्रत्याशा की अपेक्षा प्रत्यक्ष में जितना ही वैषम्य होगा चाहे वह हीन हो अथवा उन्नत हमारा अद्भुतावेश उतना ही गहरा होगा । सामन्य एवं दैनंदिन अनुभूति की सीमा लांघ जाने वाला अनुभव नूतनता की भाँति हमारी प्रशंसा का पात्र बनता है ।[3] और प्रशंसा

---

1. "तच्चसंस्मृत्य संस्मृत्यरूपमत्यद्भुतं हरेः विस्मयोगे महान् राजन् हृष्यामि च पुनः पुनः ।" — गीता, 18/76.
संस्मृत्य— संस्मृत्येति संभ्रमे द्विरुक्तिः । — नीलकण्ठ व्याख्या (चतुर्थरी), मधुसूदनी आदि, पृ० 772.

2. 'असंभावितमर्त्यान्तरिक्षगमनादिजोऽद्भुतः'
A Sans. Eng. Dic. Monier Williams, Page 19.

3. The admirable is the æsthetic wonderful xxxx
The Emotion and Will: Bain, Page 46-47.

तो सौन्दर्य तात्त्विक दृष्टि से विस्मय या अद्भुत ही है । ऐसे स्थलों में हमारा पहला अवधान नूतनता की ओर जाता है और बाद में अन्य चमत्कार-जनक तत्वों पर । दुःखात्मक अद्भुत पीड़ा, अवसाद स्नायविक अशान्ति तथा मूर्छा आदि के रूप में प्रकट होता है, आनन्ददायक अद्भुत उल्लास उदात्तस्वर और सशक्त अनुभूति के रूप में । किसी वस्तु की अतिशय लघुता हममें खीझ और ग्लानि पैदा करती है और हम उसकी हँसी उड़ाकर अथवा निन्दा करके आत्म संतोष करते हैं ।[1]

कुतूहल :

कुतूहल शब्द में 'कुतु' का अर्थ है चमड़े की बनी तेल की कुप्पी । जिस प्रकार तेल कुप्पी के रग रग में प्रवेश कर जाता है, उस प्रकार जो अन्तर में प्रवेश करके उसे उत्सुक बना देता है, उसे कुतूहल कहते हैं ।[2] इसका अर्थ है अपूर्व वस्तु आदि की देखने आदि की अतिशय भावना । इसकी रूप कोटि यदि अद्भुत में प्रविष्ट है तो दूसरी उत्सुकता में । इसमें ब्रीडनीयता का भी योग है ।[3] साहित्य दर्पण ने इसे नायिकालंकार विशेष बताया है इसका अर्थ है कि यह यद्यपि सामान्यतः थोड़ी बहुत मात्रा में सब में पाया जाता है किन्तु कुछ लोगों के स्वभाव का अंग बन जाता है । यह निश्चय ही अपने साथ वैलेपन को समेटे हुए है । उसके अनुसार 'रमणीय वस्तु के देखने के प्रति जो मन की

---

1. वही, पृ० 46-47.
2. (क) कुतुं चर्ममय तैलादि पात्रं हलति विलसतीति तद्वत् अन्तः करणम् उत्कंठापूर्ण करोति इति, हलायुधकोश ।
   (ख) कुतुं चर्ममयतैलपात्रादिवत् अन्तर्हलति सोत्सुकं करोति । हल+अच् । अपूर्व वस्तुदिदृक्षादयातिशयः । — शब्दकल्पद्रुम, पृ० 141.
3. वही, पृ० 141.

चंचलता है, उसे कुतूहल कहते हैं।[1] प्रस्तुत प्रयोगों में कुतूहल प्रायः उत्कण्ठा को ही व्यक्त करता है । वस्तुतः जिज्ञासा का प्रथम स्फुरण ही कुतूहल है । यह कौतुक के अधिक निकट है । यह उस प्रकार की वस्तुओं के प्रति ललक के रूप में प्रकट होता है जो आनन्ददायक हैं। अतः यह विस्मय के सुखात्मक स्वरूप का बोधक है। विषय के प्रति जिज्ञासा, समीपता और आत्मीयता की अभिव्यक्ति कौतूहल के रूप में प्रकट होती है। इसके उदय में एक सुखद बेचैनी का अनुभव होता है, जो औत्सुक्य से पर्याप्त साम्य रखता है । अमरकोश के अनुसार अपूर्व वस्तु की दर्शनेच्छा की अतिशयता से उत्पन्न चेष्टा के विभिन्न रूपों में फल के प्रति निरपेक्षता और केवल कौतुक की इच्छा उसमें होती है ।[2] अतः कुतूहल सुखात्मक संवेग है ।

कौतुक :

'कु' भूमि-आधार-वाचक शब्द है और तुद व्यथा- चंचलता बोधक क्रिया है अतः जो अपने आधार को-आश्रय की मनोभूमि-को अस्थिर कर दे वह कौतुक कहा जायेगा ।[3] अथवा 'कु' को कुत्सित के अर्थ में उपसर्ग मान लें तो विस्तार बोधक 'तन' धातु के साथ समास करने पर जिसके द्वारा बुरे का बोध चंचलता आदि का फैलाव हो जाता है वह कौतुक है ऐसा अर्थ होगा । कौतुक

---

1. "रम्य वस्तु समालोके लोलता स्यात् कुतूहलम्" - सा० द० 3/119.
2. "अपूर्व वस्तुदि दृष्टातिशय जन्ये चेष्टाभेदे फल निरपेक्ष तया चिकीर्षिते कौतुके अमरः ।" - वाचस्पत्यम् ।
3. "कुर्भूमिः तुदयतेऽनेन, कुत्सितं तन्यतेवा कुतुकम् । कुतुकस्य भावः इति युवादित्वादण् । प्रज्ञादित्वात् स्वार्थे वा अण् ।"
   - अमर० क्षीर० नाद्य० 17, पृ० 55.

भी कुतूहल की भाँति औत्सुक्य की भावना से अनुविद्ध है । यह मनोरंजन के अधिक निकट है । जहाँ खेल तमाशा या मनोरंजन हो, कम से कम जहाँ भय या आतंक की भावना का सर्वथा अभाव हो, वहीं कौतुक का प्रयोग देखा जाता है ।[1] आंगिक चेष्टायें तो औत्सुक्य की ही होती हैं ।[2] कौतुक से हास की उत्पत्ति बतायी गयी है ।[3] इसीलिए कौतुकागार (कोहबर) यदि एक ओर अपनी साज सज्जा के कारण मनोरंजक है तो दूसरी ओर हास-परिहास का स्थान भी । अतः विस्मय और कौतुक के बीच और औत्सुक्य का ही तत्व समाया हुआ है ।

औत्सुक्य :

'उत्सुक का भाव' इस अर्थ में 'औत्सुक्य' शब्द निष्पन्न होता है । हेमचन्द्र ने इसका अर्थ 'उत्कण्ठा' किया है । अमरकोश औत्सुक्य में लालसा और प्रार्थना का भाव देखता है । सामान्यतः औत्सुक्य का पर्याय इच्छा माना गया है ।[4] सांख्यकारिका के औत्सुक्य की निवृत्ति के लिए जिसप्रकार लोग क्रिया में (कार्य व्यापार में) प्रवृत्त होते हैं इत्यादि कारिकागत औत्सुक्य

---

1. (क) सुर तेतीसो कौतिग आये मुनिवर सहस अठासी" - कबीर ।
   (ख) तहाँ देखि अति सुघर सुन्दर । कौतुक कुदि चढ़े ता ऊपर ।।
   - रामचरितमानस,
2. 'चक्रतुः कौतुकोद्भीर्वां सभां चित्रार्पितामिव' - राजतरंगिणी 5/364.
3. 'कौतुकोद्भवोहासः' - सर मोनियर विलियम "A Sanskrit English Dictionary", पृ० 19.
4. उत्सुकस्य भावः (उत्सुक+ष्यञ्) उत्कण्ठा इति हेमचन्द्रः (देखिये मेघदूत श्लोक 5) औत्सुक्यमिच्छा सा च इप्यमाण प्राप्तौ निवर्तते । इप्यमाणं च स्वार्थ दृष्टलक्षणत्वाद् फलस्य ।"
   - तत्वकौमुदी (दे० शब्दकल्पद्रुम, भाग-1, पृ० 305)

की व्याख्या में तत्त्व कौमुदी में लिखा है —"औत्सुक्य इच्छा है, जो अभिलषित की प्राप्ति पर निवृत्त हो जाती है । बात यह है कि अभीष्ट वस्तु की जब तक प्राप्ति नहीं होती तब तक मन जिस इन्द्रिय के सहयोग से विषय का सेवन करने जाता है (अवधान देता है) उस इन्द्रिय से सम्बद्ध औत्सुक्य उत्पन्न होता है और उसकी विषय उन्मुखी प्रवृत्ति होती है ।[1] यदि प्रवृत्ति काल में वस्तु के साथ मन के सामंजस्य में बाधा उत्पन्न होती है, या विलम्ब लगता है तो मन उसका अतिक्रमण करके अवधान के विषय तक जाने और समीकृत होने के लिए छटपटा उठता है । इसी अन्तराल एवं अन्तराय के अतिक्रमण की भावना (छटपटाहट) को औत्सुक्य कहते हैं । अग्निपुराण में कहा गया है — अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति के अभाव में उसकी प्राप्ति की उत्कट इच्छा से उत्पन्न मन की अरलता ही औत्सुक्य है ।[2]

साहित्य दर्पण में भी जिसके कारण अभीष्ट की प्राप्ति नहीं हो पाती ऐसे कालक्षेप को न सह सकने की स्थिति को औत्सुक्य कहा गया है । इसमें मनस्ताप त्वरा (शीघ्रता) स्वेद तथा दीर्घ निःश्वास आदि विकार उत्पन्न होते हैं ।[3] साहित्य सार के अनुसार इच्छित वस्तु की प्राप्ति में विलम्ब

---

1. "औत्सुक्य निवृत्यर्थं यथा क्रिया सु प्रवर्तते लोकः"। सां० कारिका ।
   मनोऽस्येन्द्रियेऽह विषयान् याति सेवितुम् ।
   तस्यौत्सुक्यं संभवति प्रवृत्तिश्चोपजायते ।।
   — भा० व० श्लोक ।।4 (देखिये, वाचस्पत्यम् शब्दकोश)
2. "औत्सुक्यमीप्सितप्राप्तेर्वा-क्यातरलास्थितिः" अग्निपुराण, 339/30.
3. "इष्टानवाप्तेरौत्सुक्यं कालक्षेपा सहिष्णुता ।
   चित्ततापत्वरास्वेददीर्घ निःश्वसितादिकृत् ।।" — सा०द० 3/159.

आदि (व्यवधान बाधा आदि भी) को न सह सकने की भावना का नाम औत्सुक्य है ।[1] नाट्यशास्त्र में औत्सुक्य के विभाव एवं अनुभाव इस प्रकार दिये गये हैं —"प्रियजन के वियोग उनके स्मरण एवं उद्यान इत्यादि उद्दीपनों के दर्शन से यह भाव उद्बुद्ध होता है, दीर्घनिःश्वास, चिंता कातर अधोमुख निद्रा एवं शयन की अभिलाषा से इसकी अभिव्यक्ति होती है । भरत के निद्रा शयनादि के अनुभाव उचित नहीं प्रतीत होते क्योंकि औत्सुक्य में सक्रियता होती है और निद्रा निष्क्रिय व्यापार है । वस्तुतः कालातिपात आदि की असहिष्णुता ही औत्सुक्य है किन्तु पूर्वोक्त आचार्यों की 'इष्टानवाप्ति' के अतिरिक्त रम्य वस्तु की दर्शनाभिलाषा आदि को भी कारण मानना चाहिए । अतएव दशरूपककार ने इसके विभावों एवं अनुभावों को नया रूप देते हुए लिखा — किसी मनोहारी अभिलाषा सुरत (संयोग) या संभ्रम के कारण (वांछित वस्तु की प्राप्ति में) समय को (विलम्ब को) सहन न कर सकना औत्सुक्य कहलाता है । उच्छ्वास, त्वरा, श्वास अथवा निःश्वास हृत्ताप- स्वेद और भ्रम ये अनुभाव औत्सुक्य में पाये जाते हैं ।[2]

औत्सुक्य मूलतः कुतूहल की भांति बाल व्यक्तित्व और दुर्बल हृदय की वस्तु है । सबसे अधिक औत्सुक्य या तो बालकों में होता है, या बालिकों में । कम से कम औत्सुक्य व्यक्तित्व को तो हल्का कर ही देता है ।

अंग्रेज़ी शब्दकोश में भी स्तदर्थक क्यूरिआसिटी शब्द का इसीसे मिलता-जुलता अर्थ किया गया है । उसके अनुसार 'किसी असामान्य अथवा नवीन

---

1. 'औत्सुक्यमिच्छित प्राप्तौ विलम्बादय सहिष्णुता' — साहित्यसार, पृ० 135.
2. 'कालाक्षमत्वमौत्सुक्यं रम्येच्छारति संभ्रमैः ।
   तत्रोच्छ्वास त्वरा (त्वनिः) श्वास हृत्ताप स्वेद विभ्रमाः' ।।
   — दश० 4/32, पृ० 207.

वस्तु के दर्शन से इन्द्रियों को संतुष्ट करने की इच्छा अथवा नवीन उद्घाटन से मन को संतुष्ट करना औत्सुक्य है । यह जिज्ञासा के अधिक निकट है ।[1] भूरी के अनुसार "किसी विषय के सम्बन्ध में जानने के या खोजने की रुचि या इच्छा विशेषतः जो नूतन अथवा अजनबी है, अथवा एक रुचि का अनुभव जो किसी विषय में जानकारी करने के लिए प्रेरित करे । किसी नयी वस्तु के अनुभव अथवा विचार की इच्छा अथवा ऐसी वस्तु जिस पर अतिरिक्त चिंता जुड़ी है ।"[2]

विलियम मैक्डूगल ने जिज्ञासा (नवीन और अद्भुत वस्तुओं के अन्वेषण की प्रवृत्ति) को मूलवृत्ति माना है जिसका वृत्तिगत भाव या मनःसंवेग औत्सुक्य अथवा कुतूहल है। फ्लैचर ने इसे सामान्य स्फूर्ति या उत्साह के अन्तर्गत स्थान दिया है ।[3] अन्यत्र मैक्डूगल ने औत्सुक्य विस्मय तथा प्रशंसा को पर्यायवाची स्वीकार करते हुए कहा है कि अजनबी, विलक्षण, अद्भुत और औत्सुक्य जनक वह है जो हमारे भीतर उत्सुकता से जगाता है अथवा उस विलिन का उद्घाटन करता है जो उदात्त अथवा आकर्षपूर्ण है ।

---

1. (i) A desire to gratify the senses with a sight of what is new or unusual or to gratify the mind with new discoveries.

   (ii) A desire to term about things that do not necessarily concern one, inquisitiveness.

   (iii) Any thing novel extra-ordinary rare or strange.

   Webstars Dic., Page 446.

2. In a natural or good sense:- The desire or inclination to know or learn about anything esp. what is novel or strange a feeling of interest bading one to inquire about anything.

   A desire to make trail or experience of anything novel.

   A matter upon which undue care is bestowed.

   A New Eng. Dic.: Murrany Vol.II, Page 1265.

3. देखिये—सोशल साइकालोजी, पृ० 25 तथा इन्ट्रोडक्शन टू मैन, पृ०309-15.

उनका विचार है कि जब हम लोग उत्सुक होते हैं तब हम उत्सुकता को केन्द्रित करनेवाले विषय के अधिकाधिक निकट जाने एवं उसकी जाँच-पड़ताल करने की प्रवृत्ति का अनुभव करते हैं । उन्होंने इसका विवेचन यों किया है :—

मूलवृत्ति का नाम	मिलते-जुलते पर्यायवाची	वृत्तिगत व्यापार में प्राप्त होने वाले संवेगात्मक तत्व (औत्सुक्य
औत्सुक्य	जिज्ञासा, खोज, छानबीन	(रहस्यानुभूति, अपरिचितता, अज्ञानता एवं विस्मय)[1]

डा० भगवानदास का विचार है कि "औत्सुक्य उत्सुकताजनक वस्तुओं के प्रति इच्छा का नाम है । इस प्रकार यह एक इच्छा के लिए इच्छा है । यद्यपि 'इच्छा के लिए' एक असंभाव्यता है तथापि जो उक्ति प्रचलित है, वह इसलिए कि यह अपेक्षाकृत समान भावों को व्यक्त करने का सुविधाजनक माध्यम है । इसका वास्तविक अर्थ है — (1) प्रत्यक्ष रूप से किसी आनन्ददायक विषय की इच्छा । (2) अप्रत्यक्ष रूप में अपने लिए एक ऐसी स्थिति की इच्छा

---

1. Curiosity and wonder and admiration: xxx as strange or marvellous or wonderous or curious that evokes our curiosity or describes a land scape as sublime or awful. xxx when we are curious we feel the impulse to draw nearer and examine the object that excites our curiosity.

Name of instinct	Synonyms	The Emotional qualities found in instinctive activities.
Curiosity	Inquiry, discovery investigation.	Curiosity (feeling of mystry of strangeness of the unknown wonder).

An Outline of Psychology, William Medugall, Page 324.

जिससे पहली इच्छा की पूर्ति संभव हो सके ।"[1]

औत्सुक्य एक ऐसा संवेग है जो बहुसंख्यक लोगों को अनुपातहीन एवं औचित्यहीन ढंग से प्रभावित करता है और बहुधा दूसरों की असुविधा के मूल्य पर भी ।"[2] किसी मनोरम दृश्य को देखने की अहमहमिका में हम औरों को कितनी असुविधा देते हैं, यह अविदित नहीं है । जैसा कहा जा चुका है औत्सुक्य बचपन एवं बचकानेपन से अधिक जुड़ा हुआ है, प्रत्येक नवीन वस्तु हमें इसीलिए उत्सुक बना देती है, कि हम उसे अपने ज्ञान अथवा अनुभव की सीमा में लाने के लिए आतुर हो उठते हैं । यह आतुरता हृदय को तरलता से पूर्ण कर देती है ।

"आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसका वर्गीकरण सुखात्मक मनोभावों में किया है ।[3] "परन्तु यह वास्तव में कहना कठिन है । निश्चय रति के कारण आत्सुक्य होता है, और वह आशाजनक भी । पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इस अवस्था के परिणाम सुखान्त और दुखान्त दोनों ही हो सकते हैं यह

---

1. Curiosity is the desire for the curious: It is thus a desire for a desire. In strict analysis - as will appear later on - a desire for a desire is an impossibility, and the expression, which has gained currency because it provides a convenient way of expressing some rather common mood of mind really means (1) directly a desire for certain pleasurable objects and (2) indirectly, a desire for a certain condition of one self, in which condition the fulfilment of the former desire is possible.

   The Science of Emotions: Bhagwan Dass Page 95.

2. Curiosity is an emotion that afflicts many human beings disproportionately and unappropriately and very often to the inconvenience of others.

   - Ibid., Page 96.

3. रसमीमांसा, पृ० 200.

बात दूसरी है कि काव्यशास्त्रीयों ने प्रायः उल्लासपूर्ण ही उसके उदाहरण दिये है ।[1]" मेरी समझ में अवस्था का सुखात्मक या दुखात्मक होना एक बात है और परिणाम में सुखान्त या दुखान्त होना दूसरी बात । अतः परिणाम की दृष्टि से विचार करने पर कहा जा सकता है कि औत्सुक्य में देश तथा काल का व्यवधान असह्य होता है । चाहे इच्छित की प्राप्ति हो या अनीप्सित से मुक्ति । पद्माकर की नायिका को यदि कालक्षेपकारिणी प्रिय की प्रतीक्षा असह्य लगती है —

सजे विभूषन वसन सब सुपिय मिलन की चौंस ।
सह्यो परत नहिं कैसहुं रह्यो अधघरी दयोस ।।
(जगत 325)

तो दूसरी ओर मानस में —

जो जैसे तैसे उठि धावहिं । बाल वृद्ध कोउ संग न लावहिं ।।
(रामचरितमानस)

में देश का व्यवधान असह्य है ।

कुतूहल से औत्सुक्य में यह अन्तर है कि कुतूहल में जहां उन्मुख सक्रियता रहती है, वहां औत्सुक्य में छानबीन की प्रवृत्ति कार्य करती है ।

आश्चर्य :

आङ् पूर्वक 'चर्' धातु से 'ष्ट्रन्' प्रत्यय तथा 'आश्चर्यमनित्ये' सूत्र में आश्चर्य इस आर्ष प्रयोग के आधार पर 'सुट्' का आगम करके 'आश्चर्य' शब्द निष्पन्न होता है । इसकी व्युत्पत्ति है — आश्चर्यं चर्यते अभिनीयते ।'[2]

---

1. हिन्दी साहित्य कोश : ज० कि० कपूर, पृ० 131.
2. देखिये, शब्द कौस्तुभ में यह शब्द ।

जहाँ चमत्कार दर्शनादि के कारण मुंह से 'आ' निकल पड़े और तदनुरूप मुद्रा में मुंह खुल जाये वहाँ आश्चर्य समझना चाहिए । आश्चर्य विस्मय का वह रूप है, जिसमें अजनबीपन तथा औत्सुक्य की भावनायें एक साथ काम करती हैं तथा संदर्भ में आकस्मिक एवं अप्रत्याशित के साथ मन के असमायोजित होने के कारण ओह ! ओह ! हैं ! वाह ! जैसे शब्दों के माध्यम से प्रतिक्रियायें व्यक्त होती हैं । गीता एवं कठोपनिषद् के प्रयोगों के आधार पर कहा जा सकता है कि आश्चर्य का संवेदन चेतना के विभिन्न स्तरों पर (ऐन्द्रिक संवेदन से लेकर ज्ञान के स्तर तक) समान रूप से सक्रिय रहता है ।[1] वास्तव में आश्चर्य का संसार अनन्त है । संभावना और प्रत्याशा के विपरीत उपस्थिति तो आश्चर्यजनक होती है किन्तु नवीनता और असामान्यता कम आश्चर्यजनक नहीं होती । मनुष्य के लिए यह विश्व एक आश्चर्य है ।[2] सामान्य आश्चर्य तो ज्ञानान्त होता है, किन्तु यह विश्व का आश्चर्य ज्ञान-विज्ञान-दर्शन के बाद भी हमारे ज्ञान और चिन्तन की परिधि के बाहर है । आश्चर्य के भी आनन्ददायक एवं खेदजनक रूप से दो भेद किये जा सकते हैं । यह भेद आलम्बन के आधार पर ही संभव है । दीर्घकालिक तथा उच्चकोटिक आश्चर्य विस्मय में परिणत हो जाता है ।

मनोवैज्ञानिकों के अनुसार[3] अप्रत्याशित घटना एवं तज्जन्य प्रतिक्रिया के रूप में प्रयुक्त आश्चर्य शब्द उन स्थितियों को व्यक्त करता है, जिनमें मनुष्य अपने को चकित आपतित भयभीत एवं चमत्कृत अनुभव करता है । आश्चर्य का

---

1. (क) 'आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेन माश्चर्यवद् वदति तथैव चान्यः ।
आश्चर्यवच्चैव मन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेदनचैव कश्चित् ।।-गीता
(ख) आश्चर्योवक्ता कुशलोऽस्य लब्धा आश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः ।।
— कठो० 1/2/7.

2. 'आश्चर्य दर्शनो मनुष्यलोकः' — शब्दकौस्तुभ में उद्धृत ।

3. देखिये, पृ० 46 की पाद टिप्पणी ।

प्रमुख अनुसारी प्रभाव औत्सुक्य के रूप में प्रकट होता है, जो ज्ञानार्जनानुकूल व्यापार से अनुप्राणित होता है । इसके अतिरिक्त यह अहं की संतर्जना एवं धमाशा के रूप में भी प्रकट हो सकता है। यहां सबसे प्रमुख औत्सुक्य है । इस प्रकार की घटना की प्रतिक्रिया में लोग जिज्ञासा का समाधान करने के लिए, क्या, क्यों और कैसे पूछने लगते हैं । आश्चर्यजनकता के सम्बन्ध में डा० बर्लाइन की धारणा है कि आश्चर्यजनकता उन सामूहिक परिवर्तियों में से एक है जो समन्वेषी एवं ज्ञानार्जनानुकूल चर्या (आचरण) के लिए आभ्यन्तर अभिप्रेरणा की ओर ले जाता है । आश्चर्यजनकता में समाहित है एक ऐसी प्रत्याशा जिससे एक उद्दीपक घटना मेल नहीं खाती । प्रत्याशित एवं घटित के परितुलन को एक अवधारणात्मक (संबोधिक) संघर्ष के रूप में समझाया गया है । जो आभ्यन्तर अभिप्रेरणा के तत्वों से युक्त औत्सुक्य की ओर ले जाता है ।[1] अनेक विद्वानों के अध्ययन का सारांश प्रस्तुत करते हुए डा० जिंगरेली का कथन है कि "आश्चर्य को विभिन्न प्रकार से एक उद्दीपक घटना, एक भावना-प्रवृत्ति तथा एक संवेग के रूप में समझा गया है । आश्चर्य के विषय में ऐसी धारणा है कि यह सक्रिय प्रेरक चेष्टा (Motor) है एवं वैचारिक प्रक्रियाओं को अवरुद्ध करता है तथा आश्चर्यजनक विषय पर अवधान केन्द्रित करता है इसीके साथ यह समायोजन के अभाव में हास्य, भय, विस्मय और औत्सुक्य से सम्बद्ध है तथा आश्चर्यजनक विषय की सघन स्मृति की ओर ले

---

1. Berlyne (1960, 1965) conceives of "surprisingness" as one of a number of collative variables leading to an intruinsic motivation for exploratory and epistemic behaviour. Surprisingness implies an expectation with which a stimulus event disagrees. The collation of the expected and the occurring is considered a conceptual conflict which leads to a curiosity having intrinsic motivational properties. The motivational effect of surprise.

- Zingarelli, Page 2.

जाता है ।"[1] उन्होंने यह भी बताया है कि आश्चर्य के कारणों की विभिन्न प्रकार से मीमांसा की गयी है ।[2]

(1) अप्रत्याशितता के कारण,

(2) वर्तमान एवं मस्तिष्क में संचित अनुभव में टकराव अथवा विरोध के कारण (ग्रैण्ड 1914),

(3) किसी दमित प्रत्याशा की पूर्ति अथवा पुष्टिकरण से सम्बद्ध होने के कारण (रीक 1936),

(4) औपयिकता (हेतु विद्या) के आधार पर आत्मरक्षा के लिए सहायक (उदाहरणार्थ डार्विन का विचार है कि आश्चर्य में आँखें इसलिए अधिक फैल जाती हैं जिससे हम आश्चर्यजनक कारण को शीघ्र देख सकें ।

(5) आश्चर्य की अभिप्रेरणा के चौखटे में स्थिति (बर्लाइन 1960, 65.)

उपर्युक्त विवेचन से इस प्रश्न का समाधान हो जाता है कि कोई घटना या वस्तु आश्चयजनक क्यों होती है और वे कौन से तत्त्व हैं, जो किसी चमत्कारी घटना या वस्तु की उपस्थिति के बाद ज्ञानार्जनानुकूल औत्सुक्य को जन्म देते हैं । संक्षेप में कहना चाहें तो उपर्युक्त कारणों को दो शीर्षकों में विभाजित कर सकते हैं:—

---

1. Surprise has been diversely thought of as a stimulus event, a feeling - tone and an emotion - surprise has been conceived to inhibit an going moter and thought processes, fixate attention on the surprising object, to be associated with lack of adaptation, laughter, fear, wonder and curiosity, and to lead to better memory for the surprising object. Ibid, Page 1.

2. Ibid., Page 2.

(1) एक धारणात्मक प्रतिक्रिया अथवा प्रत्याशा के विपरीत वस्तु की उपस्थिति ।

(2) आभ्यन्तर अभिप्रेरणा जिसकी परिणति औत्सुक्य है । यह आश्चर्य सुखद भी होता है और दुखद भी ।

विद्वानों ने इस सम्बन्ध में बहुत से मत प्रस्तुत किये हैं । मैक्लेलैण्ड एटिकंसन, क्लार्क, लावेल (1953) जैसे विद्वानों का विचार है घटित एवं प्रत्याशित की विसंगति ही आश्चर्य के सुखद एवं दुखद होने का कारण है ।'[1] इसका स्पष्टीकरण हेब (1949) के इस कथन में देखा जा सकता है कि 'प्रत्याशा अनुक्रम में यदि घटित द्वारा प्रत्याशित की पूर्ति में कुछ ही विसंगति रहती है तो उसका परिणाम सुरुचि एवं सुख होता है किन्तु यदि प्रत्याशा और घटना के बीच अधिक विसंवाद होता है तो उसमें दुःखदता होती है ।'[2] पीक का विचार है कि 'जिनमें संभावित एवं घटित घटना में सम्मिलित हैं ऐसी दो या अधिक मनोवैज्ञानिक घटनाओं में जब विसंवाद वर्तमान रहता है तो अन्वेषी और खोजी व्यवहार का नैरन्तर्य और घनत्व उत्पन्न होता है, उसका कारण होता है प्रतिक्रिया व्यक्त करने की पद्धति के प्रति अनिश्चय का भाव ।'[3]

---

1. Mcclelland, Atkinson, Clark and Lawell (1953) have postulated that the size of the discripancy between an expectation (the adaptation level) and a current perception leads to a pleasent or an unpleasant state. Ibid, Page 2.

2. Hebb (1949) has asserted that some degree of failure to confirm expectancies (phase sequences) would result in interest and pleasure, but discrepancies between expectancies and evants which are too great would produce unpleasantness. Ibid, Page 2-3

3. Peak (1955) has discussed the persistance and intensity of exploratory and searching behaviour which arises from uncertainty about how to react when disparity exists between two or more psychological events including expected and prevailing events. Ibid, Page 3.

   .... 'Occurrence of an event in place of an expected event results in cognitive dissonance, a psychologically uncomfortable and motivating state'. Ibid, Page 3.

और यह अन्तर्द्वन्द्व की स्थिति एक संज्ञानात्मक विस्वरता को जन्म देती है जो मनोवैज्ञानिक दृष्टि से कष्टप्रद एवं अभिप्रेरक स्थिति है (कार्लस्मिथ तथा एरोन्सन 1963) ।

उपर्युक्त एवं अन्य विद्वानों के मत का हवाला देते हुए परवीन ने लिखा है — "बर्लाइन ने (1961) आश्चर्य को मानसिक संतुलन में अशांति तथा उत्तेजना की तीव्रता से अन्तर्ग्रस्त बताया है । हेब के अनुसार आश्चर्य वह सांवेगिक विक्षोभ है जो प्रत्याशा अनुक्रम के प्रति इन्द्रिय-ग्राह्यता के अभाव से उत्पन्न होता है । यह भी अधिक संभव है कि आश्चर्य प्रायः अरोचक (दुःखद) हो क्योंकि यदि परिस्थिति की पुनरावृत्ति हुई है तो यह व्यक्ति को अनिश्चय और संघर्ष की स्थिति में छोड़ देती है, कि कैसी भविष्य वाणी करे । प्रायः संज्ञान के स्तर पर आश्चर्य अशान्तिजनक होता है क्योंकि इससे विस्वरता उत्पन्न हो जाती है । कार्लीस्मिथ तथा एरोन्सन ने भी विस्वरता के सिद्धान्त के आधार पर पाया कि जो घटनायें तीव्र प्रत्याशा की पुष्टि नहीं करतीं उन घटनाओं की तुलना में उन्हें अपेक्षाकृत कम सुखद माना गया है जिनके सम्बन्ध में व्यक्ति को कोई प्रत्याशा नहीं थी ।"[1]

---

1. Berlyne (1960) has described as involving disturbance in equilibrium and heightening of arousal, and Hebb (1949) has described the emotional disturbance caused by a lack of sensary support for a phase sequence. It is further more likely that surprise is often unpleasant because, if the situation is to be repeated one, it leaves the person uncertain and in conflict about what to anticipate in the future. On a more cognitive level surprise is disturbing because of the dissonance created. Carlsmith and Aronson (1963) on the basis of dissonance theory, found that events which disconfirmed a strong expectancy were judged to be less pleasant than events which occurred when an individual had no expectancy.

— L.A. Perin: Predictive Strategies and The Need To Confirm Them, Psychological Reports 1964, Page 102.

यहाँ 'अप्रत्याशित' को अच्छी प्रकार समझ लेना चाहिए । अप्रत्याशित केवल वही नहीं है (?) जो आनुपातिक दृष्टि से प्रत्याशा अथवा संभावना से कम अथवा अधिक हो, अप्रत्याशित वह भी है (2) जिसके विषय में कोई प्रत्याशा की ही न गयी हो अथवा जो अकल्पनीयता के कारण प्रत्याशा से परे हो । यदि संभावित और घटित में अन्तर सामान्य है तो हर्ष होगा कम से कम दुःख नहीं होगा किन्तु यदि दोनों के बीच अन्तर की गहरी खाई होगी तो निश्चय ही कष्ट और पीड़ा होगी । जहाँ तक दूसरे वर्ग का सम्बन्ध है, वह शुद्ध विस्मय का लोक है । उपलब्धि चाहे अतर्कितोपनत हो चाहे कल्पनातीत, यदि उसके प्रति हमारे मन में अनुकूलता का बोध होता है, तो अनुसारी प्रवृत्ति अतिशय आह्लाद के रूप में प्रकट होती है, किन्तु यदि प्रतिकूलता का बोध या आशंका होती है या कम से कम अनुकूलता का बोध नहीं होता तो खेद उद्वेग और ~~खेद~~ दुःख की अनुभूति होती है । रसशास्त्रीय भाषा में आश्चर्य की अतिशयता में विस्मयाभिभूत होना अनिवार्य है, भले ही आलम्बनधर्मिता के आधार पर अनुभूति केवल आनन्ददायिनी हो या आतंक भय रोमांच आदि से युक्त । आश्चर्य या विस्मय का परिणामी स्वरूप अपने आप में एक चमत्कारी अतरव अलौकिक आह्लाद का जनक है, इसमें संदेह नहीं । आश्चर्य में भी चिंतन क्रियाशील होता है इसका संकेत हमें निम्नलिखित कथन से प्राप्त होता है —"पियागेट ने संकेत दिया है कि (विसंगति के क्षणों में) एक बालक मानसिक विकास एवं संतुलन की आकांक्षा में अपने प्रति-बोधन और चिंतन की पुरानी पद्धति को छोड़ देता है, जिसका परिणाम होता है, एक कष्टप्रद संभावना एवं आश्चर्य । उदाहरणार्थ प्राचीन सोचने की पद्धति से प्राप्त सम्भावना एक विभ्रम में बदल जाती है और बालक को आगे क्या होगा, इसकी भविष्यवाणी करने में प्रायः असमर्थ छोड़ देती है । परवीन का आग्रह है कि पूर्वसूचना की चाल का पुष्टीकरण

आवश्यक है । पूर्वसूचना की बात का अर्थ है कि एक योजना, जिससे व्यक्ति भविष्यवाणी कर सके । पुरस्कृत उपलब्धि अधिकाधिक हो सके और अवांछित अनिवार्य के लिए प्रस्तुत हुआ जा सके ।"[1] डाक्टर जिंगेली ने आश्चर्य के तीन भेद किये है :—

(1) एक अप्रत्याशित किन्तु आकस्मिक सघन उद्दीपक की उपस्थिति, जिसमें संभावित क्षति से आत्मरक्षा का भाव स्वभावतः निहित है, और जिसका परिणामी आवेग चौंक पड़ना है, उसे 'चमत्कृत आश्चर्य' (Startle surprise) कहेंगे ।

---

1. Piaget (1957) indicates that in a child's intellectual development and striving for equilibrium he gives up earlier ways of perceiving and thinking which result in disconfirmed expectancies and surprise, i.e. expectations driving from earlier ways of thinking turn out to be erroneous and frequently leave the child unable to predict what is going to happen next. On the adult level Pervin (1964) asserts that there is a need to confirm predictive strategies. A predictive strategy is a scheme for making individual predictions and has the functions of maximizing reward attainment and preparing one for inevitable unpleasantness.

   - Dr. Zingerelli, The Motivational Effect of Surprise, Page 3.

2. विद्वान लेखक ने इसे सूक्ष्म भेदक तत्त्वों का भी बड़ा सुन्दर निरूपण किया है, पर प्रस्तुत अध्ययन के लिए अपेक्षित नहीं है । जिज्ञासु यहीं पुस्तक देखें — पृ० 4—5.

(2) एक आश्चर्यजनक घटना या विषय की उपस्थिति जो संभावित घटना या विषय के वर्ग से भिन्न हो । उपस्थित विषय या घटना के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह सघन हो अथवा 'चमत्कृत आश्चर्य' की भांति हमें संभावित क्षति से बचने के लिए उद्विग्न कर सके । इसे 'पुष्टीकृत आश्चर्य'(Non-disconfirmation surprise) कहेंगे ।

(3) एक वस्तु या घटना जो आकस्मिक रूप से (उपस्थित होकर) एक प्रबल प्रत्याशा का खंडन कर सके उसे 'अपुष्टीकृत आश्चर्य'(Disconfirmation surprise) कहते हैं ।

इस चमत्कारी आश्चर्य की प्रतिक्रिया तीन रूपों में देखी जा सकती है —

(अ) शारीरिक प्रतिक्रिया :

(क) आन्तरिक :— मस्तिष्कीय अभिस्तारणा, रक्तचाप में वृद्धि, अपूर्व सक्रियता या सहसा रक्तचाप में कमी, मूर्छा-समान-धर्मी निष्क्रियता ।

(ख) बाह्य :— वाहिनी आकुंचन, शरीर में तनाव, रोमांच, स्वेद, झनझनाहट या अनुभव ।

(आ) प्रस्तुत विचार एवं प्रेरक चेता के प्रतिचार में व्याघात, आश्चर्यजनक उद्दीपक की दिशा में अनुस्थापन और संभवतः आश्चर्यजनक स्थिति का अन्वेषण ।

(इ) आश्चर्यानुभूति में मानसिकता :— भय और औत्सुक्य एवं तदनुसारी चिंता, उद्वेग, जड़ता आदि ।

परिवेश और विस्मय :

हम देख चुके हैं विस्मय रूप संवेग का उदय अतर्कित, अननुभूत एवं अकल्पित परिवेश में होता है । जहां अनुभूति आकस्मिक और अभूतपूर्व होती है, जहां रहस्यमयता का वेदन करने में हमारी बुद्धि कुंठित होने लगती है और जहां हमारी कल्पना अपनी अनन्त शक्ति के साथ भी सूत्र समायोजन में अपने को असमर्थ पाती है वहां हमारा विस्मयाभिभूत हो जाना अत्यन्त सरल है ।

मेरे विचार से इस परिवेश की तीन कोटियां प्रस्तुत की जा सकती है :—

(1) दिव्य अनुभूति का परिवेश,
(2) प्राकृतिक परिवेश, तथा
(3) मानवीय रचना और व्यापारों का परिवेश ।

(1) दिव्य अनुभूति का परिवेश :

दिव्य अनुभूति के क्षणों में योगी, ज्ञानी अथवा भक्त को जो दिव्य, ज्ञान, योगज प्रत्यक्ष अथवा आनन्ददायिनी रूप लीला का अनुभव होता है, वह 'मन वानी को अगम अगोचर' है । यद्यपि यह विशिष्ट व्यक्तियों का विशिष्ट अनुभव है, तथापि ऐसे दिव्य साक्षात्कार का अनुभव सभी संतों, भक्तों और सूफ़ियों आदि ने किये हैं, और उन क्षणों के अपने लोकोत्तर अनुभवों को वाणी में रूपायित भी करना चाहा है, किन्तु बुद्धि के अकल्पनीय पराजय के क्षणों की कहानी वे कह ही कैसे सकते हैं। इसीलिए 'नेति-नेति' कह कर ही उन्हें संतोष करना पड़ा है । ज्ञानियों ने अपने अनुभूत सत्य को अचिन्त्य, अप्रमेय अतर्क्य आदि निषेध मुखी विशेषणों से कहने का प्रयास किया तो भक्तों ने उसकी शक्ति-शील-सौंदर्य की लोकोत्तरता को अनिर्वचनीय अनन्तता के लोक में पहुंचा दिया ।

सौंदर्य को ही लें । तुलसी के राम 'कोटि मनोज लजावन हारे' हैं । सुन्दरता की उदात्ततम कल्पना कामदेव पर जाकर विश्रान्त हो जाती है । वह मानव सौंदर्य कल्पना का वैश्वक मानदण्ड है । ऐसी दशा में कल्पना करें उस सौन्दर्य के कोटि गुणित सौंदर्य की (शायद हम नहीं कर सकते) और फिर कल्पना करें राम के उस अतुलनीय रूप की (यदि कल्पना में लाया जा सके) जिस के सम्मुख तथाकथित कामदेव का कोटिगुणित रूप कल्पना समानीत राम की तुलना में परास्त होकर लज्जित हो उठे । हमारी रूप सौंदर्य संभावना का कामदेव के रूप में एक पराकाष्ठा प्राप्त अनिश्चित अनिर्धारित मानक और उसके गुणन के लिए एक निश्चित संख्या (कोटि) और दोनों से प्राप्त गुणनफल का अभाव यदि अपनी अनुपलब्धि में बौद्धिक विस्मय की सृष्टि करता है तो वहीं सौंदर्य अनुभूति का निरवधि विस्तार भी हमें कम विमुग्ध नहीं करता ।

भक्तों ने उस ईश्वरीय विभूति का जैसा उदात्त अनिर्वचनीय चित्र प्रस्तुत किया है वह सदैव अगम और अगोचर है । इसीलिए उसे सभी विस्मित होकर ही देखते हैं ।[1] एक बात यह भी है कि ऐसी अनुभूति की प्रेषणीयता कथमपि संभव नहीं। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति का अनुभव स्वयं में प्रमाण है,[2] और वह पदे-पदे नूतन है ।

कभी-कभी जब कविगण किसी अनिर्वचनीय सौंदर्य को अभिव्यक्त करने में अपने को असमर्थ पा कर प्रस्तुत के अनुरूप अप्रस्तुत की समायोजना करने लगते हैं, उस समय संभावित अप्रस्तुत कम विस्मयजनक नहीं होता और इस प्रकार के विस्मय वह अप्रस्तुत का भी व्यतिरेक द्वारा हीन सिद्ध किया जाना तो प्रस्तुत के सौंदर्य की अनन्तता के लोक में ले जाकर विभोर कर देता है । मानस का ही एक दूसरा प्रसंग लें –

---

1. 'वीक्षन्तेत्वां विस्मिताश्चैव सर्वे' – गीता, अध्याय ।।
2. 'स्वानुभूति समयैक साक्षिणम्' – स्तुति कुसुमांजलि, जगद्धर भट्ट ।

जो छवि सुधा पयो निधि होई ।
परम रूप मय कच्छप सोई ।।
सोभा रजु मंदर सिंगारू ।
मथै पानि पंकज निज मारू ।।
एहि विधि उपजै लच्छि जब सुन्दरता सुख मूल ।
तदपि सकोच समेत कवि कहहिं सीय सम तूल ।।[1]

यहां सीता के लोकोत्तर एवं अवर्णनीय सौंदर्य के आकलन के लिए कवि ने अनुपम अप्रस्तुत की भाव-लोक में सृष्टि करने का जो प्रयत्न किया है, वह तो विस्मयावह है ही, उस लोकोत्तर सौंदर्य-लक्ष्मी का सीता के सम्मुख संकुचित हो जाना एक ऐसी निरवधि शोभा समृद्धि का लोक उद्घाटित करता है, जहां विस्मय की अतल गहराई में डूब जाने के सिवाय और कुछ संभव नहीं ।

(2) प्राकृतिक परिवेश :

प्रकृति हमारे लिए अनन्त विस्मय का स्रोत है । इस विस्मय के दो पक्ष हैं :—

(क) प्रकृति के आवरण में ईश्वरीय कर्तृत्व का आभास,

(ख) प्रकृति का उदात्त, विलक्षण, विराट् अनन्त असीम विस्तार तथा पल-पल परिवर्तित ऐन्द्रजालिक मोहन सुन्दर रूप ।

जहां तक विश्वदर्पण में प्रतिबिम्बित ईश्वरीय ऐश्वर्य का प्रश्न है, विद्वानों का विचार है यह विश्व उस परमात्मा की विचित्र रचना है, और वह इसे बनाकर इसीमें समा गया है ।[2] अतएव जब इसकी विचित्रता

---

1. मानस, बालकाण्ड, दो० २४७
2. 'तत्सृष्ट्वातदेवानुप्राविशत्' ।

को देखकर मति पंगु हो जाती है तो गोस्वामी तुलसीदास जी के शब्दों में :—

केशव कहि न जाय का कहिए
देखत तव रचना विचित्र अति
समुझि मनहि मन रहिए ।[1]

कह कर संतोष करना पड़ता है । सामग्री के अभाव में भी अनन्त रूप रंगों का विस्तार, आधार विहीन अनन्त तारों भरा आकाश-वितान और न जाने क्या-क्या हमें उस अनन्त अचिन्त्य शक्तिवाले परमेश्वर की झांकी दिखलाते हैं और हम विस्मय विमुग्ध भाव से श्रद्धावनत हो जाते हैं और हृदय उदात्त भावनाओं से भर जाता है । मैग्डूगल का विचार है कि हम जब भी प्राकृतिक सौन्दर्य की भाव-विभोर प्रशंसा करते हैं, उस प्रशंसा के आलंबन के रूप में ब्रह्मा ही उभरता है । अतएव प्राकृतिक पदार्थों की प्रशंसा के पर्दे में मानव ने सर्जक शक्ति अथवा शक्तियों को सर्वशक्तिमान परमेश्वर के रूप में अथवा विशिष्ट वस्तुओं के सृजक के रूप में (देवताओं के रूप में) देखा है । यहाँ तक कि नास्तिकों को भी इस संरचना की प्रशंसनीयता के पर्दे में छिपी शक्ति को 'प्रकृति' का नाम देना पड़ा है ।[2]

अतएव प्रसाद जी ने कामायनी के आशा सर्ग में हिमालय का वर्णन करते हुए शीतल झरनों की कलकल बहती धाराओं में हिमालय की खिलखिलाती हुई हंसी का आरोप किया है । प्रकृति की शोभा में किसी अज्ञात सत्ता का संकेत कितना स्वाभाविक है । हंसी में एक संक्रामकता है किसी को हंसते देखकर बरबस हंसी फूट पड़ती है :—

---

1. विनय पत्रिका । ५११
2. देखिये — An Outline of Psychology By Mcdougall, Page 333.

उस असीम नीले अंचल में,
देख किसी की मृदु मुसकान ।
मानो हँसी हिमालय की है,
फूट चली करती कल गान ।।[1]

और यही स्थिति हिमालय की हो रही है, क्योंकि उपरिकथित स्वर्णिम प्रकाश किसी अज्ञात की मृदु मुसकान का संकेत दे रहा है । इसी प्रकार विश्व के प्रथम प्रभात में आदि मानव मन ने प्रकृति के इसी रूप को आश्चर्यचकित होकर देखा होगा । उसकी विमुग्धता ने जिज्ञासा की भावना घनीभूत कर दी होगी । वह अचानक बोल उठा होगा :—

महानील इस परम व्योम में
अन्तरिक्ष में ज्योतिर्मान ।
ग्रह, नक्षत्र और विद्युत्कण,
किसका करते-से संधान ?[2]

प्रसाद जी की ही भाँति महादेवी, पंत, निराला और रामकुमार वर्मा जैसे कवियों ने भी प्रकृति के इस रहस्यात्मक सौंदर्य का चित्रण किया है ।

(ख) जो लोग प्रकृति के व्यापार को शुद्ध प्राकृतिक मानकर चलते हैं, उन्हें भी पग-पग पर प्रकृति की नित्यनूतनता, दुर्बोधता एवं अगम्यता अनन्त विस्मय से अभिभूत कर लेती है । अथाह अनन्त लहराता सागर, अलंघ्य पर्वतमालायें, गहन कान्तार, विराट एवं दिव्य अन्तरिक्ष यदि अपनी उदात्तता में चमत्कारपूर्ण है, तो तितलियों का उड़ता रंगीन संसार, इन्द्रधनुषी फूलों का

---

1. कामायनी (आशा सर्ग)
2. वही ।

गन्ध प्रसार, परिमल घन सी चाँदनी, पिघली चांदी सा झरता निर्झर, प्रभात, संध्या, निशीथ, तुहिन कण और न जाने क्या-क्या हमें अपने ऐन्द्रजालिक सौंदर्य से अनुक्षण विमुग्ध करते रहते हैं । कार्य-कारण की शृंखला को जोड़ने में असमर्थ हम विस्मित न हों तो करें क्या ?

(3) मानवीय रचना और व्यापारों का परिवेश :

मानवीय रचना के भी मोटे तौर पर दो भेद किये जा सकते हैं :—

(क) कला का संसार, और

(ख) वैज्ञानिक आविष्कार का लोक ।

(क) कला का संसार :

कलात्मक सृष्टि भावना, चिंतना एवं कल्पना की पुंजीभूत अभिव्यक्ति है । हम प्रतिक्षण किसी न किसी रहस्य के निरवगुंठन की प्रक्रिया में लगे हुए हैं । लगता है इस पर्दे की ओट से कुछ अधूरा, अस्फुट, अस्पष्ट संकेत मिल रहा है । कोई अनन्त, सौंदर्य झिलमिला रहा है । हम उसे हटाना चाहते हैं। 'हमारी पुकार है — 'घूंघट के पट खोल रे तोहें पिया मिलेंगे' । 'बस सब कुछ खोलना ही खोलना है । सब कुछ घूंघट का पट खोलने की ही चेष्टा है 'जर्थये इश्क' को भी जाने की ही समस्त साधना है । साहित्य आदिकाल से ही इस चिक को बड़ी सुन्दरता और बड़े मीठे ढंग से हटाता आ रहा है। निरवगुंठन ही साहित्य की मधुरतम साधना है ।[1] किन्तु प्रत्येक निरवगुंठन एक-दूसरे झिलमिलाते आवरण में खो जाता है । कभी हम घूंघट का पट खोल नहीं पाते, कभी एक ओर से पर्दा हटा कर दूसरी ओर डाल देते हैं या स्वयं पर्दा बन जाते हैं, तभी तो प्रसाद जी कहते हैं :—

---

1. संत साहित्य : भुवनेश्वर मिश्र, भूमिका, पृ० 10.

सब कहते हैं बोलो बोलो छवि देखूंगा जीवन धन की ।
आवरण स्वयं बनते जाते हैं भीड़ लग रही दर्शन की ।।[1]

अतः कला के लोक में प्रत्येक निरावरण की अनिर्वचनीय उपलब्धि में जब हम दूसरों को भी साथी बनाना चाहते हैं तो उसे अभिव्यक्ति देने का प्रयास करते हैं, किन्तु जैसे झीना आवरण फिर सबको ढँक लेता है हमें भी, हमारी प्रतिभा, कल्पना और बुद्धि को भी । फलतः वाणी मूक हो जाती है और संकेत मौन गीत अगीत रह जाता है । उक्ति वैचित्र्य अलंकारों की योजना सब व्यर्थ । हम फिर नयी शैली में नयी अभिव्यक्ति देने का प्रयास करते हैं, किन्तु फिर वही असफलता । लगता है जैसे कुछ रह जाता है । यही अनबंधा और अनिबंधा कुछ और कलात्मक विस्मय का मूल प्रेरक है । देवता के अनुरूप मंदिर बनाते बनाते थक गये पर देवता पधारता ही नहीं । 'अब नहीं गाया जाता देव, थकी उंगली ढीले हैं तार' पर गाना एक बेबसी है भावक कभी इन अधूरे अटपटे भावों के चित्र विचित्र शैली में ग्रहण करता है । वह उन्हें सुलझाने, संजोने और अपनी अनुभूतियों से जोड़ने में खो जाता है । वह हैरान हो जाता है —

खुद परदा है चिलमन से लगे बैठे हो
साफ छिपते भी नहीं सामने आते भी नहीं ।।

पर यही तो वह झांकी है जिसे देखते-देखते कभी मन नहीं भरता । जो कभी पुराना नहीं पड़ता । इसीलिए कला का लोक नित नूतन विस्मय को अपने में समेटे हुए है ।

---

1. कामायनी ।

(ख) वैज्ञानिक आविष्कार का लोप :

जहां तक वैज्ञानिक विस्मय का प्रश्न है विज्ञान किसी प्राचीन विस्मय की व्याख्या करके उसके विस्मय को दूर करना चाहता है, किन्तु अनजाने ही अनन्त विस्मय का साम्राज्य खड़ा कर देता है । बीसवीं शताब्दी के वैज्ञानिक आविष्कारों को देखकर कारलायल को बड़ी चिंता हुई थी कि चमत्कार मर रहा है[1] किन्तु 'जहां विस्मय के सामान्य नियमों का उद्घाटन एक प्रकार से हमारे विस्मय को शान्त कर देता है, कि विश्व में कोई भी वस्तु विचित्र या अपवाद नहीं है । वहीं उसी संदर्भ से वैज्ञानिक अन्वेषक विस्मय की नयी सामग्री उपलब्ध करता है । सच यह है कि प्रकृति के रहस्यों का न तो हमें तलस्पर्शी ज्ञान है और न कभी हो सकता है ।[2] ---- हमारा विश्व विज्ञान के बाद भी ऐन्द्रजालिक, विस्मयावह, अननुसंधेय, जादुई और इससे भी अधिक उसके सिर रहेगा जो इस पर चिन्तन करेगा ।[3]

---

1. Carlyle has uttered a lament over the decay of wonder following on the scientific explanation of the world. Bain: The Emotion and Will, Page 47-48.

2. The discovery of uniform laws makes wonder to cease in one way by showing that nothing in nature is singular or exceptional but even out of this every circumstance the scientific expositor will often find out new matter of surprise. Ibid, p.47-48.

3. (a) This world, after all our science and sciences is still a miracle, wonderful insensible , magical and more to whom, who so ever will think of it. - Lectures of Heroes Page to quoted by Bain on Ch.IV of 'The Emotional and Will', Page 47-48.

   (b) The sudden shock of wonder is accompanied with a marked degree of the pleasure of rebound, the lightening of an intellectual burden, or the solving of a difficulty that formerly weighed on the mind. xxx The labour of intellectual comprehension is reduced by every new discovery of likeness and the first feeling of this gives a rush of delight.

   Bain: E. & W. Ch.XI, Page 165.

किन्तु बात यहीं समाप्त नहीं होती । वैज्ञानिक चमत्कार में विस्मय का आकस्मिक आघात अपनी छलांग में एक स्पष्ट सीमा तक आनन्द को समेटे हुए है, जिससे बुद्धि का बोझ हल्का हो जाता है अथवा एक कठिनाई हल हो जाती है जो पहले दिमाग पर लदी हुई थी । - - - - प्रत्येक नवीन अन्वेषण की समान-धर्मिता बौद्धिक ज्ञान के श्रम को हल्का करती है और इसकी पहली अनुभूति तीव्र आनन्द प्रदान करती है। इसी प्रकार अन्वेषण की विरूपधर्मिता भी चमत्कार उत्पन्न करती है । विज्ञान का प्रत्येक विस्मय एक ऐसी लोकोत्तर गहनता में डूबता जा रहा है जिसकी प्रत्येक सुलझन कुछ नयी उलझनें सामने लाकर खड़ा कर देती है । "ज्यों ज्यों सुरझि भज्यो चहै त्यों त्यों उरझत जात ।" उदाहरण के लिए मानव मस्तिष्क रचना को ही लें । मानव ने जो कुछ जाना पहचाना है, वह अपने दिमाग के प्रताप से ही । उसने मस्तिष्क के अंगों, कोटिशः नाड़ी संस्थानों, हारमोन्स आदि का ज्ञान कर लिया । उसने जान लिया कि एक घन इंच स्थान में दस करोड़ कोश भरे पड़े हैं । हजारों विद्युत रासायनिक क्रियाएँ प्राप्त संदेशों को सुलझाने में लगी हुई हैं, किन्तु फिर भी यह कहना पड़ता है कि "इन्सान ने इन्सानी दिमाग को बहुत कुछ समझने के बावजूद कुछ नहीं समझा है ।"[1]

मानव और मानव के व्यापार :

मनुष्य के लिए मनुष्य स्वयं एक पहेली है । समस्त कला, दर्शन, विज्ञान, एवं शास्त्र मनुष्य को अपने आपको समझने के प्रयास हैं, किन्तु

---

1. क्या इन्सान का दिमाग इन्सानी दिमाग को समझ सकेगा ?
   - ईश्वर सिंह बैस, साप्ताहिक हिन्दुस्तान, 28 जनवरी, 1973.

संभवतः आज तक मनुष्य के लिए स्वयं मनुष्य सबसे बड़ा विस्मय प्रेरक तत्त्व है ।[1] उसके रूप-गुण-स्वभाव-व्यापार आदि की अनन्तता यदि उसके लिए अगम्य दुर्बोधता का कारण बनी हुई है तो उसकी शक्ति, ज्ञान आदि कम चमत्कारकारी नहीं है। अतएव साहित्य-दर्शन एवं विज्ञान केवल इन तीन तत्त्वों के रहस्य को उद्घाटित करने में लगे हुए हैं ।

(क) मनुष्य,

(ख) प्रकृति,

(ग) मनुष्य तथा प्रकृति के पर्दे में छिपा कोई अनिर्वचनीय तत्त्व ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रत्येक विस्मय का मूल प्रेरक अन्ततः उसका परिवेश ही है ।

जिस प्रकार विस्मय के लिए कहा जाता है कि "जहाँ ज्ञान चुकता है, वहाँ विस्मय जन्म लेता है ।"[2] उसी प्रकार यह भी सत्य है कि "हम जिसे जान लेते हैं उसके प्रति विस्मय समाप्त हो जाता है ।"[3] इस सत्य की पुष्टि मैग्डूगल के इस कथन से होती है – "(और) ज्यों ही हम अनुभव करते हैं कि हमने उस आलम्बन को अच्छी तरह से जान लिया जिसकी हम प्रशंसा कर रहे थे तथा हम उसका पूरा लेखा-जोखा दे सकते हैं, हमारा विस्मय शान्त हो जाता है और उसके द्वारा उत्पन्न संवेग फिर प्रशंसा नहीं रह जाता[4] ।"

---

1. Wonders are many and none is more wonderful than man. – Autigone 332 Trans. by Jebb. The Concise Oxford Dictionary of quotations, Page 218/10 - 1964.

2. Alque Omne ignotam pro magnificoest. Tacitus For wonder grows where knowledge fails. Agricola 30 Trans. by Fyfe. Dic. Page 224/14.

3. We cease to wonder at what we understood. Johnson. Webster's N.T.C. Dic. II Ed. 2103.

4. And as soon as we feel that we completely understand the object we have admired and we can wholly account for it our wonder ceases and the Emotion evoked by it is no longer admiration.
– An Outline of the Psychology: Mcdogall, Page 324.

व्याप्ति :

साहित्य में विस्मय तत्व की व्याप्ति के सम्बन्ध में सूत्र रूप में इतना ही उल्लेख पर्याप्त है कि साहित्य का कोई ऐसा पक्ष नहीं है जिसके मूल में विस्मय तत्व ऊर्जा का स्रोत बन कर न प्रतिष्ठित हो । यहाँ सांकेतिक चर्चा के दो प्रमुख कारण हैं —

(1) यह संभवतः एक स्वतंत्र शोध का विषय है ।

(2) आगामी अध्यायों में विस्मय तत्व के कर्तृत्व एवं भोग रूप की यथास्थान विवेचना करनी ही होगी । अतः अवांछित विस्तार से बचते हुए, इतना ही कहना है कि चाहे दंडी, रुद्रट आदि का अलंकार प्रधान हो या कुन्तक की वक्रोक्ति, वामन की रीति हो या अभिनव का ध्वनि सिद्धान्त, विश्वनाथ का रस हो या पण्डित राज की रमणीयता, लोंगिनुस का उदात्त तत्व हो या क्रयावादियों का कल्पना तत्व सर्वत्र विस्मय-तत्व का उन्मेष दिखाई पड़ता है । इसी तत्व को व्यक्त करने के लिए आचार्यों ने अपनी-अपनी स्थापनाओं के अनुकूल, अनिर्वचनीयता, लोकोत्तरता, विलक्षणता, वैचित्र्य, वैदग्ध्य, भंगी भणिति, चमत्कार, चमत्कृति आदि शब्दों का प्रयोग किया है क्योंकि जो विलक्षण है वह कौतूहलवर्धक है । औत्सुक्य एवं विस्मय का जनक है और परिणाम में अनिर्वचनीय आनन्द का परिपोषक है ।

पूर्व एवं पश्चिम के नूतन साहित्य प्रस्थान, जैसे प्रयोगवाद, नयी कविता, अकविता, युवी पीढ़ी, बीट, रैंग्री आदि में भी विस्मयतत्व की स्वीकृति दृष्टिगत होती है । जहाँ विस्मयतत्व की (समस्त चमत्कारकारी तत्वों की) साग्रह अस्वीकृति है, वहाँ भी अनजाने विस्मय तत्व का महत्व प्रतिष्ठित है । मंडन अनुमंडित रमणी का मनोज्ञ रूप तो चमत्कारकारी होता ही है, पर क्या वल्कलधारिणी तापस बाला की सरलता में विस्मय विमुग्ध करने की क्षमता नहीं ?

काव्य के लोकोत्तर विस्मयजनक स्वरूप की चर्चा करते हुए काशीस्थ अर्ष्वाम्नाय सुमेरु पीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य स्वामी महेश्वरानन्द सरस्वती ने लिखा है :—

"- - - - उसी प्रकार एक अद्भुत सृजन, लोकोत्तर विस्मय, वाग्देवता का नूपुर झंकार, विधातृवैभव प्रतिस्पर्धी, लोकोत्तर कर्मातिकर्मीण, कविगण का आगूरित गौरव, कौशल लावण्य, रसमय, सौन्दर्यमय, आश्चर्यमय, साहित्य-सौहित्य-सुधा-सिन्धु अथवा हृदयंगम सहृदय-हृदयोल्लास-चरम-परमभूमि, रस-शास्त्र, अलंकार-शास्त्र का दिव्य विकसित विशाल मनोहर नन्दन वन है तो भारतवर्ष में है ।"[1] इससे स्पष्ट है कि आचार्य चरण काव्यगत गौरव, कौशल लावण्य को रसमय सौन्दर्यमय एवं आश्चर्यमय — इन तीन रूपों में स्वीकार करते हैं, जो क्रमशः विषयगत, रचनागत एवं उक्तिगत साहित्य त्रिवेणी का मनोरम संगमस्थल है ।

यों तो काव्यानन्द एवं काव्य सौंदर्य पर विचार करने वाले साहित्यशास्त्र के अनेक प्रस्थान प्रतिष्ठित हैं, किन्तु सबका समन्वय केवल दो वर्गों से संभव है — (1) सर्जनात्मक, (2) ग्रहणात्मक ।

अलंकार, रीति, गुण, वक्रोक्ति आदि सर्जनात्मकता के उपकरण हैं तो रस, ध्वनि आदि ग्रहणात्मकता के । अलंकार में रीति वक्रोक्ति आदि का अन्तर्भाव होता है और रस में ध्वनि का । रस आत्मा है तो ध्वनि उसका स्वरूप है ।"[2] औचित्य सभी तत्त्वों में समान रूप से अनुप्रविष्ट है और साहित्य को वृद्धुंजयी बनाता है ।[3]

---

1. डा० राममूर्ति त्रिपाठी द्वारा लिखित साहित्यशास्त्र के प्रमुख पक्ष की भूमिका, पृ० 6.
2. वही ।
3. 'औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्' — औ०वि०चर्चा ।

उपलब्धि के धरातल पर काव्योचित सौंदर्य बोध और आनन्द की उपलब्धि दोनों कोटियों में विस्मय-तत्व की सत्ता है । डा० राममूर्ति त्रिपाठी का भी यही निष्कर्ष है कि —"अलंकार प्रधान काव्य में काव्यीय सौन्दर्य है, पर भावोद्रेकक्षा होने वाला काव्यानन्द (आवश्यक) नहीं है । वहां कुछ विशेष प्रकार का बौद्धिक चमत्कार है । पंडितराज के लोकोत्तराह्लाद की सीमा में भावोद्रेकक्षा उत्पन्न आह्लाद तो है ही काव्योचित अन्य विच[1] चमत्कार भी है ।"

चमत्कार चाहे बौद्धिक हो, भोगावेश रूप हो अथवा कलात्मक हो, वह आह्लादजनक चमत्कार ही है, अतः विस्मय-तत्व की समस्त साहित्यिक आयाम में परिव्याप्ति स्वतः सिद्ध एवं अक्षुण्ण है ।

मेरा अपना विचार है कि नित्य नूतनता ही साहित्य का मृत्युंजयी तत्व है । नूतनता से आनन्द तक साहित्य यात्रा का सुख्य परिपथ है । नूतनता-कौतूहल-औत्सुक्य-विस्मय-चमत्कार-आनन्द का एक समीकरण है । जिस प्रकार प्रकृति में एक परिवर्तन की टेक है, क्योंकि नित्यनूतन कुसुम ही प्रकृति के यौवन का शृंगार करते हैं । पुरातनता की केंचुल बदलते रहने में ही प्रकृति का सौंदर्य निखरता है, उसी प्रकार साहित्य भी नूतनता का उपासक है ।[2]

---

1. (क) वस्तुतः सर्जनापक्ष से विचार करनेवालों का अलंकारवाद और ग्रहणपक्ष से विचार करनेवालों का 'रसवाद' है । बस, दो ही वाद प्रमुख हैं । शेषवाद उन्हींके अवान्तर भेद हैं, उन्हींके संकोच प्रसार हैं ।
— साहित्यशास्त्र के प्रमुख पक्ष : डा० राममूर्ति त्रिपाठी, पृ० ।.

(ख) वही, पृ० 13.

2. 'प्रकृति के यौवन का शृंगार करेंगे कभी न बासी फूल ।'

000 000 000

पुरातनता का यह निर्मीक सहन करती न प्रकृति पल एक ।
नित्यनूतनता का आनन्द किये है परिवर्तन में टेक ।।

— कामायनी, श्रद्धा सर्ग, पृ० 55.

एक बात और, काव्यानन्द और काव्यीय सौंदर्य दोनों की समन्वय भूमि भी विस्मय तत्त्व ही है, क्योंकि स्वरूप एवं संघटनानिष्ठ चारुत्व का अतिशय विसंवादी सन्निधापन कलागत चारुत्व का मूल है और उसकी अविसंवादी अखंड आनन्दमय प्रतीति लोकोत्तर चमत्कारकारी आनन्द लोक के अनावरण का रहस्य । अतः विस्मयतत्त्व की सार्वत्रिक उपस्थिति में कोई संदेह नहीं ।

स्थापना :

यद्यपि मनोवैज्ञानिकों ने विस्मयतत्त्व को चमत्कार, अहं एवं कुंठा आदि का कारण एवं आनंदोन्मुखी जिज्ञासा (औत्सुक्य) तथा उद्वेगता का जनक माना है तथापि मैं समझता हूं कि शुद्ध विस्मय का लोक वह है, जहां प्रत्याशा, कल्पना और चिंतन के लोक से परे कुछ ऐसा अतर्कितोपन एवं सहसा घटित हो जाता है, जिसके परिणाम स्वरूप व्यक्ति एक ओर अपनी सीमा और लघिमा का बोध करता है, और दूसरी ओर आलम्बन के माध्यम से एक असीम अनन्त वितान को निरावृत होता हुआ प्राप्त करता है । इस प्रक्रिया को मैं अहं के विगलन की प्रक्रिया कहना चाहूंगा । इस विगलन की एवं तज्जन्य विस्मय की अनुभूति कल्पना, चिंतन, बोध एवं संवेदन किसी भी स्तर पर हो सकती है । उदाहरणार्थ ऐन्द्रिय संवेदन को ही लें । प्रत्येक की अपनी एक सीमा है । उस सीमा से परे असीम विस्तार आलम्बन के समकालिक समग्र आकलन में बाधक होता है, परिणाम स्वरूप ऐसे विषय की उपलब्धि खण्डशः होती है । इस खण्डांश की उपलब्धि का अर्थ है शेषांश की क्षीणातिक्षीण उपलब्धि के प्रति औत्सुक्य का उदय। फलतः औत्सुक्य, जिज्ञासा, उत्कंठा, आतुरता, एवं अतिशय आकर्षण आदि का मिलाजुला भाव विस्मय एवं तज्जन्य चमत्कार में पर्यवसित हो जाता है । जायसी ने सिंगलगढ़ का वर्णन करते हुए लिखा है —

हिय न समाइ दीठि नहिं जानहु ठाढ सुमेर ।
कहं लगि कहौं उचाई कहं लगि बरनौं फेर ।।

यहां ऊंचाई और घेरा दोनों अपने असीम विस्तार के कारण इन्द्रियातीत होने से विस्मयजनक हैं । यहां यह भी ध्यान रखना चाहिए कि जहां 'महतो महीयान' अपनी उदात्तता के कारण विस्मयजनक है वहीं 'अणो रणीयान्' भी कम आश्चर्यजनक नहीं है । अणिमा में वस्तु की स्थिति का तो प्रत्यय होता है किन्तु यत्न करने पर भी उसकी उपलब्धि सम्भव नहीं होती तो आश्चर्य एवं विस्मय की अनुभूति होती है।

यद्यपि यह सत्य है कि जो कुछ असामान्य है, वह विस्मयजनक है, किन्तु सामान्य असामान्य का निर्णय भी सरल नहीं है । यह भी सौंदर्य-असौंदर्य की भांति एक सामाजिक प्रत्यय है । आदि मानव को प्रथम में प्रत्येक वस्तु असामान्य लगी होगी किन्तु चिर-परिचय ने उसे सामान्य बना दिया होगा। यह आवश्यक नहीं कि वैयक्तिक धरातल की असामान्य वस्तु सामाजिक धरातल पर भी असामान्य हो । अतः कलाकार को सामाजिक मन से तादात्म्य स्थापित करके ऐसे तत्वों का चयन करना पड़ता है जो सामाजिक मन के लिए असामान्य हो । इसके लिए वह असामान्य का उद्घाटन भी करता है और सामान्य में असामान्य का दर्शन भी । जैसे व्यवहार से वस्तु की पालिश उतरने लगती है उसी प्रकार चिरचर्चित विषय चमत्कार हीन हो जाते हैं। वैयक्तिक चेतना की भांति सामाजिक चेतना भी अज्ञात को ज्ञात और अनिर्वचनीय को वचनीय बनाती चलती है । पुरातन अभिव्यक्ति का चमत्कार मर जाता है तो कलाकार नये चमत्कार की सृष्टि के लिए विवश हो जाता है । भावक दुष्यन्त की भांति पहले तो उस 'आश्रमवासी शुद्धान्त दुर्लभ' सौन्दर्य को देखकर यही सोच कर ललकता है कि इस 'अनाघ्रात सुमन एवं अनास्वादित मधु का भोक्ता ब्रह्मा न जाने किसे बनायेगा' किन्तु क्या भोक्ता बन जाने के बाद वह उसका प्रत्याख्यान नहीं कर देता ।

साहित्य में कवि का प्रदेय है उस अनुभूति का सामाजिक निक्षेप जो उसके वैयक्तिक मन के सामाजिक संस्करण की नवीन उपलब्धि है। चूंकि कलात्मक सौन्दर्य एक सचेतन रचना है, अतः कलाकार को चेतना के विभिन्न स्तरों पर उपलब्ध अनुभव खण्डों का एक ऐसा संश्लिष्ट चित्र प्रस्तुत करना पड़ता है, जो अनुभव की परिधि को व्यापक दिखाई दे । अनुभव के समस्त आयामों का अतिक्रमण करनेवाली रचना के लिए ही 'नूतनं-नूतनं पदे पदे' कहने के लिए विवश होना पड़ता है ।

भुक्त का पुनः भोग लोक जीवन की सीमा है, किन्तु कलाकार मुक्तोज्झित-जूठन का उपभोग नहीं करता।[1] वह तो महाप्राण निराला के शब्दों में वीणावादिनी से 'नवगति, नवलय, ताल-छन्द नव, नवलकण्ठ, नवजलद मन्द्र रव, नव नभ के नव विहग वृन्द को नव पर नव स्वर दे' की प्रार्थना करता है।अतः यदि अभिव्यक्ति की अभिनवता मात्र 'विन्यासविशेष की भव्यता है अथवा 'ललितोद्भावित सन्निवेश का चारुत्व' है तो वहाँ कलात्मक वैचित्र्य के दर्शन होंगे और भावक 'रचना विचित्र' देखकर विस्मय विमुग्ध हो जावेगा और यदि 'अपूर्व वस्तु' की विस्मापक सृष्टि होती है तो उसका प्रभाव आनन्दमय कोश को भी अभिभूत कर लेता है । और कुछ नहीं तो एक नूतन आयाम में नूतन आवृत्ति तो कला का अनिवार्य लक्षण है ।

काव्य चमत्कार का मुख्य उत्स है हमारी प्रत्याशा से भिन्न वाक्-गुणादि की असामान्य उपस्थिति । इस भेदकता के कारण निम्नलिखित हैं :—

(क) उक्ति वैचित्र्य (वक्रोक्ति, वैदग्ध्य एवं अर्थालंकारादि योजना),
(ख) कल्पना वैचित्र्य (संभावना के साथ असंभावित का योग)
(ग) अनुभवातीत अनुभूति की अभिव्यक्ति ।

---

1. 'झूठे जानि न संजिहे मन मुंह निकसे बात' — बिहारी ।

ऐसी अभिव्यक्ति के साथ आत्म-समायोजन में पाठक को चित्त विस्तार करना पड़ता है, जहाँ विस्मय का क्षितिज उद्घाटित होता है। हम दृष्टान्त रूप में केवल रूप चित्रण को ही लें। प्रायः महाकवि लोग चमत्कार सृष्टि के लिए हमारी पूर्व-धारणा के विपरीत निम्नांकित रूप-चित्र प्रस्तुत करते हैं जहाँ हर दशा में संभावना का अतिक्रमण आवश्यक है :—

(1) संभावना से बहुत ऊपर – उदात्त चित्र – आनन्दप्रद विस्मय

(2) संभावना से बहुत नीचे – अनुदात्त चित्र– दुरान्वयदुष्ट वैचित्र्यरूप विस्मय।

(3) संभावना के सर्वथा विपरीत –

(क) अनुकूल वेदनीय – सुख, हर्ष

(ख) प्रतिकूल वेदनीय – दुःख, शोक।

(4) संभावना से परे —

(क) निश्चित रूपांकन (अतिशयोक्ति आदि के द्वारा)

(ख) अनिश्चित रूपांकन (जहाँ महाकवि लोग सचेष्ट होकर ऐसा चित्रण करते हैं, जहाँ बुद्धि थक जाती है, मंगु हो जाती है, मानो कल्पना और बौद्धिक व्यापार सो जाते हैं, फिर आनुभूतिक समायोजन की असफलता चमत्कार में बदल जाती है।)

ऐसा ही एक चित्र प्रसाद का देखिये :—

चंपकली स्नान कर आवे चन्द्रिका पर्व में जैसी।
उस पावन तन की शोभा आलोक मधुर थी वैसी।।

पावन तन की आलोक मधुर शोभा की जो अनुभूति कवि मानस पटल पर अंकित है, उसे प्रेषणीयता प्रदान करते समय उसके अभिव्यक्ति के उपादान (भाषा, प्रतीक और बिम्ब) समर्थ नहीं प्रतीत होते। अतः यह संभावना लोक से परे एक

संकेतात्मक 'अनिश्चित' अभिव्यक्ति देने के लिए रूप विधायिनी कल्पना का आश्रय लेता है । आंखों को चौंधिया देने वाले सत्वर सौन्दर्य की झांकी यदि चंचला में है तो रमणीयता, माधुर्य एवं आह्लादकत्व चन्द्रिका में । ऐसी चन्द्रिका में चंचला का स्नान अत्यन्त असंभावित एवं विरुद्ध धर्मी समायोजन है, जिसके कारण उस अकल्पनीय सौन्दर्य की कोटि संभावना लोक से परे हो जाती है । न तो वह बुद्धि के आयाम में घिर पाता है, न निश्चय कोटिक अनुभूति के दायरे में बंध पाता है । बस यहीं एक ऐसे विस्मयावह रूप की सृष्टि होती है जो चिर अव्यय, चिर नूतन है ।

एक नूतन आयाम में नूतन आकृति भी कम विस्मयकारिणी नहीं है । मनु बैठे हैं प्रलय की विडम्बना लिये । उषा की स्वर्णिम आभा के साथ घट परिवर्तन हुआ । जैसे रंगमंच से जवनिका हटते ही कौतुकपूर्ण अभिनय हमें सर्वात्मना विभोर कर लेता है अथवा जैसे मेघाडम्बर के हटते ही द्युलोक की आभा झलक उठती है वैसे ही आवरण हटा और प्रकृति की श्रीशोभा पूर्ववत् लहराने लगी । कहना अनावश्यक है कि आवरण भंग के बाद भी 'प्रकृति --- फिर भी वैसी' है । स्पष्ट है कि नूतनता पुरातन की विलक्षण आकृति है । 'धाता यथापूर्वमकल्पयत्' ।[1]

'त्रिपाद् विभूति नारायणोपनिषद्' में समस्त अविद्या के प्रपंच (सृष्टि के संकोच एवं विकास) को महामाया का विलास बताया गया है । संकोच-विकास में नयी सृष्टि नहीं होती मात्र अविराम उन्मीलन होता है जो स्वभावतः विलास (आनन्द) का जनक होता है । जहाँ एक ओर विश्व का अविराम उन्मीलन कुतूहल की सृष्टि करता है और कलात्मक सौन्दर्य की अभिव्यक्ति होती है वहीं कुतूहल भी अविराम उन्मीलन का कारण बनता है । समस्त विज्ञान तथा दर्शन कुतूहल की ही सृष्टि है । 'कुतूहल खोज रहा था व्यक्त हृदय सत्ता का सुन्दर सत्य' ।[2]

---

1. ऋग्वेद : अघमर्षण मंत्र ।
2. कामायनी ।

सत्य यह है कि बौद्धिक अभिभूति में हम चमत्कृत होते हैं और अनुभूति की लोकोत्तरता में विस्मय विमुग्ध । पराङ्गत बौद्धिक या आनुभूतिक व्यापार गतिवेग को दूर करने के लिए चेतना के धरातल को विकसित करता है । यही चित्त विस्तार विस्मय है । विस्मय ही वह आकाश है जहां बौद्धिक सूर्यास्त एवं आनुभूतिक चन्द्रोदय के स्पष्ट दर्शन होते हैं । कहीं-कहीं संध्या की भांति बौद्धिकता और अनुभूति की द्विधारा भी कम मनोरंजक नहीं ।

अतः विस्मय तत्व साहित्य के लिए प्रेरक सर्जक एवं भोग रूप है, ऐसी स्थापना सर्वथा समंजस है ।

द्वितीय अध्याय

चेतना-प्रवाह और विस्मय-तत्त्व

द्वितीय अध्याय

चेतना-प्रवाह और विषय-तत्व

विषय विवेचन से पूर्व 'चेतना-प्रवाह' को स्पष्ट कर लेना नितान्त अपेक्षित होगा । 'चेतन मानस की प्रमुख विशेषता, चेतना है, जिसे दूसरे शब्दों में कहेंगे वस्तुओं, विषयों, व्यवहारों का ज्ञान ।'[1] और 'चेतन मानस हमारे सम्पूर्ण मानस का एक अंशमात्र है । यह वह अंश है जो बाह्य जगत के सम्पर्क में आता है और पूर्णतः व्यक्त होता है। मानस का यह भाग हमारी जाग्रत अवस्था में क्रियाशील रहता है। यह यथार्थ से संचालित होता है, विचारशीलता, विवेक, तर्क, ध्यान, संवेदना तथा प्रत्यक्ष ज्ञान इसकी प्रक्रियाएँ है ।'[2] इस प्रकार चेतन मानस की धर्मभूत 'चेतना की प्रमुख विशेषताएँ है निरन्तर परिवर्तनशीलता अथवा प्रवाह, इस प्रवाह के साथ-साथ विभिन्न अवस्थाओं में एक अविच्छिन्न एकता और साहचर्य । चेतना का प्रवाह हमारे अनुभव-वैचित्र्य से प्रमाणित होता है और चेतना की अविच्छिन्न एकता हमारे व्यक्तिगत तादात्म्य के अनुभव से ।'[3] चेतना की अविच्छिन्नता साहचर्यजन्य होती है क्योंकि साहचर्य के माध्यम से ही विभिन्न मानसिक प्रक्रियाओं में घनिष्ठ समायोजन होता है और वे प्रक्रियाएँ हमारी चेतना का अंग बन जाती है ।

जीवन यदि परिवेश के प्रति प्रतिक्रिया का नामान्तर है[4] तो चेतना का

---

1. साहित्यकोश, पृ० 289 दे० चेतना ।
2. वही, पृ० 289 दे० चेतन ।
3. वही, पृ० 289 दे० चेतना ।
4. In a sense of life means response to environment (Fundamentals of Modern Psy., Page 112).

विकास परिवेश से उसके समायोजन की प्रक्रिया में हुआ है । एक कोशीय अमीबा से करोड़ों न्यूरनों के जटिल परिपथ वाले प्रमस्तिष्कीय वल्कुट (कार्टेक्स) सम्पन्न मानव के चेतना विकास की कथा इसी प्रतिक्रिया की देन है ।

इस जैविक प्रतिक्रिया का प्रारंभ जिस धरातल पर हुआ उसे प्रेरक धरातल कहते हैं । इसका निर्माण अमीबा में प्रोटोप्लाज्म के इर्दगिर्द और बाद के जीवों में कुछ पेशीय कोशिकाओं द्वारा हुआ । भूख, प्यास आदि एक पेशीय तनाव की स्थिति में की गयी प्रतिक्रिया से प्राप्त साधन (भोजनादि) तनाव को शांत कर देता था, किन्तु प्राणी को बाह्य परिवेश का ज्ञान नहीं होता था इसलिये संग्राहकों के एक दूसरे धरातल का विकास हुआ जिन्हें ज्ञानेन्द्रियां कह सकते हैं । इस धरातल द्वारा प्राप्त संवेदनों की प्रतिक्रिया पेशियों तक पहुंचाने के लिए नाड़ी तंत्र का विकास हुआ । ये नाड़ी तन्त्र न्यूरनों में बदले । प्रत्येक न्यूरन एक पृथक नाड़ीय इकाई है, जिसके छोर पर बारीक तन्तुओं से बना संगम-स्थल होता है । इस संगमस्थल को अन्तर्ग्रन्थन कहते हैं और इस प्रकार के नाड़ी-तन्त्र को अन्तर्ग्रंथित नाड़ी तंत्र । अब प्राणी शीत, उष्ण, गंध, स्वाद आदि का अनुभव करने लगा और उसके प्रति प्रतिक्रिया भी । फलतः आन्तरिक संप्रेरकों के अतिरिक्त परिवेश के प्रति जैविक प्रतिक्रिया को बाह्य संप्रेरक संचालित करने लगे । संग्राहक और प्रेरक अंगों के मध्य नाड़ीय सूत्रों और अपेक्षाकृत पृथक नाड़ीय इकाइयों के आविर्भाव के उपरान्त विकास क्रम में अगला महत्वपूर्ण कदम था । भीतर आने वाले और बाहर जाने वाले आवेगों की दिशा का नियंत्रण करने के लिए एक केन्द्रीय स्विच बोर्ड का विकास । इस प्रकार के समन्वयकारी उपकरण के अभाव में शरीर के विविध अंग एक दूसरे से नितान्त स्वतंत्र होकर अपना कार्य करते रहे ।"[1] परिवेश के प्रति जैवीय प्रतिक्रिया का तीसरा धरातल था सुषुम्ना-उपकरण का विकास । फलतः उसमें नियंत्रण की क्षमता आ गई । अब वह एक ओर विशिष्ट प्रतिक्रिया में सक्षम हो गया और दूसरी ओर विभिन्न प्रतिक्रियाओं में

---

1. मनोविज्ञान, पृ० 480.

समन्वय स्थापित करने में समर्थ ।

संज्ञाङ्गों से आनेवाले आवेग अभिवाही न्यूरनों में होकर सुषुम्ना में प्रवेश करने लगे और वहीं संयोजक और अपवाही न्यूरनों में अन्तर्ग्रन्थन उत्पन्न होकर एक परिपथ के निर्माण द्वारा पेशियों में प्रतिक्रिया उत्पन्न करने लगे । इससे परिवेश के साथ समंजन तो संभव हुआ किन्तु संज्ञाङ्गों से प्राप्त संवेदनों की उत्तरोत्तर जटिलता ने समन्वयकारी नाड़ी संस्थान को भी जटिलतर बना दिया । फलतः सुषुम्ना का ऊपरी कुछ जटिल नाड़ी तंत्र के रूप में बदल गया जो सुषुम्ना को नियंत्रित करने लगा । इसका नाम रखा गया मस्तिष्क । पुनः इस मस्तिष्क के विकास के भी चार धरातल हुए :—

(1) मेंडुला (हृदय और श्वांस की गति का कुछ अंशों में नियंत्रक)

(2) लघु मस्तिष्क (अनेक पेशियों के समन्वित कार्य कलाप का नियंत्रण जैसे दौड़ना तैरना आदि) ।[1]

(3) थैलेमस (संवेगों का प्रधान केन्द्र जहाँ शारीरिक एवं संवेगात्मक संप्रेरकों से उत्पन्न नाड़ीय आवेग का संग्रहालय तथा हृदय का संचालक) ।

(4) प्रमस्तिष्कीय वल्कुटा (कार्टेक्स) भूख प्यास आदि आवेग तथा भय आदि संवेग के नियंत्रण, नियमन एवं अनियोजन का प्रधान केन्द्र)।[2]

---

1. Fundamentals of Modern Psychology, Pages 134, 135, 136.

2. (प्रमस्तिष्कीय कार्टेक्स के) करोड़ों न्यूरनों का विन्यास नाड़ीय आवेगों की दिशा का नियंत्रण करता रहता है ।इस स्विच बोर्ड का कार्य करने के अतिरिक्त कार्टेक्स के न्यूरन, जो कुछ उनके ऊपर घटित होता है, उससे परिवर्तित भी होते रहते हैं । ××× हम जब जब अपने सम्मुख प्रस्तुत समस्याओं का समाधान अतीत की अपनी अनुभूति की सहायता से करने की चेष्टा करते हैं तब तब इसी प्रकार का नूतन विन्यास घटित होता है । — मनोविज्ञान, पृ० 491.

अब प्राणी की मूल प्रवृत्तियों द्वारा संचालित एक बँधी हुई प्रतिक्रिया का अन्त हुआ । नाड़ी तंत्र में आनुवंशिकता से प्राप्त पगडंडियों का स्थान परिस्थिति के अनुकूल बनने बिगड़ने वाले परिपथों ने ले लिया, और प्रमस्तिष्कीय वल्कता द्वारा विभिन्न उच्चकोटिक मानसिक व्यापारों का विकास हो चला, जिसका चरम विकसित रूप हमें मानव में (उसके साहित्य, सभ्यता और संस्कृति में) दृष्टिगोचर होता है । "मनुष्य का व्यवहार इतना संपरिवर्तनीय उसके संयोजक ऊतकों की अनुकूलन क्षमता के कारण है, जिससे वह नैसर्गिक प्रवृत्तियों का दास न बना कर व्यक्तिगत अनुभूति के आधार पर निर्मित आदतों वाला प्राणी बन जाता है । उसकी यही संपरिवर्तनशीलता, उसकी विपुल आविष्करण क्षमता, उसकी भाषा और उसके चिंतन के रूपों का मूल स्रोत है। उसीसे केवल वह अतीत और वर्तमान की बात सोचकर ही नहीं वरन् अपेक्षित भविष्य का विचार करके भी प्रतिक्रिया कर पाता है ।"[1]

स्पष्ट है कि प्रमस्तिष्कीय कार्टेक्स समस्त व्यापारों का केन्द्र है । वह संग्राहक क्षेत्रों से आनेवाले संवेदनों कोप्राप्त करके उनके अनुरूप संचालक आवेगों का प्रसारण करता है । हाइपोथैलेमस से प्राप्त संवेगों का नियंत्रण भी वही करता है, और इन सब से बढ़कर अपने संयोजक न्यूरनों द्वारा सम्बन्धात्मक और समन्वयात्मक क्रियाएँ करता है, जिन्हें हम स्मृति, तर्क, विचार आदि के रूप में अनुभव करते हैं । सुषुम्ना के निचले छोर से वल्कता तक का नाड़ी तंत्र एक इकाई बन जाता है और उसका संचालक होता है प्रमस्तिष्क ।

मानव के बुद्धि विकास ने उसमें परिवेश के प्रति अधिक सही प्रतिक्रिया तथा अधिक संतुलित समायोजन करने की क्षमता प्रदान की । फलतः संग्राहक, संप्रेरक तथा संयोजक तीनों धरातलों पर चेतना का विकास हुआ और समाज के साथ समंजन स्थापित करने की प्रक्रिया से ये तीनों धरातल अनेक परिवर्तनों एवं परिवर्धनों के साथ विकास को प्राप्त होने लगे ।

---

1. मनोविज्ञान, पृ० 482-83.

तीनों धरातलों पर चलने वाला मानवीय व्यापार अत्यन्त संक्षिप्त है । ग्रन्थि-स्राव आदि जैसे भीतरी संप्रेरक प्राणी में भूख तथा काम जैसी प्रेरणाओं से तनाव उत्पन्न कर देते हैं और संग्राहक अनुकूल साधन ढूंढने में व्यस्त हो जाते हैं । भूख में नासिका भोजन की गन्ध सूंघती है । आँखें खाद्य पदार्थ की ओर अपलक लगी रहती हैं और कान प्रत्येक खटपट का अर्थ निकालने में व्यस्त रहते हैं । स्वभेव यौन ग्रन्थि स्राव की दशा में नासिका नारी शरीर में पद्मिनी की गंध का अनुभव करती है, विकार नैना रिझावनहार रूप पर निछावर हो जाते हैं और कान कंकन किंकिनि नूपुर की ध्वनि में डूब जाते हैं ।

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि पहले संग्राहक बाह्य उद्दीपनों से प्रभावित होकर आन्तरिक उद्दीपनों को (प्रेरकों को) उत्तेजित करते हैं । बिना भूख के भी प्रिय भोजन की गंध से आमाशय में आकुंचन तथा मुंह में लार एवं मादक वातावरण में तुलसी के उद्वेलन पूर्ण आकर्षण से नाड़ी तंत्र में तनाव और औचक काम ग्रन्थि स्राव अननुभूत नहीं है ।

संग्राहकों या आन्तरिक प्रेरकों द्वारा उत्पन्न चलवती शारीरिक प्रेरणाओं एवं तज्जन्य नाड़ीय आवेग के कार्टेक्स के संयोजक क्षेत्र में पहुंचने पर करोड़ों नाड़ी -पथ उन आवेगों का दिशा निर्धारण करते हैं । सामाजिक समंजन के कारण निर्मित ये नाड़ीय परिपथ यह बतलाते हैं कि इस समय यह भोजन ग्राह्य है या नहीं, यह नारीगम्या है या नहीं किन्तु आवेग की तीव्रतम स्थिति में उसका कार्टेक्स के दिशा निर्देशन के साथ संघर्ष होता है । ऐसी स्थिति में यदि व्यक्ति की इच्छाशक्ति प्रबल है तो बल्पना की तर्कना एवं विचारणा की विजय होती है अन्यथा शारीरिक आवेग हावी हो जाते हैं । यही बात सांवेगिक प्रेरणाओं के सम्बन्धों में भी सत्य है । सामान्यतः कार्टेक्स उन आवेगों की दिशा का नियंत्रण करने का प्रयास करता है, यदि समंजन और नियंत्रण हो पाता है तो संवेग शांत हो जाते हैं अन्यथा अनिवार्यतः एक अंधी प्रतिक्रिया होती है ।

बाह्य जगत से सम्बन्धित संग्राहकों (ज्ञानेन्द्रियों) से जब कोई उद्दीपक टकराता है तो ये संलग्न नाड़ी तन्तुओं में ऊर्जा का विसर्जन करते हैं । जो नाड़ीय आवेग संग्राहक पथों में से हो कर गुजरते हैं, उन्हें हम संवेदन कहते हैं । इन संवेदनों के संप्रेरक या संयोजक क्षेत्र में पहुंचने के लिए अवधान आवश्यक होता है । हमारे ध्यान देने पर ही संग्राहक संवेदन को हमारी चेतना में संप्रेषित करते हैं और इसेर सहयोग के लिए सचेष्ट हो जाता है । इसे ही संग्राहक समायोजन तथा शारीरिक समायोजन कहते हैं ।

हमारे अवधान के अर्थों में संवेदन ऊर्जा के आवेग के रूप में यात्रा करते हुए कार्टेक्स में प्रतिमा या प्रतिबिम्ब के रूप में पहुंचते हैं, वहां कार्टेक्स अपने पूर्व संचित बिम्बों के साथ नवागंतुक बिम्बों को समायोजित करने का प्रयास करता है जिसे स्मरण कहते हैं । यदि स्मृति प्राप्त बिम्बों को पूर्व संचित संवेदन बिम्बों के साथ जोड़ सके तो अभिज्ञान या पहचान की क्रिया सम्पन्न हो जाती है और फिर स्मृति (साहचर्य) एक अनुस्मृत अनुभव के माध्यम से दूसरे अनुभव का भी स्मरण कराती है ।[1] गुलाब का फूल सामने देख कर और उसकी गंध सूंघकर हम पहचान लेते हैं कि यह गुलाब है किन्तु कभी-कभी ऐसा होता है कि गुलाब सामने नहीं होता केवल कहीं से गंध आ रही होती है और हम जान लेते हैं कि गुलाब कहीं पास ही फूल रहा है। फिर और आगे बढ़कर उसी गन्ध के सहारे हमें गुलाब के बाग में बिताया हुआ कोई मधुर दिन याद आ सकता है।इसे प्रतीकात्मक व्यापार कहते हैं । उस गुलाब से अतीत में जो कुछ सम्बद्ध रहा है वह सब इस व्यापार के माध्यम से उभर सकता है ।[2]

कभी कभी कुछ संकेतों के माध्यम से ही अपनी अतिपरिचित वस्तु को पहचान लेते हैं । एक शब्द, एक संकेत, एक इशारा, एक पदचाप, न जाने

---

1. मनोविज्ञान, पृ0 321.
2. वही, पृ0 321.

कितने भावों को झकझोर कर जगा सकता है और न जाने कितनी सोई स्मृतियों को सजग कर सकता है ।[1]

ऐसा भी हो सकता है कि प्राप्त संवेदन हमारे लिए बिल्कुल नया हो और पूर्व संचित संवेदनों से उसकी संगति न बैठ सके तब अनेक स्मृतियाँ उसके अभिज्ञान एवं समायोजन के लिए उसके चारों ओर भीड़ लगा लेती है और संवेदन अत्यन्त संक्षिप्त हो उठता है । इस प्रकार के संक्षिप्त संवेदन सुखात्मक अथवा दुःखात्मक अनुभूति के जनक होते हैं । कोमल रुई सुखात्मक अनुभूति उत्पन्न करता है और कर्कशघात दुःखात्मक । सौंदर्य का चाक्षुष संवेदन सुखात्मक है तो घृणित का दुःखात्मक । संग्राहक से प्राप्त संवेदन तो एक ही प्रकार की अनुभूति उत्पन्न कर सकते हैं, किन्तु जिन संवेदनों का सम्बन्ध हमारी प्रकृति या संस्कारों से जुड़ जाता है, वे एक ही प्रकार के संवेदन सुखात्मक अनुभूति भी दे सकते हैं और दुःखात्मक भी ।

यह भी सम्भव है कि हम ऐन्द्रिक संवेदनों से मात्र सुख दुःखात्मक अनुभूति प्राप्त करके रह जायें और यह भी हो सकता है कि उनसे हमारे प्रवृत्ति के संप्रेरक क्षेत्र उद्दीप्त हो उठें । ये संप्रेरक चार प्रकार के होते हैं —

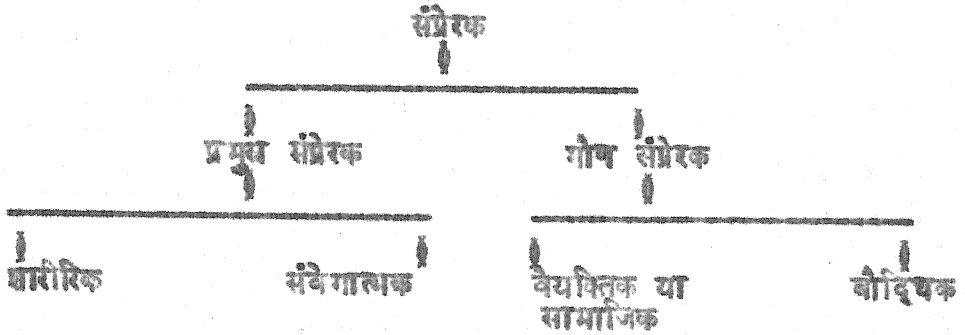

---

1. मनोविज्ञान की भाषा में इसे अल्पीकृत संकेतों के माध्यम से 'प्रत्यक्षीकरण' कहते हैं । — मनोविज्ञान, पृ० 397.

जैसा कहा जा चुका है "शारीरिक प्रेरकों से तात्पर्य उन दशाओं से है, जो प्राणी को क्रियाशील होने के लिए विवश कर देती हैं । वे प्राणी को क्षुब्ध करती है यानी उसके भीतर एक तनाव और दबाव उत्पन्न कर देती हैं । प्रेरक किसी अपरितृप्त आवश्यकता का परिणाम होता है। आवश्यकता को परितृप्त कर देने से, जैसे क्षुधार्त प्राणी को आहार देने से, तत्सम्बन्धी तनाव का परिहार हो जाता है या उसमें कमी आ जाती है ।"[1] तनाव के इस परिहार के लिए "जो विभिन्न पदार्थ (आहारादि) परिस्थिति (जैसे परिवर्तित तापमान) और व्यापार (जैसे उत्सर्जन आदि) साधनों का कार्य करते हैं, उन्हें प्रवर्तक या लक्ष्य विषय कहते हैं ।"[2] इन प्रवर्तकों से संचालित व्यक्ति प्रेरणा से युक्त हो जाता है। "शारीरिक प्रेरकों से उत्पन्न क्रियाशीलता स्वतः अंधी हो सकती है, किन्तु प्रेरणा से उत्पन्न क्रियाशीलता में एक दिशा होती है, अतः प्रेरक तो भीतर से धक्का मात्र देते हैं किन्तु प्रेरणा में किसी सार्थक दिशा में भेजने वाला धक्का निहित रहता है ।"[2] शारीरिक आवश्यकताओं के मूल प्रेरक आन्तरिक भी हैं और बाह्य भी । व्यक्ति रुचि एवं सामाजिक मर्यादा से प्रचलित बुद्धि इन प्रेरकों का नियमन करती है । शारीरिक संप्रेरकों में प्रौन संप्रेरक सर्वाधिक वर्जनाओं के कारण अत्यन्त जटिल है जिस विषय में जितनी वर्जना होगी उस विषय में समायोजन उतना ही जटिल होगा ।

"संवेग और संप्रेरणा के लिए प्रयुक्त होने वाले अंग्रेज़ी शब्दों 'इमोशन' और 'मोटीवेशन' का मूल एक ही है । लैटिन भाषा के 'इ मूवर' का अर्थ है क्षुब्ध करना, विचलित करना, उत्तेजित करना अथवा गति देना । संवेगात्मक अर्थ में गति युक्त होने का अर्थ है क्षुब्ध किया जाना ।××× कभी कभी संवेग

---

1. मनोविज्ञान, पृ० 107.
2. वही ।
3. वही ।

हमें केवल क्षुब्ध ही नहीं करता बल्कि स्वयं अपने को क्षुब्ध करने के लिए हमें विवश करता है। इसके अतिरिक्त यह हमें ऐसी बातें कहने और करने के लिए प्रेरित करता है जैसी हम सामान्यतया न [redacted] कहते हैं न करते हैं।"[1] संवेग भी प्राणी को ऊर्जा प्रदान करते हैं किन्तु एक तो वे आवेगों की भाँति निश्चित समय पर अपने-आप प्रकट नहीं होते दूसरे उनका उद्भव परिस्थिति सापेक्ष होता है।" संवेग से अभिभूत प्राणी अपने सर्वांग में उत्तेजित होता है, उसी स्थिति में उसके संज्ञाहक, पेशियाँ, आन्तरिक इन्द्रियाँ और नाड़ी संरचनाएँ एक साथ क्रिया-प्रतिक्रिया करती हैं जिससे रक्त की रासायनिक दशाएँ, मस्तिष्क की तरंगों में तथा शरीर-क्रियात्मक अनेक परिवर्तन घटित होते हैं।"[2]

शारीरिक एवं संवेगात्मक व्यवहारों के सामाजिक अनुकूलन के लिए सामाजिक प्रेरणाएँ अर्जित करनी पड़ती हैं। मनुष्य जितना व्यक्तिगत अनुभव से सीखता है उससे अधिक सामाजिक दाय से। ये सामाजिक प्रेरणाएँ सामान्य भी होती हैं और विशिष्ट भी। विशिष्ट सामाजिक प्रेरणाएँ सामाजिक परिवेश और संस्कारों की देन हैं। इसके अतिरिक्त व्यक्तिगत प्रेरणाएँ भी होती हैं जो व्यक्ति की रुचियों एवं संस्कारों से प्रभावित होती हैं। यह रुचियाँ और संस्कार भी उसकी आनुवंशिकता तथा परिवेश के आधार पर निर्मित होती हैं।

इस प्रकार सीखने की प्रक्रिया द्वारा जिसका एक ओर यदि सरल अनुक्रियाओं में है तो दूसरा चिंतन और गवेषणा जैसे जटिलतम उच्च मानसिक व्यापारों में प्रेरणाओं का समायोजन व्यक्ति ने अपनी बुद्धि के क्रमिक विकास द्वारा किया है। बुद्धि उसकी चेतना की संयोजक धरातल की अभिष्टात्री देवी है। बुद्धि का प्रमुख व्यापार है— विचारणा। "विचारणा की प्रक्रिया प्रतीकों का अनुक्रमित

---

1. मनोविज्ञान, पृ० 142.

2. वही, पृ० 156.

जागरण है । ××× हम प्रतीकों द्वारा विचार करते हैं और प्रतीक अतीत के अनुभव के प्रतिनिधि होते हैं । प्रतीक शब्द, मुद्रा, भाव-भंगी या प्रतिबिम्ब सभी कुछ हो सकते हैं ।"[1] हम अपने अनुभव में आये हुए जगत के विविध पक्षों का पुनर्विन्यास और उपयोग करते हैं । "विचार हम प्रतिधारित विगत अवगमन के आधार पर ही करते हैं किन्तु हम अपनी विचार प्रक्रिया से पूर्व में अज्ञात वस्तुओं का ज्ञान भी प्राप्त करते हैं - - - - विचार की प्रक्रिया द्वारा सीख सकने की संभावना के कारण मनोवैज्ञानिकों ने विचार को अवगमन की उच्चतर प्रक्रिया की संज्ञा दी है ।"[2]

सर्जनात्मक कल्पना और नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा (प्रतिभा) इसी जागतिक अनुभव के पुनर्विन्यास, उपयोग, समायोजन आदि द्वारा अभिनव कला सृष्टि एवं वैज्ञानिक आविष्कार में सफल होती है ।

विचारणा की भी आधार शिला है, तर्कना । यही एक ओर उसे अनुस्मरण से अलग करती है, तथा दूसरी ओर स्वैर कल्पना से । किसी विशेष उद्देश्य से प्रेरित होकर प्रतीकों का सुव्यवस्थित और क्रमबद्ध अनुस्मरण ही तर्कना है । "यह किसी ऐसी समस्या को सुलझाने के लिए विगत अनुभवों को सम्मिश्रित करता है, जिसको पुराने समाधानों की पुनरावृत्ति मात्र से हल नहीं किया जा सकता ।[3] जब हम पुरातन के माध्यम से किसी नवीन को पाना चाहते हैं तो विविध पक्षों के प्रति जिज्ञासा, मूल्यांकन, संतुलन एवं प्रति विधान तर्कना के माध्यम से ही करते हैं ।

तर्कना के माध्यम से ही हमें प्रत्यय प्राप्त होते हैं जो विचारणा के लिए बहुत उपयोगी होते हैं । "प्रत्यय विविध पदार्थों, स्थितियों अथवा घटनाओं

---

1. मनोविज्ञान, पृ० 338, 339.
2. वही, पृ० 339.
3. वही, पृ० 340.

में समानता का प्रतिनिधान करनेवाली एक प्रक्रिया है । ××× किसी भी जटिल भाषा के अधिकांश शब्द प्रत्ययों के वाचक होते हैं । मुख, कुत्ता, द्रव, सुन्दरता जैसे सहस्रों शब्द एक-दूसरे से भिन्न वस्तुओं में सर्वनिष्ठ अभिन्न लक्षणों के परिचायक हैं । प्रत्ययों के विकास के लिए सार संग्रह (obstruction) और सामान्यीकरण (Generalisation) इन दो प्रक्रियाओं की आवश्यकता होती है । ××× सार संग्रहण अन्यथा भिन्न वस्तुओं में समानता का प्रक्षेपण करना है । ××× विभिन्न अनुभूतियों से किसी एक धर्म को ग्रहण कर सकना सामान्यीकरण है ।"[1]

तर्कना द्वारा निर्मित प्रत्यय तो विचारणा में सहायक होते ही हैं, इनके अतिरिक्त स्मृत प्रतिमाएँ और बिम्ब भी विचारणा के आवश्यक उपकरण हैं । विचारणा का पथ प्रशस्त करने के लिए तर्कना बिम्बादि की नूतन समायोजना प्रस्तुत करती है । कभी-कभी नूतन समायोजना के समंजन के लिए भी तर्कना सहायक होती है । प्रतीक रूप बिम्बादि का बोध भाषा के माध्यम से होता है अतः विचारणा के लिए भाषा एक अत्यन्त महत्वपूर्ण उपकरण है । इसीलिए विचारणा को प्रायः 'नियंत्रित वाणी', 'अनौपचारिक संलाप' या मानसिक भाषात्मक क्रियाकलाप माना जाता है ।"[2]

कभी-कभी विचार भी संप्रेरक हो सकता है, किन्तु वह किसी प्रत्यक्ष क्रिया को जन्म नहीं देता अपितु हमारी धारणा विचारणा या तर्कना को उत्तेजित करता है । इस प्रकार विचारणा मानव चेतना का उच्चतम विकास-बिंदु है ।

सर्जनात्मक विचारणा के चार सोपान हैं – तैयारी, प्रयास, अन्तः प्रेरणा और सत्यापन । इसका संप्रेरक अधिकतर कोई विचार ही होता है या फिर कोई जिज्ञासा या प्रश्न । उसके उपकरणों में प्रत्ययों की प्रधानता होती है ।

---

1. मनोविज्ञान, पृ० 354-55.
2. वही, पृ० 352.

वह अमूर्त होती है । दूसरी ओर सर्जनात्मक कल्पना प्रायः शारीरिक, सांवेगिक या सामाजिक संप्रेरकों से उद्बुद्ध होती है और उसके उपकरणों में बिम्बों और प्रतिमाओं का बाहुल्य रहता है । वह मूर्त होती है । इतना होने पर भी दोनों परस्पर संश्लिष्ट हैं। किसी सृष्टि या निर्माण में दोनों का समान महत्व है ।

अतः संक्षेप में कह सकते हैं कि मानव-चेतना-प्रवाह परिवेश के साथ समायोजन के फलस्वरूप हो रहा है ।

जहाँ तक विस्मय-तत्व का प्रश्न है वह मूलतः संवेग रूप है जो कभी-कभी कार्य, कारण एवं सहकारी के योग से स्थायित्व प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है । यह संवेग रूप विस्मय-तत्व मात्र संवेदन है जिसका प्रत्यय सुखात्मक भी हो सकता है और दुःखात्मक भी । यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि जो नाड़ीय आवेग संग्राहक पथों से होकर गुजरते हैं उन्हें संवेदन कहते हैं।ये संवेदन दो प्रकार के हो सकते हैं – एक वे जिनका समायोजन कार्टेक्स में पूर्वसंचित बिम्बों के साथ सरलता से हो जाता है और स्मृति उन नवागन्तुक बिम्बों का समायोजन एवं प्रत्याभिज्ञान या पहचान की क्रिया सम्पन्न कर देती है और चेतना विश्रान्त हो जाती है; अथवा अनुस्मरण का चक्र चल पड़ता है तथा न जाने कितनी प्रसुप्त स्मृतियों (संवेदन बिम्बों) का संसार सजग हो उठता है । दूसरी – वे जिनकी संगति पूर्व संचित बिम्बों के साथ नहीं बैठ पाती । ऐसे अजनबी बिम्बों के समायोजन के लिए कार्टेक्स में संचित अगणित बिम्ब एक साथ सक्रिय हो उठते हैं।ऐसी स्थिति में एक ओर बिम्बों के अगणित योगायोग संवेदन को अत्यन्त संश्लिष्ट बना देते हैं दूसरी ओर चेतना विस्मय (अद्भुत) लोक में विचरण करने लगती है क्योंकि अपूर्व वस्तु का प्रतिभान ही तो अद्भुत है ।"[1] चूँकि संवेदन का चेतना में संक्षोभ एवं तदनुकूल शारीरिक प्रतिक्रिया का मूल कारण अवधान (ध्यान) है और संवेदन का

---

1. 'अपूर्व वस्तु प्रतिभान अद्भुतम्' ।

दूसरा भेद विस्मयजनक है अतः यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि चेतना प्रवाह में विस्मय का उपलब्धि केन्द्र अवधान ही है । अतः अवधान का विश्लेषण यहाँ उपयुक्त ही है । अवधान के प्रमुखतः तीन रूप प्राप्त होते हैं :—

(1) सायास,

(2) अभ्यासजन्य, तथा

(3) अनायास ।

(1) "जब हम प्रयत्न करके देखते या सुनते हैं तब अवधान को सचेष्ट या सायास कहा जाता है ।"[1] रुचि, संस्कार आदि के अभाव में जहाँ बरबस अवधान केन्द्रित किया जाता है, जैसे परीक्षा उत्तीर्ण करने की विवशता में अरुचिकर पाठ या पुस्तक का अभ्यास ।

(2) अभ्यास जन्य :— मनुष्य आदतों की सृष्टि है । निरन्तर अभ्यास अनुभव एवं योग के कारण संवेग नाड़ी तन्त्र में साँचे ढले परिपथ में दौड़ पड़ता है, और हम उन उद्दीपनों को ग्रहण करने के लिए सदैव तत्पर रहते हैं । जब बान पड़ जाती है, तथा लत लग जाती है, तब छूटना (अवधान का प्रवृत्ति प्रतिरोध) कठिन हो जाता है ।

(3) अनायास :— "जब स्थितियाँ और उद्दीपक बरबस हमारा ध्यान आकर्षित कर लेते हैं चाहे हम उसके लिए तैयार हों या नहीं, तब अवधान को अनायास कहा जाता है ।"[2] जहाँ तक अवधान के अनायास रूप का प्रश्न है वह स्थितियों एवं उद्दीपकों के हठात् आकर्षण का परिणाम है । अतः इस प्रकार के उद्दीपक आदि का विस्मयजनक होना अनिवार्य हो जाता है ।

---

1. मनोविज्ञान, पृ० 379.

सायास अवधान में विस्मय तत्व को भी सायास खोजना पड़ेगा । रही आवश्यक की बात, वह निरन्तर अभ्यास के कारण स्वाभाविक चेष्टा या प्रवृत्ति का रूप धारण कर लेता है पर इससे यह न मान लेना चाहिए कि उसमें आकर्षण का तत्व क्षीण हो ही जाया करता है और यह असंभव नहीं कि प्रवृत्तिगत अवधान सामान्य में सहसा असामान्य का दर्शन कर सके और वह हमें विस्मय के साम्राज्य में लाकर खड़ा कर दे ।

उपर्युक्त अवधान के निर्धारक तत्व दो हैं :—

(1) बाह्य उद्दीपन, तथा
(2) व्यक्ति की आन्तरिक दशाएँ ।

"अवधान के बाह्य निर्धारकों में महत्वपूर्ण है उद्दीपक दशाओं की प्रकृति, स्थान और नूतनता ।"[1] यह देखा गया है कि शब्दों की अपेक्षा तस्वीरें और जड़ वस्तुओं के चित्र की अपेक्षा मनुष्यों के चित्र अधिक ध्यान आकर्षित करते हैं और सामान्य वर्णन की अपेक्षा कोई तुकान्त पंक्तियाँ ध्यान अधिक आकर्षित करती है ।"[2] तीव्रता भी बड़ी शीघ्रता से ध्यान आकर्षित करती है "एक बहुत ही चमकता हुआ प्रकाशित चिह्न अथवा ध्वनि प्रसारक की आवाज़ ××× तीव्र, गन्ध, तीव्र स्वाद, दबाव पीड़ाएँ और विशेषकर जब ये किसी पूर्वगामी उद्दीपन के तत्काल बदलने पर प्राप्त हों, हमारा ध्यान आकृष्ट करती हैं ।"[3] विरोध भी अवधान को केन्द्रित करने में सहायक होता है । यह विरोध रंगों का टाइप का, शब्दों का, अर्थों का, किसी भी प्रकार का हो सकता है । "यदि सब बातें समान हों तो स्थिर वस्तु की अपेक्षा

---

1. मनोविज्ञान, पृ० 379-380.
2. वही ।
3. वही ।

गतिमान विषय की ओर हमारा ध्यान अधिक जाता है ।"[1] आकृति या आवर्तन भी ध्यान आकृष्ट करने में महत्वपूर्ण योग देता है ××× लेकिन एक सीमा के परे इस पुनरावृत्ति का प्रभाव कम होने लगता है क्योंकि अन्ततः ऐसा हो सकता है कि उस उद्दीपन की अत्यधिक पुनरावृत्ति के कारण हम उसके आदी हो जायें और फिर हमारा ध्यान उसकी ओर न जा सके ।"[2] इस प्रकार की आवृत्ति के साथ नूतनता का योग आवश्यक है क्योंकि नूतनता अवधान के लिए एक बहुत बड़ा सहारा है । "परिचित ध्वनियाँ, गन्ध और स्वाद प्रायः हमारा ध्यान आकर्षित नहीं कर पाते लेकिन एक नयी ध्वनि, गन्ध अथवा स्वाद की ओर हमारा ध्यान तत्काल चला जाता है ××× कोई भी नयी वस्तु परिचित और पुरानी वस्तुओं से भिन्न होने के कारण अर्थात् विशेष के कारण ही ध्यान आकर्षित कर पाती है ।"[3]

यदि बाह्य निर्धारकों को एक शब्द में कहना चाहें तो उन्हें 'नूतनता' में ही समाहित करना पड़ेगा । तीव्रता एक सापेक्ष शब्द है — प्रकाश, ध्वनि, गन्ध, स्वाद, दबाव, एवं पीड़ा आदि की तीव्रता का अर्थ है पूर्वानुभव की अपेक्षा मात्रात्मक या गुणात्मक आधिक्य ⅓ । यह आधिक्य ही वस्तु में या बोध में अनोखापन, वैचित्र्य या नूतनता का आघात करता है । जहाँ तक साहित्य का प्रश्न है, उसमें 'नवनवोल्लेखशालिनी प्रतिभा' का व्यापार होता है । काव्य में ललितोचित सन्निवेश चारुत्व और कुछ नहीं विन्यास-विशेष (अपूर्व) की ही भव्यता है; सौन्दर्य भी नित्य नूतनता का नामान्तर है । इसीलिए आचार्यों ने 'अनवीकृतत्व' को काव्य में दोष माना है ।

---

1. मनोविज्ञान, पृ० 379-380.
2. वही, पृ० 379-380.
3. वही, पृ० 380-381.

यह तो निर्विवाद सत्य है कि 'बाह्य निर्धारक उसी सीमा तक हमारा ध्यान आकर्षित करने में सफल होते हैं, जिस सीमा तक वे हमारे स्थायी विन्यासों या आन्तरिक निर्धारकों पर निर्भर होते हैं । ××× ये आन्तरिक निर्धारक ××× हमारी मौलिक प्रेरणाओं से उत्पन्न होते हैं ।"[1]

इन आन्तरिक निर्धारकों का प्रसव करनेवाली मौलिक प्रेरणायें मूलतः अभाव एवं अतृप्ति से सक्रियता ग्रहण करती हैं । इनके अतिरिक्त औत्सुक्य,[2] जिज्ञासा आदि को भी मौलिक प्रेरणाओं का संचालक कहा जा सकता है, किन्तु जहां तक मैं समझता हूं औत्सुक्य में अभाव एवं अतृप्ति जैसी नकारात्मक उपलब्धि के विरुद्ध भाव एवं तृप्ति की ओर उन्मुख करने वाली एक सहज प्रतिक्रिया है, जिसमें आवेग की अतिशयता का भाव अधिक मुखर है । कभी-कभी संतृप्त प्राणी में भी औत्सुक्य के दर्शन होते हैं किन्तु ऐसे अवसरों पर भी जन्मान्तरीय स्नेहानुबन्धी अनुभूति वर्तमान के अभाव को चटुलता ही प्रदान करती है ।"[3] यद्यपि आज का विज्ञान-विश्वासी मनुष्य जन्मान्तर में विश्वास नहीं करता पर उसके मर्म को भी यह श्लोक स्पर्श करता है, इसमें संदेह नहीं । इसका क्या कारण है ? स्पष्ट ही इसका कारण रम्य वस्तु या मधुर शब्द के प्रति मानव हृदय की सहज उत्सुकता है जो चिरन्तन है और जिसका सम्बन्ध उसकी संवेदना से है ।"[4]

---

1. मनोविज्ञान, पृ० 381.
2. वुडवर्थ ने अजनबीपन और उत्सुकता को भी अनुभूति की एक विधा माना है । – साहित्यकोश, पृ० 30, अनुभूति ।
3. रम्याणिवीक्ष्य मधुरांश्चनिशम्यशब्दान् ।
   पर्युत्सुकीभवति यत्सुखितोऽपिजन्तुः ।।
   तच्चेतसास्मरति नूनमबोधपूर्वं ।
   भावस्थिरादिजननान्तरसौहृदानि ।। – अभिज्ञानशाकुन्तलम् अंक 5 श्लोक 2.
4. कल्पना और छायावाद : केदारनाथ सिंह, पृ० 34.

रही जिज्ञासा की बात, इसका आधार बौद्धिक धरातल है । अतः जिज्ञासा एक ओर अभाव एवं अतृप्ति के कारण-कार्य की मीमांसा द्वारा ज्ञेय को निरावृत्त करती है, तो दूसरी ओर पूर्ति एवं संतुष्टि के प्रति सक्रियता की भूमिका बना देती है । कौन ? क्यों ? कैसे ? ये प्रश्न जहाँ भी उपस्थित होते हैं वहाँ अवधान बुद्धि को केन्द्र-बिन्दु बनाकर प्रवृत्ति या निवृत्ति का निर्णय करता है ।

मूल बात यह है कि हम अपने संस्कार परिवेश, रुचि आदि से प्रतिबद्ध होकर संग्राहकों से सम्बन्धित प्रत्येक वस्तु अथवा व्यक्ति के प्रति अवधान के क्षणों में चेतना का प्रक्षेपण करते हैं। परिणामतः पुनः पुनः अनुसंधानात्मा रूप विभावन व्यापार उस वस्तु या व्यक्ति में संस्कारादि के अनुरूप राग-द्वेषादि का समावेश कर देता है । अब उस समुपरंजित वस्तु-व्यक्ति को चेतना बन्धु-मित्र-मध्यस्थ रूप सम्बन्ध के माध्यम से ग्रहण करती है । तदनन्तर विवेकवती बुद्धि के नियंत्रण और अनुशासन में तदनुकूल प्रवृत्ति का उदय होता है और हम शत्रु के त्याग, मित्र के संग्रह तथा मध्यस्थ की उपेक्षा के प्रति सक्रिय सचेष्ट हो जाते हैं ।[1] ऐसी दशा में हमारी मानसिक वृत्ति तत्तत्सम्बन्धों के अनुरूप राग, द्वेष एवं उदासीनता भाव के साँचे में ढल जाती है ।

ऊपर जो कुछ कहा गया है, उससे स्पष्ट है कि सक्रियता के उद्गम-स्रोत अथवा प्रवर्तक ये ही राग, द्वेषादि हैं । बहुसंख्यक विद्वानों का यही मत है । न्यायसूत्र के प्रणेता महर्षि गौतम ने समस्त क्रियाकलाप का प्रेरक दोषों को

---

1. 'सत्रु, मित्र मध्यस्थ तीनि ये, मन कीन्हें बरिआई ।
त्यागन, गहन, उपेच्छनीय, अहि हाटक तृन की नाईं ।।'
— विनय पत्रिका, पद सं० 124 : तुलसी ।

बतलाया है[1] और पुनः उस दोष के (क) राग, (ख) द्वेष, (ग) मोह रूप में तीन भेद किये हैं ।[2] 'वात्स्यायन' ने मोह को ही राग द्वेषादि का कारण माना है । अतः उनकी दृष्टि में प्रवर्तक धर्म मोहप्रेरित रागद्वेष ही है ।[3] बात यह है कि दार्शनिक दृष्टि में किसी वस्तु या व्यक्ति के प्रति अनुकूलता का भाव और तदनुसारी रागात्मक आकर्षण तथा प्रतिकूलता की धारणा और परिणाम में द्वेषात्मक विकर्षण मिथ्या ज्ञान (मोह) जन्य ही तो है । तत्वज्ञान की अनुपलब्धि के कारण ही राग-द्वेष रहते हैं । उन्होंने इनके अवान्तर भेद भी प्रस्तुत किये हैं जो आलेख रूप में निम्नांकित है :—

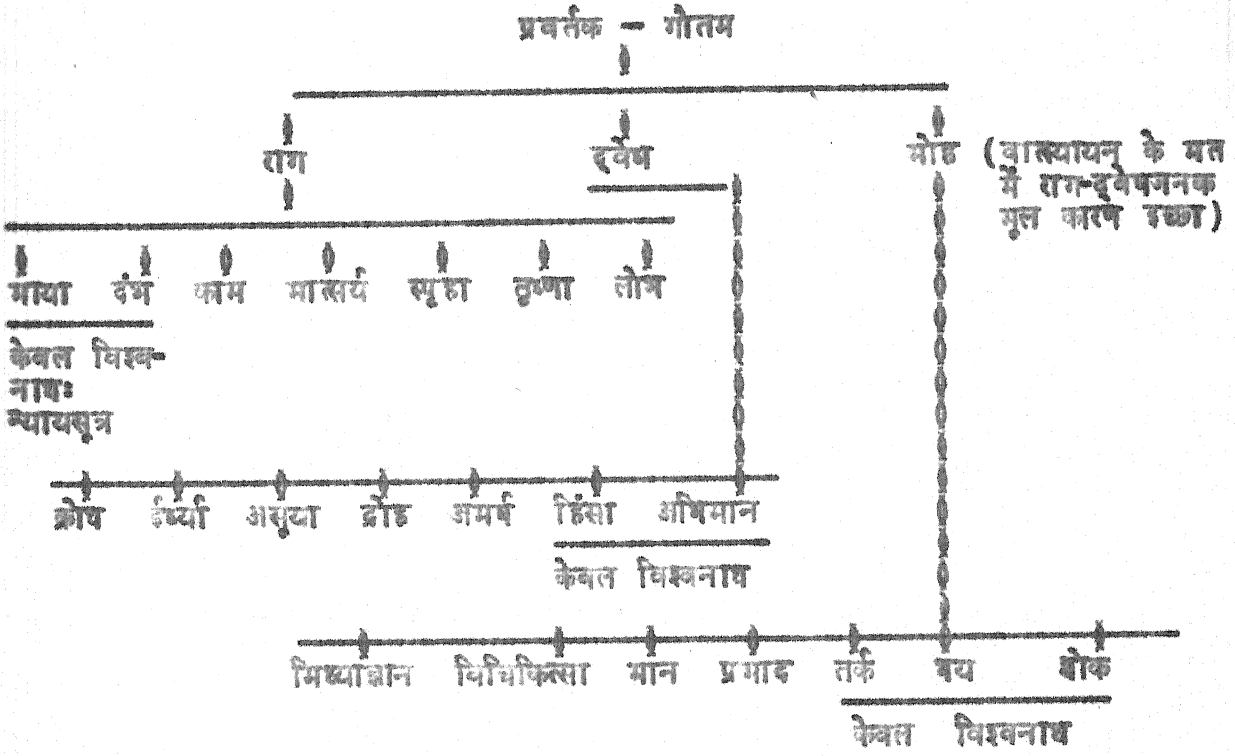

1. 'प्रवर्तना लक्षणो दोषः' – न्यायसूत्र 1/1/18.
2. 'तत् त्रैराश्यम् रागद्वेष मोहार्थान्तर - - ' – वही, 4/1/3.
3. 'आतरम् हि रागादयः प्रवर्तयन्ति पुण्ये पापे वा' – न्यायसूत्र भाष्य, वात्स्यायन 1/1/18 'यत्र मिथ्याज्ञानम् तत्र रागद्वेषौ' वही ।

वात्स्यायन के मत में सारे संवेग मोह अथवा मिथ्या ज्ञान से उत्पन्न होते हैं, जो मानसिक असंततन रूप है । वैशेषिक दर्शन में प्रशस्त पाद ने समस्त प्रवर्तकों को इच्छा और द्वेष इन दो वर्गों में बांटा है। संक्षेप में इस मत का आलेख निम्नलिखित है :—

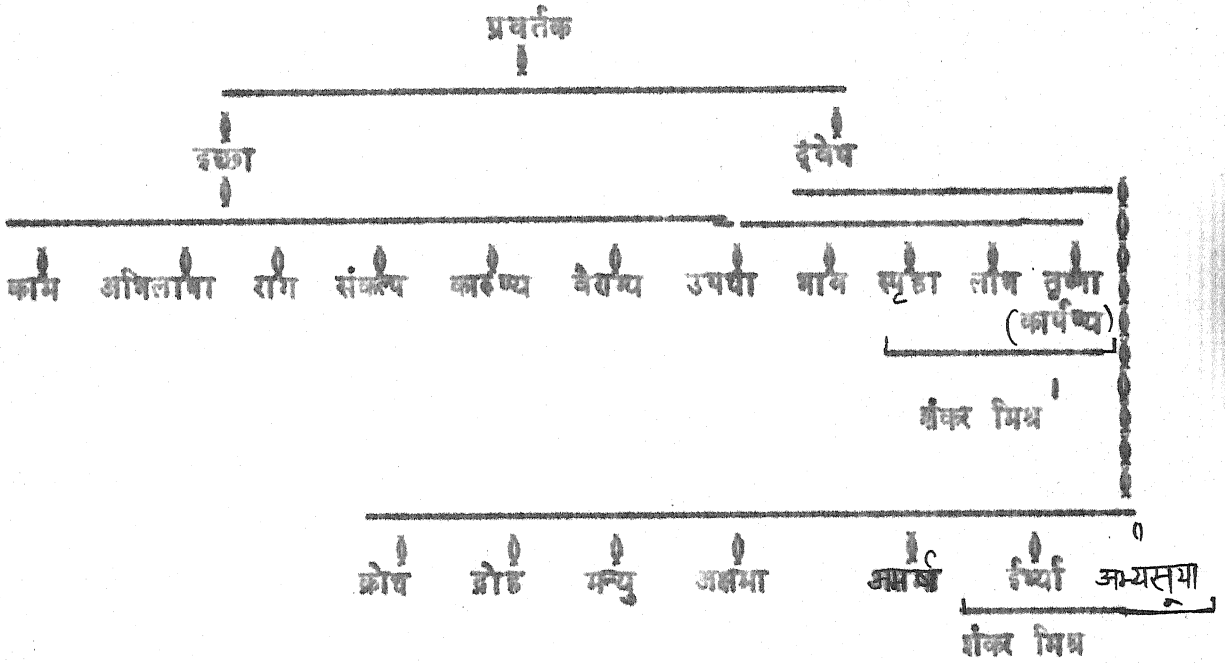

योगशास्त्र अविद्या को मूल कारण मानता है । (बाह्य जगत् के चेतन एवं अचेतन तत्व जो आनन्द के आलम्बन हैं शरीर जो आनन्द का रथ है, तथा मन जो आनन्दोपलब्धि के लिए अन्तरिन्द्रिय है, उसे आत्मा मानना अविद्या है) । अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश इन पांचों को अविद्याख्य 'क्लेश' मानता है । इनमें अविद्या से अस्मिता और अस्मिता से राग-द्वेष अभिनिवेश उत्पन्न होते हैं । राग यदि आकर्षण है तो द्वेष विकर्षण[1] । ये विधि और विरोधमूलक हैं किन्तु निवृत्तिमूलक तथा मुक्ति के अनुकूल कार्य व्यापार का प्रवर्तक अभिनिवेश (मृत्युभय) ही है ।

---

1. 'कणादरहस्य के प्रणेता ।

उपनिषद त्रिविध एषणाओं को महत्व देकर इच्छा को मूल प्रवर्तक मानता है[1] तो शंकराचार्य उसे 'वासना' नाम देते हैं तथा उसके आत्म-अनात्म दो भेद करते हैं तथापि वे भी मूलतः एषणा को ही मानते हैं ।

बौद्ध सिद्धांत तृष्णा को प्रवर्तक मानता है जो काम तृष्णा, भव तृष्णा एवं विभव तृष्णा भेद से तीन प्रकार की है । जैनों ने भी रागद्वेष और मोह को प्रवर्तक माना है । उन्होंने संवेगों के अकषाय एवं कषाय दो भेद किये हैं । साथ ही उन्होंने संज्ञाओं को भी स्वीकार किया है ।

अकषाय (संवेग) के 9 भेद हैं — हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुंवेद, नपुंसक वेद ।

कषाय (आवेग) के 4 भेद हैं — क्रोध, मान, माया और लोभ ।

संज्ञा (चेतना) भी चतुर्विध है — आहार संज्ञा, भय संज्ञा, मैथुन, परिग्रह । चार्वाक भी त्रिविध एषणाओं को प्रवर्तक मानते हैं । इस प्रकार सभी दर्शनों के अनुसार इच्छा-रागद्वेष (अथवा संवेग, आवेग एवं चेतना) समस्त व्यवहारों के प्रवर्तक हैं। मेरी समझ में महर्षि पतंजलि का राग-द्वेष अभिनिवेश अधिक उचित है क्योंकि राग-द्वेष लौकिक व्यवहार के प्रवर्तक हैं तथा अभिनिवेश आध्यात्मिक उन्नति का ।

---

1. 'एतमेवेतम् आत्मानम् विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाः वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थाय भिक्षाचर्यां चरन्ति ।"

— बृह० उप० 3/5/1.

रागमूलक अवधान एवं विस्मय-तत्त्व :

इतने विवेचन के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि रागमूलक अवधान तब उत्पन्न होता है, जब व्यक्ति या वस्तु के प्रति अनुकूलता का बोध आलम्बन को अभिन्नता की परिधि में लाकर खड़ा कर देता है और हम उसकी संग्रहणीयता के प्रति सचेष्ट होते हैं। इसी प्रकार द्वेष (विराग) प्रतिकूलता बोध की दशा में शत्रुत्वमूलक त्याज्य भाव से प्रभावित होता है तथा वह प्राप्य की वर्जना एवं प्राप्त अनिष्ट के निवारण में सक्रिय होता है इन दोनों के बीच की भी एक स्थिति है जिसे हम तादस्थ्य या औदासीन्य (अवधानहीनता की स्थिति) कह सकते हैं किन्तु वस्तुतः यह निष्क्रिय उदासीनता नहीं है । इस औदासीन्य में चेतना प्रवाह राग-विराग — इन दो कूलों को संस्पर्श करता प्रवाहित होता है । यदि यह राग के तट को छू कर चलता है तो कुतूहल की संज्ञा प्राप्त करता है और यदि विराग के कूल से टकराता है तो उपेक्षा भाव में परिणत हो जाता है । यदि और गहराई में उतर कर देखें तो मनोविज्ञान के संश्लिष्ट संदर्भ में मात्र कुतूहल राग की वृत्ति संभव नहीं दिखायी देती । शास्त्रकारों ने 'सुन्दर वस्तु के दर्शन (वर्जनादि) के प्रति मन की चंचलता को कुतूहल'[1] कहा है । हम विवेचन के लिए सौन्दर्य दर्शन को ही लेते हैं । इसका मूल उद्वेरक काम है । हाँ, यह काम कुंठित भी हो सकता है और परिष्कृत भी । वर्जना नियंत्रित भी हो सकता है और निरर्गल भी । ऐसी दशा में कुतूहलमूलक अवधान के पीछे अवचेतन में कुछ सुगबुगाता रहता है । प्रसादजी के शब्दों में यह 'कुतूहल' व्यस्त भाव से 'हृदय सत्ता के सुन्दर सत्य' को खोजता रहता है ।[2] नूतनता

---

1. 'रम्यवस्तु समालोके लोलतास्याद् कुतूहलम्' — सा०द०.
2. ' कुतूहल खोज रहा था व्यस्त,
हृदय सत्ता का सुन्दर सत्य।। — कामायनी, श्रद्धा सर्ग, पृ० 51.

अवधान का सर्वोत्तम निर्धारक है और यह नूतनता – साधारण से कुछ अतिरंजित कुतूहल की सृष्टि करती है और गति में यदि मधुर लय हो तो अवधान का केन्द्रित हो जाना सुलभ ही होता है, और प्रसन्नता का प्रसाद भी मिलता है ।[1] कामायनीकार ने सौंदर्य को 'चेतना का उज्ज्वल वरदान' कहा है । जिसमें एक ओर स्मरण और अनुस्मरण की क्रिया चलने लगती है,[2] और जिसमें मन के सुख दुःख मिलाकर आनन्द में परिणत हो जाते हैं। यह सौन्दर्य चाहे चेतन में हो या अचेतन में हम इसकी उपासना में तल्लीन हो जाते हैं और धीरे-धीरे हृदय की उस अतल गहराई में पहुंच कर 'सुन्दरता के परदे में छिपे किसी अन्य धन' की खोज में व्यस्त हो जाते हैं ।[3] हम जानते हैं कि सौंदर्यमयी चंचल कृतियां स्वयं रहस्य बन कर नाचती रहती हैं और उनका गत्वर सौन्दर्य कुछ क्षण के लिए हमारी आंखों को झटका लेता है पर भीतर से जैसे कोई कहता है कि यह सब छाया और उत्क्षण है । नीरवता के परदे में से कोई कुछ बोलने लगता है, कानों में मधु की धारा उड़ेलता है, हृदय के मरु अंचल में अन्तः सलिला की धारा यह निकलती है संज्ञा सो जाती है[4] और दूर से वंशी (नाम समेतं कृत संकेतं वादयते मृदु वेणुम्) का स्वर उन्मत्त बना देता है फिर तो रहस्य का आवरण हटा देने के लिए – घूंघट का पट खोलने के लिए आतुरता

---

1. साधारण से कुछ अतिरंजित गति में मधुर लय सी । ××× एक विशेष प्रकार कुतूहल ××× प्रसन्नता से नाच उठा मन नूतनता का लोभी ।"
   — कामा० कर्म सर्ग, पृ० 115.
2. उज्ज्वल वरदान चेतना का सौंदर्य जिसे सब कहते हैं ।
   जिसमें अनन्त अभिलाषा के सपने सब जगते रहते हैं ।
   — वही, लज्जा सर्ग, पृ० 102.
3. इस सुन्दरता के परदे में क्या अन्य छिपा कोई धन है?— वही ।
4. वही, काम सर्ग, पृ० 66–68.

बढ़ जाती है । ऐसी दशा में कुतूहल मौन नहीं रह सकता। इसीलिए कविगण विशेषतः अचेतन सौंदर्य का वर्णन करते समय कहीं मानवीय भावों और व्यापारों का आरोप करते हैं, तो कहीं पृष्ठभूमि अथवा वातावरण की सृष्टि करते हैं । अनुभूति की तह तक पहुँचने के लिए साम्य और वैषम्य के आधार पर अनेक अलंकारों का विधान भी करते हैं । वियोग की दशा में प्राकृतिक सौंदर्य दर्शन केवल सादृश्य दर्शन के कारण मन बहलाने की क्रियामात्र है ।[1] अतः कुतूहल राग की अवचेतनगत अनुभूति के उद्रेक में सहायक होता है ।

तटस्थ यदि विराग की कोटि का संस्पर्श करता है तो उपेक्षा(विवेकमयी सुसंस्कृत वर्जना) अथवा निरपेक्ष भाव में परिणत हो जाता है । उपेक्षा भाव द्वेष्य के अकिंचित्करत्व या अपनी सामर्थ्य की अतिशयता के बोध से होता है, तथा निरपेक्षभाव अतिशय आवृत्ति अथवा अभाव स्वं अतृप्ति की अनुपस्थिति में आकांक्षाहीन और परिणामतः निष्क्रिय होने से होता है । ऐसी स्थिति चिरतृप्ति के कारण भी होती है, घोर निराशा के कारण भी और अपनी अक्षमता के बोध के कारण भी ।

अब राग-विराग पर भी विचार कर लेना चाहिए । श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार 'इन्द्रियों का इन्द्रियों के विषयों के प्रति राग-द्वेष व्यवस्थित' होता है ।[2] मधुसूदनाचार्य ने राग को विषय के प्रति रंजनात्मक चित्तवृत्ति विशेष कहा है, जिसमें अभीष्ट आनन्दप्रद आलम्बन के प्रति विशेष आकर्षण तथा प्राप्ति

---

1. यत्कन्नेत्रसमान कान्ति सलिले मग्नं तदिन्दीवरम् ।
   मेघैरन्तरितः प्रिये तवमुखच्छायानुकारीशशी ।।
   येऽपित्वद्गमनादविन्नगतयस्तेराजहंसागताः ।
   त्वत्सादृश्यविनोदमात्रमपि मे दैवेन न क्षम्यते ।।

2. 'इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ' — गीता, अ02, श्लोक-56.

की प्रबल आकांक्षा होती है । उसमें विषय के प्रति अखण्ड अवधानता रहती है।[1] केशव कश्मीरी ने इच्छित वस्तु के प्रति आसक्ति को राग कहा है । यह न केवल प्राप्ति में आनन्द योग रूप है, अपितु प्राप्त की रक्षा के लिए भी उद्यत बनाने में समर्थ है ।[2] अतः अप्राप्त की प्राप्ति रूप (योग) तथा प्राप्त की रक्षा रूप (क्षेम) की दिशा में राग सक्रिय होता है, विराग इसके सर्वथा विपरीत है ।

हम ऊपर कह चुके हैं कि नूतनता अवधान का मुख्य निर्धारक है और यही नूतनता विस्मय-तत्त्व का प्रमुख परितोषक भी है । नूतनता से विस्मय, विस्मय से आकर्षण तथा आकर्षण से राग का एक व्यवस्थित क्रम है । वस्तुतः विराग में भी (प्रक्रिया) यही होती है । उसमें भी नूतनताजन्य अवधान एवं तज्जन्य विस्मय की उपलब्धि तो होती है, किन्तु स्थान, प्रकृति, रुचि, संस्कार, परिस्थिति आदि के कारण न तो हम आकर्षण स्वीकार करते हैं न विराग के साथ समायोजन ही । अतः यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि राग-विराग, आकर्षण-विकर्षण दोनों के मूल में प्रेरक तत्त्व-विस्मय है ।

---

1. (क) रागो विषयेषु रंजनात्मकश्चित्तवृत्ति-विशेषोऽत्यन्ताभिनिवेश रूपः ।

— मधुसूदनी गीता, अ० 2, श्लोक- 56.

(ख) रागः सदा तदाभिनिविष्टरूपोऽभिष्वंगः ।

— वही, 17/5.

2. Kesava Kasmiri also defines attachment as attraction (Asakti) for the objects of desire. It is in the nature of intense delight in the objects of enjoyment which has already been attained, attended with a desire that they be never destroyed. Attachment is intense delight in cherished possessions accompanied by a desire for perpetual enjoyment of them.

- Indian Psychology Emotion and Will, Part II, Page 102.

बुद्धि तत्त्व : एक विवेचन :

जैसा पहले कहा जा चुका है, बुद्धि चेतना धरातल की अधिष्ठात्री देवी है । बुद्धि, मन और अहंकार इस चेतना की तीन प्रावस्थाएँ मात्र हैं ।[1] क्योंकि ये तीनों मूल रूप में एक हैं और एक ही प्रज्ञान (चेतना) के भिन्न-भिन्न नाम हैं । ऐतरेय उपनिषद् के अनुसार संज्ञान, आज्ञान, विज्ञान, प्रज्ञान, मेधा, दृष्टि, धृति (धारणा), मनीषा (कल्पना), जूति (अनुभूति), स्मृति, संकल्प, क्रतु, असु, काम, वश ये सब प्रज्ञान के ही नाम (पर्याय) हैं ।[2] महाभारत[3] के अनुसार – मनुष्य की आत्मा बुद्धि है । यही बुद्धि जब किसी विशेष भाव से[4] संयुक्त हो जाती है, तब उसीको मन कहते हैं । वेदांत के अनुसार मन, बुद्धि, अहंकार तथा इन्द्रियों से नियंत्रित आनुभविक आत्मा की जीव संज्ञा है । यही जीव ज्ञाता भोक्ता तथा कर्ता है । बुद्धि के कारण ज्ञाता, भाव से संयुक्त मन के कारण भोक्ता तथा अहंकार से विमूढ़ होने के कारण कर्ता है । सांख्य दर्शन के अनुसार अनुभूति संकल्प एवं व्यापार बुद्धि के धर्म हैं, जिन्हें आत्मा पर आरोपित किया जाता है । सुख दुःखादि मानस भाव हैं जो पुरुष में मात्र प्रतिबिम्ब के रूप में भासते हैं ।[5] योगवाशिष्ठ में प्रतिबोधना, स्मृति, कल्पना,

---

1. 'बुद्धिर्यमोऽहंकार इति चेतनस्यैधा' – मैत्रायणी उप० 5/5पृ० 164.
2. 'संज्ञानमाज्ञानं विज्ञानं प्रज्ञानं मेधा दृष्टिर्धृतिर्मनीषा जूतिः स्मृतिः संकल्पः क्रतुरसुः कामोवश इति सर्वाण्येवैतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि ।
– ऐतरेय, 3/2, पृ० 30.
3. 'बुद्धिरात्मामनुष्यस्य बुद्धिरेवात्मनो गतिः ।
यदाविकुरुते भावं तदाभवति सामनः ।।' – महाभारत, शांतिपर्व, 254.
4. 'काम संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धा अश्रद्धा धृतिरधृति - - - -
5. 'प्रतिबिम्बरूपेण पुरुषोऽपि सुखदुखेस्तः
– सांख्य प्रवचन भाष्य, विज्ञान भिक्षु 1/1.

तर्क, संबुद्धित्व आदि अनुभूति के विभिन्न धरातलों को स्वीकार करता है। साथ ही यह मन की पाँच अवस्थाएँ भी प्रतिपादित करता है —

(1) क्षिप्त — जब रजोगुण के प्राबल्य से मन विषय से विषयान्तर की ओर भटकता है,

(2) विक्षिप्त — जब अस्थिर अवस्था में भी किसी विषय में क्षणमात्र के लिए स्थिर हो जाता है ।

(3) मूढ़ — जब तमोगुण के प्राबल्य के कारण प्रमादालस्य निद्रा में निमग्न होता है,

(4) एकाग्र — जब किसी एक विषय पर केन्द्रित हो जाता है ।

(5) निरुद्ध — जब संस्कारों के अतिरिक्त समस्त मानस व्यापार बन्द हो जाते हैं ।[1]

इस प्रकार यह वृत्ति चक्र (मानस व्यापार) एवं संस्कार चक्र अहर्निश चला करता है ।[2]

इस सांकेतिक दार्शनिक विवेचन से इतना तो स्पष्ट हो ही गया कि भावना, प्रतिबोधना, स्मृति, कल्पना, अनुभूति, तर्क एवं सम्बुद्धित्व आदि सभी संज्ञान (बुद्धि) के ही अनेक पक्ष अथवा स्तर हैं। अतः यह सब बुद्धितत्त्व का व्यापार विषय है । वस्तुतः इन सबका समन्वित विश्लेषण साहित्य की सृष्टि में बुद्धितत्त्व के योगदान पर सुन्दर (प्रकाश) डाल सकता है किन्तु यहाँ विवेच्य विषय की सीमा देखते हुए मैं रचना प्रक्रिया में विस्मयतत्त्व के सन्निधापन में बुद्धि का क्या योग है इसी को स्पष्ट करने का प्रयास करूँगा ।

---

1. 'क्षिप्तस्य मूढस्य विक्षिप्तमेकाग्रं निरुद्धमिति चित्त भूमयः'
— योगभाष्य, 1/1.

2. 'वृत्ति संसार चक्रमनिरुद्धमावर्तते' — वही, 1/5.

बौद्धिकता एवं विषय-तत्त्व :

क्षिप्तादि अवस्थाओं में मन का विषय से टकराव होते ही अहंकार से एक अन्धी प्रतिक्रिया का जन्म होता है, किन्तु उसी प्रतिक्रिया को बुद्धि नियंत्रित करके अनुशासन एवं निर्देशन द्वारा संवेदन अथवा अनुभूति का रूप प्रदान करती है । यह अनुभूति सुखात्मक, दुःखात्मक एवं सुख-दुःख निरपेक्ष(तटस्थ) होती है । संज्ञान से अनुभूति और अनुभूति से प्रयत्न की एक प्रक्रिया गतिशील रहती है । इसी प्रकार चिन्तन से संकल्प और संकल्प से व्यापार उत्पन्न होते हैं जो मानसिक, शारीरिक और वाचिक तीनों प्रकार का होते हैं । इस प्रकार आनुभूतिक समायोजन की पृष्ठभूमि में बुद्धि-तत्त्व मूलरूप से सक्रिय होता है किन्तु जीवन की वास्तविक अनुभूति एक भौतिक प्रतिक्रिया का व्यावहारिक पक्ष है, जिसमें व्यक्ति बुद्धि के सहकार से स्व संवेदन विषयक सुख दुःखादि का भोग करता है, एवं सत्तत्व अवस्थाओं के लगाव-विलगाव अथवा तनाव के कारण वैयक्तिक संवेदनानुकूल अहंकार से प्रेरित हो प्रवृत्ति निवृत्ति आदि व्यापार की ओर उन्मुख होता है ।

जहां तक साहित्य की रचना-प्रक्रिया में बुद्धि-तत्त्व के योग का प्रश्न है, उसे स्पष्ट करने से पूर्व यह बता देना आवश्यक है कि साहित्य सृष्टि में भौतिक प्रतिक्रिया का आनुभूतिक पक्ष ही गृहीत होता है। साथ ही उसका भी यथावत् ग्रहण नहीं होता । कवि, मेधा, धारणा, स्मृति आदि के सहयोग से अनुभूत संवेदन को (योगक्षेम विनिर्मुक्त एवं साधारणीकृत संवेदन को) पुनरावृत्ति (विभावना) करता है और उस अनुभूति की सहायता से प्रतिभ कार्य, कारण, सहकारी, (विभावानुभाव संचारी) की सृष्टि करता है ।

ऐसी दशा में कवि अपनी प्रदेय अनुभूति को (चाहे वह कवि की स्वानुभूति हो अथवा कल्पित या आत्म साक्षात अनुभूति हो) बुद्धि के आलोक

में समायोजित करता है और तदनन्तर उसे रूपायित करने का प्रयत्न करता है । चूंकि अभिव्यक्ति रचना का बहिर्मुख विधान है अतः उसे सूक्ष्म से स्थूल की ओर बढ़ना पड़ता है। पहले वह भाव को रूप-प्रदान करता है जो सशक्त होते हुए भी सूक्ष्म शरीर की भांति मात्र स्वसंवेद्य बना रहता है, अब वह अभिव्यंग्य भावादि के अनुरूप शब्द अलंकार आदि की योजना करके एक सर्वजन ग्राह्य स्थूल शरीर (काव्य) का निर्माण करता है जिसमें सूक्ष्म शरीर (भाव) की प्राणप्रतिष्ठा कर दी जाती है । इस प्रकार वाङ्मयी मूर्ति में भावाधिदेव की प्रतिष्ठा ही कविकर्म है । इस प्रक्रिया में समायोजन, सृष्टि, उपादान चयन, रूपायन आदि प्रत्येक स्तर पर बुद्धि सक्रिय रहती है और कवि 'शंभु प्रसाद से प्राप्त सुमति' का वरद पुत्र बन कर ही स्रष्टा का गहनीय पद प्राप्त करता है ।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है काव्यानुभूति सामान्य जीवनानुभूति न होकर भी उसीके समानान्तर एक रागादि विनिर्मुक्त बुद्धि प्रातिभ अनुभूति है। इसीलिए वह जीवन में आबद्ध न होकर भी जीवन्त है और जीवन और जगत की अनुभूतियों की अपेक्षा अधिक उदात्त होती है। ठीक इसी क्रम में भावक को भी कवि की आनुभविक सृष्टि के समानान्तर एक प्रतिसृष्टि करनी पड़ती है।[1] काव्य का बहिरंग (स्थूल) तो वही रहता है, किन्तु भाव की

---

1. बुचर के मतानुसार (अरस्तू के) अनुकरण का अर्थ है – सादृश्यविधान या मूल का पुनरुत्पादन । (मेरे) इसमें सृजन का अभाव नहीं देखता है । याद्स इसका अर्थ अनुभूति का पुनः सृजन मानते हैं । रटक्लिफ ने इसे 'सृजनात्मक दर्शन की क्रिया' कहा है – अरस्तू : अनुकृति का नया अर्थ – आलोचना और आलोचना : डा० बच्चन सिंह, पृ० 6.

प्रतिमूर्ति का निर्माण कर उसे उसी वाङ्मयी मूर्ति में प्रतिष्ठित करना पड़ता है । चूंकि आस्वादन रचना का अन्तर्मुख स्वरूप है अतः वह स्थूल के माध्यम से अपनी भावना के अनुरूप भावाधि देव की उपासना करता है। जैसे कवि की सृष्टि वास्तविक जैसी प्रतीत होती हुई भी कवि विलक्षण होती है। वह वास्तव में काव्य के रस के स्थान पर अपने प्राणों का रस उड़ेल देता है और उसीका आस्वाद करके आनन्द लाभ करता है । यही कारण है कि एक ही काव्य भिन्न-भिन्न प्रकार के भावकों को तदनुरूप आस्वाद प्रदान करता है। हमें इस कथन में बहुत सार नहीं दिखायी पड़ता कि भावक कवि सृष्ट अनुभव बिम्बों के साथ अपने पूर्वसंचित अनुभव बिम्बों का समायोजन करके तदाकार आनुभूतिक आनन्द लाभ करता है क्योंकि भावक के मानस में 'हूबहू' वैसे ही बिम्बों का पूर्व संचित होना संभव नहीं है और यदि वैसे बिम्ब हैं तो वे पुनरावृत्ति के कारण कलात्मक चमत्कार खो देंगे । अतः भावक की आस्वाद प्रक्रिया भी पूर्ण प्रातिभ होने के कारण बुद्धि तत्त्व से सर्वथा अनुस्यूत है।

प्रतिभा[1] एवं विस्मय-तत्त्व :

काव्य के सृजन तथा आस्वाद के विषय में ऊपर जिस प्रतिभा की चर्चा की गयी है, उसके स्वरूप को भी थोड़ा समझ लेना आवश्यक है यह प्रतिभा

---

1. प्रतिभा में दो शब्द हैं — प्रति+ भा । प्रति का अर्थ है मुख्य के समान या मुख्य का प्रतिनिधि और भा का अर्थ है छवि, दीप्ति, (चमक, कान्ति) भास (ज्योति) अथवा व्यक्ति (अभिव्यक्ति) । अतः प्रतिभा का शब्दार्थ है— प्रस्तुत के अनुरूप या प्रस्तुत के प्रतिनिधि रूप में छवि, दीप्ति आदि की सृष्टि करनेवाली अभिव्यंजना शक्ति । इसीको प्रत्यभिज्ञा दर्शन में 'चित्' कहा गया है । चितिः स्वतंत्राविश्वसिद्धिहेतुः स्वेच्छया स्वमित्तौ विश्वमुन्मीलयति। प्रत्यभिज्ञा हृदय सूत्र 1-2. अमरकोश में (प्रज्ञा) 'प्रतिभा' एवं 'चिद्' को पर्याय बताया गया है :— 'बुद्धिर्मनीषाधिषणाप्रज्ञा धीः शेमुषीमतिः । प्रेक्षोपलब्धिश्चित् संवित् प्रतिपज्ज्ञप्तिचेतना।।"

बुद्धि का सर्वश्रेष्ठ एवं सर्वतोमुखी स्वरूप है। इसीको सम्बुद्धि के नाम से भी पुकारा गया है । आचार्य वामन ने इस प्रतिभा को कवित्व का बीज रूप माना है ।[1] अभिनवगुप्त ने भी इसे सृजनशक्ति के पर्याय के रूप में गृहीत किया है ।[2] मम्मट ने प्रतिभा को शक्ति नाम से अभिहित करते हुए भी उसकी वामनानुसारी व्याख्या में कहा है — शक्ति कवित्व का बीज रूप एक संस्कार विशेष है ।[3] पण्डितराज जगन्नाथ ने भी काव्यसृष्टि के मूलकारण के रूप में एकमात्र कविगता प्रतिभा को ही स्वीकार किया है ।[4]

यह कवि की अन्तःशक्ति है। काव्य की सृष्टि में कवि के लिए और अनुभूति में श्रोता के लिए इसकी निर्णायक भूमिका होती है। दर्शन ग्रन्थों में इसे स्वातन्त्र्य, चित्र विमर्श, विवेक आदि अनेक नामों से विवेचित करने का प्रयत्न किया गया है।[5] प्रो० कान्तिचन्द्र पाण्डेय के अनुसार "प्रतिभा रूप पद की आध्यात्मिक धारणा ही प्रतिभा के काव्य रूप का मूल स्रोत है, क्योंकि काव्य प्रतिभा के अन्तर्गत काव्य में व्यक्त होने वाले काव्य तत्त्व[6]

---

1. 'कवित्व बीजं प्रतिभानम्' — काव्यालंकारसूत्र, 1/3/16.
2. 'शक्ति प्रतिभानम्' — ध्वन्यालोक लोचन, पृ० 346.
3. 'शक्तिः कवित्व बीज रूपः संस्कार विशेषः '— काव्यप्रकाश, 1/3.
4. 'तच्च कारणं कविगता केवला प्रतिभा' — रसगंगाधर, पृ० 25.
5. विशेष विवरण के लिए 'रससिद्धान्त और सौंदर्यशास्त्र' निर्मलाजैन का 'सृजन शक्ति' शीर्षक देखिये ।
6. (क) प्रसन्न पदावली नये-नये अर्थों तथा उक्तियों का उद्भावन करने वाली कवि की स्फुरणशील सर्वतोमुखी बुद्धि को प्रतिभा कहते हैं । — वामनालंकार, 1/4.

   (ख) जो (बुद्धि) सार्थक शब्द समूह को, अलंकारतन्त्र को कहने के ढंग को तथा ऐसी ही अन्य बातों को हृदय में प्रतिभासित करती है,

उसी प्रकार अधिष्ठित है जैसे परा प्रतिभा में समस्त पदार्थ अपने अनन्त रूपों के साथ प्रतिबिम्बित होते हैं।[1] यह प्रतिभा समस्त जागतिक पदार्थों के अनन्त वैचित्र्य को अपने गर्भ में धारण करती है ।[2] इस सर्वतंत्र स्वतंत्र प्रतिभा की शक्ति से ही समस्त काव्य जगत आलोकित है। -'नियतिकृत नियमरहिता', 'ह्लादैकमयी', 'अनन्य परतंत्रा' नवरसात्मक कविर निर्माण करने वाली कवि भारती अथवा वरवदर सदृश अखिल विश्व का परिदर्शन करा सकने वाली सूक्ष्म मतिदृषा सरस्वती 'परा प्रतिभा' ही तो है । "अतएव प्रतिभा का कार्य ससीम के द्वारा असीम की, परिमित और प्रत्यक्ष के द्वारा अपरिमित और परोक्ष की तथा ज्ञेय के द्वारा अज्ञेय की अभिव्यक्ति करना है । अलौकिक और आनन्दमयी अभिव्यंजना प्रतिभा का मुख्य कार्य है । ××× 'अनुभूति' को 'पार्थिव', 'आध्यात्मिक' को 'भौतिक', 'आन्तरिक' को 'बाह्य' रूप देना प्रतिभा का कर्तव्य है ।"[3] उपर्युक्त विश्लेषण प्रतिभा के सृजन पक्ष को

उसे प्रतिभा कहते हैं (या शब्दग्रामगर्थसार्थमलंकारतन्त्र मुक्तिमार्गञ्च यदपि-तथाविधमधिहृदयं प्रतिभासयति सा प्रतिभा : राजशेखर : काव्यमीमांसा-अ० 4, पृ० 26-27.

1. The metaphysical conception of parā as Pratibha seems to have been the origin of the poetic conception of Pratibha (Poetic genious) because the poetic genious holds within all the poetic ideas, which find expression in poetry, exactly as parā Pratibha holds, within the endless variety of objects that it manifests.
   - Abhinava Gupta: An Historical Philosophical Study, Page 679.

2. 'तत्तदनन्तवैचित्र्यगर्भमयी - - - -।'
   - परात्रिंशिका विवरण, पृ० 102.

3. साहित्यकोशः हरद्वारीलाल शर्मा, पृ० 470.

प्रतिपादित करता है । आस्वादन पक्ष में अन्तर्मुखी होकर हम अभिव्यक्त ससीम, परिमित प्रत्यक्ष एवं ज्ञेय द्वारा असीम, अपरिमित, परोक्ष एवं अज्ञेय तक पहुंच कर आनन्द लाभ करते हैं। वहां पार्थिव, भौतिक एवं बाह्य में प्रतिष्ठित अनुभूति, आध्यात्मिक एवं आन्तरिक की स्वयंउपलब्धि एवं आस्वादन की प्रतिभा ही सम्पन्न करती है । अतएव आचार्यों ने कविगत प्रतिभा को 'कारयित्री एवं भावकगत प्रतिभा को 'भावयित्री' कहा है, एक सृजन में उपस्कारक है और दूसरी आस्वाद में ।[1] प्रतिभा से अनुप्राणित होने के कारण ही कवि की वैयक्तिकता 'स्व' से उठकर एक सार्वभौम धरातल का संस्पर्श करने लगती है, फलतः उसके चित्त विस्तार से प्राप्त अन्तर्दृष्टि का मर्मभेदी विस्तार अन्तर्गर्भित तत्व तथा सत्य का साक्षात्कार कराने में समर्थ होता है । तभी तो आनन्दवर्द्धन का कथन है कि –"उस आस्वादमय अर्थ-वस्तु को परिप्लावित करती हुई महाकवियों की सरस्वती अलोक सामान्य (लोक में यथावत् अलभ्य) स्फूर्तिमन्त (जीवन्त) प्रतिभाविशेष (प्रतिभाविशेष के कर्तृत्व) को अभिव्यक्त करती है ।"[2] जब सरस्वती की ऐसी प्रतिभ-स्फुरणा होती है, तब कवि स्वयं भी चमत्कार एवं उल्लास से भर जाता है वह अपने को, अपने आवेग को रोक नहीं पाता और उसकी भावधारा उमड़ती हुई सुभग सरिता की भांति निर्बन्ध रूप से बह निकलती है ।[3]

---

1. (क) साच द्विधा कारयित्री भावयित्री च । कवेरुपकुर्वाणाकारयित्री ।
   – काव्यमीमांसा : राजशेखर : पृ० 29.
   (ख) 'भावकस्योपकुर्वाणा भावयित्री' '' वही, पृ० 31.
2. 'सरस्वती स्वादुतदर्थ वस्तु निःष्यन्दमानामहतां कवीनाञ्च ।
   अलोक सामान्यमभिव्यनक्तिपरिस्फुरन्तञ्च प्रतिभाविशेषञ्च ।।'–ध्वन्या० 1/6.
3. (क) 'उमड़कर नैनों से चुपचाप बही होगी कविता अनजान' – पंत
   (ख) 'चली सुभग कविता सरिता सो ।' –तुलसी, मानस, बालकांड ।
   (ग) Poetry is the spontaneous over flow of powerful feelings.
   – Wordsworth.

इसी क्रम में आयरिश उपन्यासकार एवं कला-चिन्तक जाइस कैरी के विचार (उनकी पुस्तककला और बालविकला के आधार पर) डा० निर्मला जैन ने इस प्रकार प्रस्तुत किये हैं —"कलाकार सदैव एक ऐसे अनुभव से सृजन आरंभ करता है, जो एक प्रकार का अन्वेषण होता है । इस अनुभव पर बड़ अनुभव के बोध के साथ आता है । बल्कि यह कहना अधिक संगत होगा कि यह अनुभव कलाकार के सम्मुख अन्वेषण के रूप में प्रकट होता है । कलाकार को यह चकित करता है । इसीको प्राय: सहजानुभूति या प्रेरणा कहा जाता है ।××× इसका आगमन सदैव रहस्योद्घाटन या आलोक के अवतरण के रूप में प्रकट होता है । ××× वस्तुत: सहजानुभूति ही नहीं बल्कि स्वयं अभिव्यंजना भी निरन्तर अन्वेषण की वस्तु है और इस अन्वेषण की प्रक्रिया भी पर्याप्त दीर्घ और जटिल होती है । सहजानुभूति से अभिव्यंजना तक का संक्रमण एक प्रकार का अनुवाद है । यह अनुवाद एक भाषा से दूसरी भाषा में ही नहीं बल्कि अस्तित्व की एक अवस्था से दूसरी अवस्था में, अदृश्य से सृजन में, नितान्त वैक्तिक्य प्रभाव से वृहद प्रतिफलन में अनुवाद है ।"[1]

इसमें सहजानुभूति एवं अभिव्यंजना दोनों को अन्वेषण की वस्तु स्वीकार किया गया है तथा इनके आगमन में रहस्य के निरावरण एवं प्रकाश के दर्शन का भाव चित्रित किया गया है । यदि ये कलाकार को विस्मय विमुग्ध करके उसे रूपायन की ओर उन्मुख करते हैं तो सहृदय को लोकोत्तर चमत्कार से परिपूर्ण । स्रष्टा अनुभूति को काव्य के रूप में अनूदित करता है और भावक अनुवाद के माध्यम से अनुभूति का आकलन ।

अत: प्रतिभा-तत्त्व का मर्मभेदी प्रसार क्षेत्र ही विस्मय तत्त्व का व्यापार क्षेत्र है।यह समंजस निष्कर्ष सुलभ ही प्राप्त हो जाता है ।

---

1. रससिद्धान्त और सौंदर्यशास्त्र । डा० निर्मला जैन । पृ० 403-404.

इस प्रतिभा का सबसे महत्वपूर्ण कार्य है नवनवोन्मेष । राजशेखर ने बुद्धि के तीन प्रकार बतलाये — स्मृति, मति और प्रज्ञा । अतिक्रान्त (विगत) का स्मरण करनेवाली बुद्धि स्मृति है, वर्तमान का मनन करनेवाली मति तथा भविष्यदर्शिनी बुद्धि का नाम प्रज्ञा है ।[1] इसी प्रज्ञा को भट्टतौत ने प्रतिभा कहा है — 'नये-नये भावों के उन्मेष से युक्त प्रज्ञा को प्रतिभा कहते हैं ।[2] यहाँ नवनवोन्मेष का अर्थ है पूर्वानुभव के आधार पर अपूर्व की सृष्टि अथवा प्रत्यक्ष के आधार पर परोक्ष का दर्शन । इसीलिए महिमभट्ट ने इस प्रतिभा को भगवान का तीसरा नेत्र स्वीकार किया, जिससे त्रैलोक्यवर्ती (त्रिकालवर्ती) भावों का साक्षात्कार होता है[3] तभी तो कहा गया है कि प्रतिभा-हीन के लिए दृश्य पदार्थ भी परोक्ष सा है और प्रतिभावान के लिए अनदेखा भी प्रत्यक्ष सा ।[4]

यह प्रतिभा सरस्वती का प्रज्ञावतार है । इस रहस्यमयी शक्ति का स्फुरण दो रूपों में होता है। इसका पहला रूप सहृदयता है जो भावमयी आनन्दरूपिणी परा संवित है । प्रज्ञा के स्तर पर अनुभूति एवं बोध के माध्यम से आत्मपरातल का विकास एवं विस्तार सहृदयता का ही कार्य है । संकीर्ण व्यष्टिपरिधि का विस्तार उसकी विराट् सत्ता के साथ एकात्मता स्थापित करनेवाली

---

1. 'त्रिधा च सा, स्मृतिर्मतिः प्रज्ञेति । अतिक्रान्तस्यार्थस्यक्रमवर्तिस्मृतिः । वर्तमानस्य मंत्रीमतिः । अनागतस्य प्रज्ञात्री प्रज्ञा । सा च त्रिप्रकारापि कवीनामुपकर्त्री ।' — का०मी०, अ० 4, पृ० 24.
2. 'प्रज्ञानवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभामता' भट्टतोत (औचित्य विचार चर्चा में 35 वीं कारिका की व्याख्या में क्षेमेन्द्र द्वारा उद्धृत ।)
3. 'सा हि चतुर्भगवतस्त्रैलोक्याभिलगीयते ।
   येन साक्षात्करोत्येव भावांस्त्रैलोक्यवर्तिनः ॥'—व्यक्तिविवेक, 2/118.
4. 'अप्रतिभस्य पदार्थसार्थः परोक्ष इव । प्रतिभावतः पुनरपश्यतोपि प्रत्यक्ष इव' — का०मी०, पृ० 27.

तथा अखण्ड आनन्द की उपलब्धि कराने वाली सहृदयता ही तो है । इसका दूसरा रूप कल्पना है जो विशुद्ध उन्मीलन कला है । इस शक्ति की स्फुरणा से ही कवि निरन्तर अभिनव सृष्टि के अभिसृजन में समर्थ होता है । यह अभिसृजन बाह्य उपादानों से नहीं होता । इसके माध्यम से कवि के आत्मायतन में विश्राम करनेवाली प्रतिभारूपिणी वाक् का आश्रय लेकर स्वयं अर्थ रूपी शिव का प्रादुर्भाव होता है । फलतः काव्य रूप में ज्ञान, अनुभूति और कला की त्रिवेणी प्रवाहित होने लगती है, जो जीवन के अमृत्य का प्रक्षालन करती हुई निरन्तर संस्कार, परिष्कार और उपकार में लगी रहती है । अतः स्पष्ट है कि सम्पूर्ण काव्य सृष्टि कवि प्रतिभा की ही अनन्त मर्मच्छवियों का असीम विस्तार है जो चेतना के प्रत्येक धरातल पर अनन्त विस्मय (चमत्कार) का सृजन करने में समर्थ है । शब्दार्थ में अयत्ननिर्वर्त्य सौंदर्य की स्फूर्ति एवं नवीन चमत्कारकारी उन्मेष अज्ञात प्रतिभा का ही कार्य है ।

कल्पना और विस्मय-तत्व :

ऊपर कहा जा चुका है कि कल्पना सारस्वत प्रतिभा (उन्मीलन कला) की स्फुरणा का नाम है । जिसमें साहित्य की अनन्त सृजनशक्ति छिपी हुई है । यह कवि की योगमाया है, जिसका आश्रय लेकर वह स्वयं ही अपने को अनन्त रूपों में अवतीर्ण कराता है । यह कल्पना ही है जो भाव विचार एवं कला के योगायोग से नित-नूतन अनन्त मर्मच्छवियों के निर्माण में समर्थ होती है । इसका एक चरण यदि धरती से सम्पर्कित रहता है तो दूसरा अनन्त अछोर अन्तरिक्ष में लीन रहता है । इसीलिए वह अनन्त विरोधाभासी स्थितियों में सत्य और तथ्य के विभिन्न आयामों का संस्पर्श करती हुई उसमें 'तिल में तेल' या 'चकमक की आग' की तरह सर्वात्मना व्याप्त रहती है । डा० केदारनाथ सिंह ने कहा कि भाव के स्तर पर दृष्ट वस्तुओं में अदृष्ट

सम्बन्ध सूत्रों को खोज निकालने वाली मानस क्रिया का नाम कल्पना है ।[1] किन्तु मेरी समझ में इसका स्पन्दन कहीं एक ओर दृष्ट में अदृष्ट का अनुसंधान करता है (बौद्धिक चेतना का विस्तार करता है) वहीं अदृष्ट को भी दृष्ट की सीमा में बाँध लाने के लिए रूपात्मक सृजन करता है । इसीलिए बुद्धि से अनुभूति तक और यथार्थ सत्य से सम्भाव्य सत्य तक अपनी परिधि का विस्तार करने वाली कल्पना शक्ति ही कवि में उस सामर्थ्य को जन्म देती है जो विस्मयावह काव्य की सृष्टि का मूलकारण है । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार "सारा रूप विधान इसी प्रक्रिया से होता है । कवि के भाव-लोक में अनुप्रविष्ट हुई अन्तर्दृष्टि रूपिणी प्रातिभ कल्पना एक ओर यदि भावलोक के मधुकोष से अन्तस्चमत्कारपूर्ण रस की सृष्टि और वृष्टि करने में समर्थ होती है तो दूसरी ओर अभिव्यक्ति के साधन रूप शब्द और अर्थ को नयी भास्वरता प्रदान करते हुई अनन्त चिन्तन का क्षितिज खोल देती है । इतना ही नहीं वाग्वैदग्ध्य एवं उक्ति वैचित्र्यपूर्ण सूक्ति एवं सुभाषितों में तथा चित्रकाव्यों के रेखा-जालिक चमत्कारों में भी कल्पना ही सक्रिय रहती है । शुक्लजी के मत में यह कल्पना एक प्रकार का भावयोग है जो कर्मयोग और ज्ञानयोग के समकक्ष है । उनका कथन है कि 'उपासना' भावयोग का ही एक अंग है । पुराने धार्मिक लोग उपासना का अर्थ 'ध्यान' ही लिया करते हैं। जो वस्तु हम से अलग है, हमसे दूर प्रतीत होती है, उसकी मूर्ति मन में लाकर उस के सामीप्य का अनुभव करना ही उपासना है । साहित्यवाले इसी को 'भावना' कहते हैं और आजकल के लोग कल्पना ।"[2]

हम पहले कह ही चुके हैं कि अभिनवता विस्मय की सृष्टि का मूल रहस्य है । काव्य में यह अभिनवता कल्पना के विलय का ही परिणाम है । चूंकि

---

1. कल्पना और छायावाद : डा० केदारनाथ, पृ० 2.
2. रसमीमांसा, पृ० 20-21.

कल्पना को उच्छिष्ट या गायी हुई रागिनी प्रिय नहीं, इसलिए हर आवृत्ति में वह अनुभूति के नये आयाम का उद्घाटन करती है । उक्ति के अनूठे, अछूते एवं हृदयग्राही प्रयोग और रूप-सौंदर्य की अप्रतिम सृष्टि इसी का लोकोत्तर चमत्कार है । इसीलिए काव्य का संसार नितनूतन होकर भी चिर अक्षय बना हुआ है ।

इसकी प्रक्रिया यों है कि अन्तः संस्कार एवं वैयक्तिक परिवेश से सम्पन्न व्यक्तित्व जब बाह्य यथार्थ के साथ क्रिया-प्रतिक्रिया करता है, तो कवि की अनुभूति, जिसमें अवधारणाओं, स्मृतियों एवं प्रभावों के अनन्त संसार समाहित हैं, उसकी संश्लेषात्मिका अथवा विद्वद्भाषयमी समायोजनात्मिका मानसी क्रिया के फलस्वरूप एक सम्भवनामूलक दृश्य बन्ध में परिवर्तित हो जाती है । परिणामतः चेतना की तरंगिणी प्रभाव-सृष्टि एवं प्रभाव-ग्रहण के दोनों छोरों का स्पर्श करती हुई स्पन्दित होने लगती है । ऐसे क्षणों में आशा, आकांक्षा, तृप्ति, अतृप्ति, उत्कण्ठा-अवसाद, उल्लास विषाद आदि के असंख्य संवेदन अहमहमिकापूर्वक अभिव्यक्ति के लिए आतुर हो उठते हैं । इसके लिए सक्रिय कवि कल्पना, मूर्ति-विधान, बिम्ब-योजना, प्रतीक, औपम्य, उक्ति-वैचित्र्य चमत्कार आदि का आश्रय लेकर अन्तर की आकुल अनुभूति को रूपायित करने में तल्लीन हो जाता है।

इस प्रकार कल्पना का प्रमुख कार्य भावोद्बोधन, भावोद्रेक एवं उदात्त भाव का रूपायन है। इसके साथ ही वह सत्य को भी अपने मूल चारुत्व के साथ प्रस्तुत करने के लिए बौद्धिक अनुशासन स्वीकार करती हुई तथ्य, व्यापार या चिंतन की मनोहारिणी, कार्य-कारण शृंखला की भी उद्भावना करती है ।

काव्य की रमणीय उक्ति जहाँ अपनी सरसता में हृदयग्राहिणी होती है, वहीं कल्पना के अलंकरणों से प्रस्तुत साधारण सी उक्ति मोहक बन जाती है ।

प्रेम की अनुभूति जीवन में एक नयी चेतना भर देती है। यह एक सार्वजनीन अनुभव है ; किन्तु कल्पना का शृंगार पाकर उसका आकर्षण कितना मनोहारी हो जाता है, इस संदर्भ में निम्नांकित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं :—

गिरा हो जाती है सनयन
नयन करते नीरव भाषण
श्रवण तक आ जाता है मन
स्वयं बन करता बात श्रवन ।[1]

नयन श्रवणमय श्रवण नयनमय आज हो रही कैसी उलझन,
रोम रोम में होता री सखि एक नया उर का-सा स्पन्दन ।
पुलकों से भर फूल बन गये जितने प्राणों के छाले हैं ।।[2]

राम लक्ष्मण के रूप-सौंदर्य के वर्णन में तुलसी के सम्मुख सबसे बड़ी कठिनाई यही थी कि उनकी 'गिरा अनयन' और 'नयन बिनु बानी' थे। किन्तु पंत और महादेवी ने प्रेम के दिव्य लोक में इस विवशता को भी समाप्त कर दिया । प्रेमी की वाणी दृष्टि बन जाती है और नयनों में मूक-भाषा में सब कुछ कह देने की क्षमता भर जाती है । मन अधीर होकर बात सुनने की उत्कंठा में कानों के द्वार तक दौड़ आता है और कभी-कभी मानों कान बन कर बातें सुनने लगता है ।

यह इन्द्रियों का चमत्कारपूर्ण व्यापार व्यत्यय महादेवी के लिए एक विचित्र उलझन बन कर उपस्थित हो गया है । प्रियतम के प्रति उन्मुख प्रेम ने शरीर को रोमांचित कर दिया था और हृदय के छाले-कसक और पीड़ा के छाले-फूल से सुखदाई बन गये हैं । इन रोमांचक क्षणों में रोम-रोम में उठने

---

1. पल्लविनी : पंत :
2. नीरजा : महादेवी :

वाला एक नया प्रस्पन्दन ऐसा लग रहा है, मानो प्राण ही प्रत्येक रोम के रूप में अनन्त रूपी होकर पुलक प्रकट कर रहा है । औत्सुक्य, उल्लास और प्रेम विह्वलता का ऐसा सुरम्य चित्र केवल कल्पना ही प्रस्तुत कर सकती है ।

सामान्यतः ऊंचाई का वर्णन गगनचुम्बी कह कर पूर्ण कर दिया जाता है किन्तु सिंघलगढ़ की ऊंचाई में— नितगढ़ बांचि चलहिं ससि सूरू — नाहिंत होइ बाजि रथ चूरू' अथवा केशव के अयोध्या के राजभवनों के वर्णन में जिस अतिशयोक्ति का आश्रय लिया गया है, उसमें तथ्य को उक्ति के चमत्कार के माध्यम से प्रस्तुत करने में कल्पना से पर्याप्त प्रेरणा मिली है । "कल्पना अनुभूति को केवल जगाती ही नहीं वरन् जागृत भावों को और भी अधिक तीव्र बनाती है । सजग भाव कल्पना के स्पर्श से और भी उमड़ पड़ते हैं ।"[1]

वस्तु का विस्तार यदि अपने औदात्म्य और विस्तार के कारण प्रमाता की चित्तवृत्ति को स्फीत कर उसकी महिमा और गरिमा से जोड़ता है तो उसका संकोच अणिमा और लघिमा की प्रक्रिया में संकुचित होकर वस्तु सत्य की सूक्ष्मता में प्रवेश कर जाता है । इन सभी स्थलों में कवि की चेतना एक विचित्र विस्मयलोक की सृष्टि करने में समर्थ हो जाती है।

भावों के अनुकूल कोमलतम इन्द्रधनुषी उक्ति-विधान अलंकरण के माध्यम से वस्तु एवं उक्ति में छवि एवं रमणीयता का आधान हृदय में ऐसी रसवृष्टि करने में समर्थ होता है, जिसमें सहृदय के लिए आपाद मस्तक सरोवार हो जाने के अतिरिक्त कोई चारा नहीं । कुछ उक्तियां द्रष्टव्य है :—

नील रेशमी तन का कोमल
खोल लाल कच भार

---

1. कला साहित्य और समीक्षा : डा० भगीरथ मिश्र : पृ० 36.

लाल लाल लहरा लहरांचल
स्वप्न विकच स्तन हार
शशि कर सी लघु पद सरसी में
करती तुम अभिसार,
दुग्ध फेन शारद ज्योत्स्ना में
ज्योत्स्ना सी सुकुमार ।।[1]

यहाँ सौंदर्य का जितना सूक्ष्म और 'रसमी' वर्णन है, वैसा ही 'सरसीली', 'रसीली' माधुरी का शारद ज्योत्स्ना प्रसार भी । इस की यह आभा हृदय में आह्लाद और आश्चर्य की एक तीव्र सम्वेदना भर देती है और बरबस ही कुतूहल प्रश्न की भाषा में कुछ बैठता है :—

तुम कनक किरन के अन्तराल में
तुम छिप कर चलते हो क्यों ?
नत मस्तक गर्व वहन करते
यौवन के घन रस कण झरते
हे लाज भरे सौंदर्य बता दो —
मौन बने रहते हो क्यों ?[2]

स्वर्णिम और सौंदर्य सुनहली किरणों में मानों खो जा रहा है । लगता है सुनहली किरणों की ओट में आँखें बचाकर नत मस्तक चलने वाला लाज भरा सौंदर्य यौवन के मधुर रस (प्रेम) की वृष्टि कर रहा हो । फिर भी यह कौन सी शिक्षा है जो प्राणों को आप्यायित करने वाली, रस की वर्षा करनेवाली सौन्दर्य प्रतिमा को मौन बनाये रखने के लिए विवश कर देती है ।

---

1. पल्लविनी : पंत ।
2. प्रसाद : चन्द्रगुप्त : सुवासिनी का कथन ।

अन्ततः जल की वर्षा करने वाले बादल भी तो गरजते हैं फिर तुम्हीं क्यों नहीं बोलते ?

रूप वर्णन की उपर्युक्त दो रचनाओं से यह सिद्ध हो गया कि 'कल्पना अनुभूति को जगाने और उसे प्रखर बनाने में महत्त्वपूर्ण योग देती है।'[1]

वह वस्तु का मनोग्राही सुन्दर चित्र प्रस्तुत कर हृदय को चमत्कृत करती है और तथ्य के विश्लेषण कारण या परिणाम की योजना करके अन्तश्चमत्कार उत्पन्न करती है । रूपांकन की भाँति तथ्य के कारण की मनोहारिणी कल्पना—

सरवर रूप विमोहा हिये हिलोरैं लेइ ।
पांव छुवौ मकु पावउं एहि मिस लहरै देइ ।।

अथवा—

धूर धरत निज सीस पै कछु रहीम केहिं काज ।
जेहि रज रिसि पतनी तरी सो ढूंढत गज राज ।।

में द्रष्टव्य है, जिसमें कारण की कल्पना में लगी हुई कवि प्रतिभा, मर्म-स्पर्शिनी उक्ति के सृजन में समर्थ हुई है । यहाँ एक ओर उद्भावना का वैचित्र्य आकृष्ट करता है, तो दूसरी ओर अनुभूति का मार्मिक संस्पर्श।

अलंकार विश्व-विधान आदि में भी उर्वर कल्पना ही कार्य करती है, यह किसी सहृदय से छिपा नहीं है, और इसका सौन्दर्य भी उपर्युक्त उद्धरणों में देखा जा सकता है।

दैनिक जीवन में प्रत्यक्ष अनुभूति से प्राप्त संवेदन संस्कार और अवधारणा आदि के आधार पर कल्पनाशक्ति काव्य में नूतन वस्तु विधान एवं

---

1. कला : साहित्य और समीक्षा : डा० भगीरथ मिश्र : पृ० 37.

शैली संधान में समर्थ होती है । डा० गणपतिचन्द्र गुप्त ने वस्तुविधान की दृष्टि से कल्पनाशक्ति के कार्यों को पाँच भागों में विभाजित किया है[1] –

(1) द्रव्य या वस्तु का चेतन स्तर पर प्रस्तुतीकरण,
(2) द्रव्य का विस्तार,
(3) नये द्रव्य का आविर्भाव,
(4) द्रव्य या विषयवस्तु को अनुभूतिगम्य बनाना, तथा
(5) विषयवस्तु को देशकाल एवं व्यक्ति के सम्बन्धों से मुक्त करना ।

इन प्रक्रियाओं के माध्यम से कल्पना काव्य वस्तु के कलात्मक रूप का निर्माण करती है । शैलीपक्ष में भी उन्होंने कल्पना के पाँच प्रकारों का उल्लेख किया है, जिनके द्वारा वर्ण्यवस्तु का काव्यवस्तु के रूप में रूपान्तरण होता है। स्पष्टीकरण के लिए डा० गणपति चन्द्र गुप्त की पुस्तक 'रससिद्धान्त का पुनर्विवेचन' से तालिका अविकल रूप से आगे उद्धृत की जा रही है । (तालिका अगले पृष्ठ पर देखें)

साहित्य में कल्पना का विधान मुख्यतः दो रूपों में प्राप्त होता है, एक वह जिसमें कल्पना शक्ति अनुभूति और चिंतन की सहकारिणी बन कर उसके अनुरूप रूपविधान करती है । दूसरा रूप वह है जहाँ कल्पना केवल रचनागत चमत्कार से आकर्षण या कुतूहल उत्पन्न करती है । स्पष्ट है कि प्रथम में रसात्मक कल्पना शोभा चारुता दीप्ति आदि से परिपूर्ण होकर रसानुभूति में योग देती है, किन्तु दूसरे प्रकार की रचना कवि के कौशल का ही सौंदर्य प्रमुख कर देती है । इसे कल्पना प्रधान रचना कहा गया है । इसका एक रूप ऐसा भी हो सकता है जहाँ कवि का शब्दयोग प्रदर्शन और उसका

---

1. रससिद्धान्त का पुनर्विवेचन : डा०गणपतिचन्द्र गुप्त : पृ० 349.

तालिका : कल्पनात्मक रूप विधान और परंपरागत शैलीतत्व

कल्पनात्मक रूप-भेद	लक्षण	परंपरागत तत्व	उदाहरण
1. संयोजनात्मक रूपविधान	प्रस्तुत एवं अप्रस्तुत का संयोजन	1. सादृश्यमूलक अलंकार	(क) 'तापस बाला सी गंगा कल' (गंगा=प्रस्तुत, तापसबाला=अप्रस्तुत)
2. विश्लेषणात्मक रूप-विधान	प्रस्तुत के ही गुणों का विस्तार या विश्लेषण	2. बिम्ब विधान	(ख) 'बेंदी भाल तमोल मुख, सीस सिलसिले बार, दृग अंजे, राजे खरो, बेड़ सहज सिंगार ।'
3. विस्थापनात्मक रूप-विधान	प्रस्तुत के स्थान पर अप्रस्तुत की प्रतिष्ठा	3. व्यंजना शक्ति या ध्वनि	(ग) 'मधुर-मधुर मेरे दीपक जल', (घ) 'अली कली ही सौं बिंध्यो- -'
4. विनिमयात्मक रूप-विधान	प्रस्तुत एवं अप्रस्तुत के गुणों का परस्पर आदान प्रदान या विनिमय	4. प्रतीक योजना 5. लक्षणा शक्ति (लाक्षणिक प्रयोग) 6. वक्रोक्ति	(ङ) 'अरसानि गही वह बानि कछू- -' (च) 'आँचल में है दूध और आँखों में पानी' (छ) 'सखी सजी पर कलाई नहीं-"
5. समवयात्मक रूप-विधान	प्रस्तुत या अप्रस्तुत आंतरिक विषम तत्वों में बाह्य साम्य की स्थापना	7. अनुप्रास, यमक श्लेष आदि शब्दालंकार 8. वृत्ति या गुण	(ज) 'पाप कहे तो पा पक्ष - - -' (झ) 'पानी गये न ऊबरे, मोती मानस चून ।' (ट) ' मृदु मंद मंद मंथर मंथर -'

रेन्द्रजालिक सृजन काव्य की अपेक्षा कौतुक की सृष्टि करे, ऐसी रचना निश्चय ही निम्न कोटि की मानी जानी चाहिए । इतना होते हुए भी हम डा० गणपतिचन्द्र गुप्त के इस कथन से सहमत नहीं हैं कि – "कल्पना प्रधान साहित्य में चमत्कार की सृष्टि होती है, जिसे परंपरागत दृष्टि से अद्‌भुत रस भी कहा जा सकता है ?"[1]

इस स्थापना में पहली आपत्ति यह है कि रस की निष्पत्ति तो विभावादि के परामर्श से ही होती है, अतः यह आवश्यक नहीं है कि जहाँ काव्य में कल्पना की प्रखरता हो, वहाँ शैली-शिल्प के सौंदर्य में अद्‌भुत के विभावादि भी उपस्थित हों । दूसरी बात यह कि चमत्कार अद्‌भुत रस नहीं है, क्योंकि चमत्कार तो सामान्य शब्दयोजना से लेकर अनुभूति के अतल संस्पर्श तक व्याप्त है। सच तो यह है कि चमत्कार काव्य का मूल आधार या प्राणतत्व है किन्तु यह सर्वत्र अद्‌भुत रस की ही निष्पत्ति करे ऐसा कैसे सम्भव है, जबकि यह सभी रसों विचारों और कलात्मकताओं में अन्तर्निविष्ट है ।

इसमें संदेह नहीं कि कल्पना चमत्कार की जननी है । उसीके प्रभाव से साहित्य की नीरसता, एकरसता और कृत्रिमता दूर होती है तथा आकर्षण एवं सरसता का संचार होता है । इसके सिवा कल्पना शक्ति वस्तुओं, कार्यव्यापारों आदि की कुछ असामान्य एवं चमत्कारपूर्ण योजना करती है । आलंकारिकता, बिम्बविधान आदि में भी कल्पना का चमत्कार ही क्रियाशील रहता है, इसके साथ ही शैलीगत चमत्कार योजना भी कल्पना का ही कार्य है । अतः चेतना प्रवाह में जिस कल्पना का (भारतीय अभिधान में प्रतिभा का) निर्वचन और मूल्यांकन प्रस्तुत किया गया है,

---

1. रससिद्धान्त का पुनर्विवेचन : डा० गणपतिचन्द्र गुप्त : पृ० 353.

उससे यह स्पष्ट है कि कवि चेतना विस्मयतत्व की ही प्रेरणा से संवेदन चिन्तन आदि को नियोजित करती है, और भावक उसी विस्मयावेश के रूप में उसका आस्वाद लेता है और चमत्कृत होता है क्योंकि कला और विस्मय दोनों के आस्वाद का एक ही आधार है – नूतनं नूतनं पदेपदे ।

भावना एवं विस्मय-तत्व :

भावना एक मानसिक कार्यव्यापार है, जिसके द्वारा मन में विषयों के बिम्बों का सृजन होता है । मन अपने में अन्तर्निहित शक्तियों के सहयोग से उस बिम्ब का अनन्त गुणात्मक भावन करता है । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार – "जो वस्तु हमसे अलग है, हमसे दूर प्रतीत होती है, उसकी मूर्ति मन में लाकर उसके सामीप्य का अनुभव करना ही उपासना है । साहित्य वाले इसीको भावना कहते हैं ।"[1] इस उपासना से उभरनेवाली मानसिक प्रतिच्छायाओं के आधार पर भावना नवीन अनुभूत्यात्मक चित्रों की सृष्टि करती है । इसकी प्रक्रिया इस प्रकार होती है। सबसे पहले भावना मनोजगत में प्रतिष्ठित सौन्दर्यमय चित्रों को संकलित करती है । तदनन्तर मनोजगत में प्रतिष्ठित सौंदर्य चित्रों का भावना के स्पर्श से निरन्तर मनन आरम्भ होता है क्योंकि भाव-संयुक्त बुद्धि को ही मन कहते हैं । यही स्थिति भावना का वास्तविक स्वरूप है, जिसके कारण अभिनव रूप की सृष्टि होती है । दूसरे शब्दों में वस्तु में भावना के प्रक्षेपण का नाम ही सौंदर्य है । भावना का उदय स्थूल वस्तुओं के ऐन्द्रिय संवेदन से भी हो सकता है और समकालीन बिम्बों के अनुभावों से भी । भावना स्वयं सूक्ष्म होती है, किन्तु उसके मूल में सत्य किसी न किसी रूप में अवश्य होता है ।

वास्तविकता यह है कि ज्ञानेन्द्रियाँ अनुभूति को मानव मस्तिष्क तक ले जाती है और वह स्मृति, चिन्तन, विचार, धारणा एवं कल्पना आदि के द्वारा

---

1. रसमीमांसा : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : पृ० 26.

उसका मानसिक प्रत्यक्षीकरण करता है । किन्तु इस प्रक्रिया में भौतिकता प्रायः विलुप्त हो जाती है, और भावक उस वस्तु से व्यंजित होनेवाले रूप, गुण, भाव या व्यापार के अनुसंधान में तल्लीन हो जाता है । यह सौंदर्य भावना का अनुसंधानात्मक स्वरूप है । इसे ही पंडितराज जगन्नाथ ने अपने काव्य का लक्षण करते समय इस प्रकार प्रस्तुत किया है । 'कारणं च तदविच्छिन्ने भावनाविशेषः पुनः पुनरनुसन्धानात्मा'।[1] यहाँ अनुसंधान का अर्थ है सुन्दर वस्तु के साथ मानव मन की प्रगाढ़ता एवं सम्बन्ध स्थापना । यह भावना की समरसता ही सौन्दर्य अनुभूति का कारण है । इस भावना का चमत्कार से पंडितराज ने सीधा सम्बन्ध जोड़ा है — 'इत्थंच चमत्कारजनकभावनाविषयप्रतीतिपादक शब्दत्वं, यत्प्रतिपादितार्थ विषयक भावनात्वं चमत्कारजनकता—वच्छेदकं तत्त्वम्'।[2]

इस प्रकार पंडितराज जगन्नाथ की दृष्टि में सौंदर्यानुभूति के दो धरातल हैं — एक सौंदर्य की गोचरता का बोधात्मक रूप और दूसरा आह्लाद का अनुभूत्यात्मक रूप । इस तरह चेतना के बौद्धिक रूप के विश्लेषण में वे 'ज्ञान' शब्द का प्रयोग करते हैं — 'रमणीयता च लोकोत्तराह्लादजनक ज्ञानगोचरता'।[3] किन्तु जब वे उस ज्ञान से उत्पन्न आह्लाद का अनुभूत्यात्मक विवेचन करते हैं तो भावना का प्रयोग करते हैं[4]। यहाँ भावना विशेष भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है क्योंकि वह अनुसन्धानात्मक है ।

---

1. रसगंगाधर : पृ० 4, 5.
2. वही ।
3. वही ।
4. 'कारणं च ---- आत्मा'
   — वही ।

स्वर्गगाधर की टीका करते हुए नागेशभट्ट ने कहा है कि –"ज्ञानेच भावनारूपमेव नान्यदित्याह कारणं चेति'[1] अतः ज्ञान जब भावना को समर्पित हो जाता है तब रमणीयता की अनुभूति में विषय और विषयी की परस्पर सापेक्ष स्थिति आह्लाद को जन्म देती है । मीमांसकों ने भी भावना को भावित करतु का उत्पत्त्यनुकूल व्यापार कहा है ।[2]

वैयाकरण भी भावना को व्यापार, उत्पादना और क्रिया का पर्यायवाची मानते हैं । इससे यह स्पष्ट है कि भावना केवल अनुभूत्यात्मक ही नहीं अपितु सृजनात्मक भी है और यह सृजन सौंदर्य से अनुप्राणित होता है । इसके अनुभूत्यात्मक और सृजनात्मक दोनों पक्षों पर प्रकाश डालते हुए डा० रामकुमार वर्मा ने लिखा है कि 'फूल का गुण स्वसम्वेद्य है । उसी प्रकार भावना भी हृदय की कोमल अनुभूतियों में शतमुखी होकर फूल की भाँति जीवन की सुगन्ध प्रसारित करती है । यह भावना हृदय की सरस्वती है जिसकी वीणा के स्वरावरोहों में कर्कश सत्य भी कैशोर सौंदर्य बन जाता है । यह भावना जीवन की ऐसी उषा है, जिसमें लीला के रंग हैं, विलास के बादल हैं, विच्छित्ति के विहंग स्वर हैं, किलकिंचित सी कलियाँ हैं लालित्य की भाँति कुसुमों का लावण्य आदि हैं । आकाश के अन्तराल में तारों की स्वर्गङ्गा का निर्माण करनेवाली सौन्दर्य राशि की भाँति भावना का विस्तार सभी दिशाओं में है । वास्तव में जीवन की संघर्षशीलता से हृदय के कोमल भावों की रक्षा के लिए भावना ही एक आवरण है ××× यह भावना मनोविज्ञान

---

1. नागेश : गुरु मर्म प्रकाश : स्वर्गगाधर : पृ० 4.
2. 'भावना च भवितुर्भवनानुकूलो व्यापारः'
   – अर्थसंग्रहः लौगाक्षिभास्करः निर्णयसागर प्रेस, पृ० 10.

के उस पार्श्व को स्पर्श करती है जिसमें उसका रागात्मक सम्बन्ध बाह्य जगत से स्थापित होता है । सहानुभूति, पर-दुःख-कातरता, उदारता, स्नेह और प्रेम के अनन्त भाव और अनुराग प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से उससे सम्बद्ध होते हैं । इस प्रकार यह भावना राग का अपरिमित कोष लेकर मानवता की तप्त मनोभूमि पर सहस्र-सहस्र शीतल वारि बूँदों के रूप में बरस जाती है और मानव-धर्म को अनन्त जलराशि बनकर सत्य के सागर में लीन होती है ।[1]

इस उद्धरण के आधार पर वर्माजी के अनुसार भावना के निम्नलिखित तत्व प्राप्त होते हैं :—

(1) भावना का सम्बन्ध हार्दिकता से है, जो स्वसम्वेद्य है ।
(2) भावना हृदय की कोमल अनुभूतियों का अन्तर्मुखी प्रसार करती है ।
(3) भावना सत्य को सौन्दर्यमण्डित करती है।
(4) भावना का सौंदर्य रमणी सौंदर्य की भाँति लोकोत्तर है।
(5) भावना का विस्तार अनन्त है ।
(6) जीवन की कठोरता से कोमल-भावना की रक्षा भावना ही करती है ।
(7) भावना के द्वारा बाह्य जगत से रागात्मक सम्बन्ध स्थापित होता है ।
(8) भावना मानवता के कल्याणकारी गुणों से संचलित है ।
(9) भावना का उदय और अस्त सत्य की भूमिका में है।

भावना की कोटियाँ :

डा० वर्मा ने भावना को दो भागों में विभाजित किया है — आत्मस्थ और परस्थ । आत्मस्थ भावना में आत्माभिव्यक्ति का प्रबल वेग होता है

---

1. साहित्यशास्त्र : डा० रामकुमार वर्मा : पृ० 68-69.

और परस्थ भावना वर्णनात्मक होती है । अतस्थ आत्मस्थ भावना में घनत्व और गहराई होती है तो परस्थ भावना में विचित्रता और विस्तार । किन्तु जो सच्चे कलाकार हैं वे दोनों का सामंजस्य करके जीवन की सम्पूर्ण परिधि को स्पर्श करते हैं । इससे स्पष्ट है कि भावना अपने अनन्त विस्तार, शतमुखी प्रसार और लोकोत्तर सौंदर्य से मण्डित होकर सृजन में अपूर्व चमत्कार तथा आस्वाद में अनन्त विस्मय की सृष्टि करती है ।

बौद्धिकता और भावुकता :

श्री दिनकर (1964) ने लिखा है कि –"जैसे पुरुषार्थ के तीन अंग कहे गये हैं, वैसे ही मनुष्य के आन्तरिक व्यक्तित्व के धरातल भी तीन हैं । मनुष्य के सारे व्यक्तित्व–समग्रजीवन–का आधार उसकी जैव भावनाओं का धरातल है । यह वह धरातल है, जिस पर मनुष्यों और पशुओं में भेद नहीं है, और यही धरातल सबसे प्रबल तथा प्राचीन भी है । मनुष्य को पशुओं से भिन्न करनेवाले बुद्धि एवं आत्मा के दो धरातल बाद में उत्पन्न हुए । जैसे आत्मा तो पशुओं में भी है किन्तु सदसद् विवेक की शक्ति जो मानवता का प्रधान गुण है, पशुओं में नहीं होती ।"[1] इसमें संदेह नहीं कि बुद्धि की विकास प्रक्रिया के साथ ही सहज-प्रवृत्ति की ह्रास प्रक्रिया का भी आरम्भ हो जाता है । यह सहज प्रवृत्ति (INSTINCT) बुद्धि-नियंत्रित होने के कारण अपनी सहजता खो देती है, किन्तु इसीके साथ सहज प्रवृत्ति के ही अनुरूप सबुद्धि (इटुइशन) का विकास होता रहता है जो प्रातिभ एवं संवेगात्मक है ।

इस प्रकार बौद्धिकता तथा भावुकता का प्रसार क्षेत्र तथा कर्मक्षेत्र श्री दिनकर[2] (1964) द्वारा निर्दिष्ट द्वितीय कोटिक बौद्धिक धरातल है ।

---

1. उर्वशी महाकाव्य भूमिका अंश : रामधारी सिंह दिनकर ।
2. वही ।

अन्य मनःशास्त्रियों ने भी ऐसे ही विचार व्यक्त किये हैं किन्तु मेरी मान्यता इससे भिन्न कोटि की है । यह तो स्पष्ट ही है कि बुद्धि का धरातल 'जैव' तथा 'आत्मा' इन दो धरातलों के बीच की योजक कड़ी है। बुद्धि तथा सम्बुद्धि इसी धरातल के दो पहलू हैं । जो पहलू जैव धरातल से अधिक समीप एवं सम्पृक्त है, उसे बुद्धि कहते हैं । यह मन के सन्निकर्ष से ज्ञान-क्रियात्मक, चिन्तन प्रधान तथा रचना रूप होती है । इसका दूसरा पहलू सम्बुद्धि है जो आत्म धरातल के अधिक निकट है । इसका स्वरूप संवेदनात्मक अनुभूति प्रधान तथा रागात्मक है। अतः मेरे मत में बौद्धिकता का सीधा सम्बन्ध बुद्धि-धरातल के पहले पहलू-बुद्धि से है और भावुकता का दूसरे पहलू-सम्बुद्धि से । प्रायः विद्वान भावुकता का सीधा सम्बन्ध आत्मधरातल से जोड़ते है पर मेरे विनम्र विचार से इस सम्बन्ध को प्रत्यक्ष की अपेक्षा पारम्परिक सम्बन्ध मानना अधिक संगत होगा क्योंकि भावुकता का सीधा सम्बन्ध सम्बुद्धि से है और सम्बुद्धि का आत्मा से ।

यद्यपि आत्मा का धरातल हमारा विवेच्य विषय नहीं है फिर भी ऐसा विश्वास है कि विवेच्य विषय की स्पष्टता के लिए उसकी परिचर्चा नितान्त अपेक्षित है । यहाँ आरंभ में ही यह स्पष्ट कर देना अत्यन्त आवश्यक है कि आत्म धरातल से तात्पर्य हमारे अन्तःकरण में अवस्थित निरवच्छिन्न चैतन्य रूप परमात्मतत्त्व से नहीं है अपितु प्रस्तुत प्रसंग में आत्म-धरातल सांख्य-शास्त्र में वर्णित मूल प्रकृति का ही दूसरा अभिधान है । इस मूल प्रकृति के श्री गीता (तिलक 1971)[1] में दो भेद – दो धरातल बताये गये हैं – परा और अपरा । (इसी को गीता के 13/1 में क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ[2] तथा 15/16

---

1. भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ।।
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मेऽपराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ।।– गीता 7/4-5.

2. इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ।। – गीता 13/1.

में क्षर-अक्षर[1] कहा गया है।) यहाँ पंचभूत मन, बुद्धि एवं अहंकार रूप आठ भागों में विभक्त अपरा प्रकृति (जड़ प्रकृति) है । इससे भिन्न परा (चेतन) प्रकृति जीव स्वरूपिणी है ।[2] पुरुषोत्तम की स्थिति इस अपरा-परा या क्षर-अक्षर से ऊपर है ।[3]

इसी प्रकार श्री गीता (1971) में यह भी निरूपित है कि कार्य (क्षिति, जल, पावक, गगन, समीर तथा तन्मात्र क्रमशः गन्ध, रूप, रस, शब्द, स्पर्श) तथा करण (बुद्धि अहंकार मन तथा श्रोत्र त्वचा, रसना, नेत्र एवं घ्राण और वाक्, हस्त, पाद, उपस्थ एवं गुदा) के उत्पन्न करने में प्रकृति (अपरा प्रकृति) कारण है और कार्य एवं करण से प्राप्त सुख-दुःखों के भोक्ता होने में पुरुष (जीवात्मा-पराप्रकृति से सम्बद्ध चैतन्य न कि निरवच्छिन्न चैतन्य) कारण है ।[4]

अतः यह बात निर्भ्रान्त रूप से समझ लेनी चाहिए कि जैव धरातल का प्रेरक मन बुद्धि धरातल से सम्पर्कित रहता है । अपर बुद्धि धरातल के बुद्धि और सम्बुद्धि नामक जो दो विभाग किये गये हैं, उन्हें क्रमशः सांख्योक्त अहंकार तथा बुद्धि समझना चाहिए । अतः बुद्धि और सम्बुद्धि अपरा प्रकृति के ही भेद हैं परा प्रकृति के नहीं । यहाँ मन बुद्धि और जैव

---

1. द्वाविमौ पुरुषौ लोकेऽस्मिन् क्षरश्चाक्षर एव च ।
   क्षरः सर्वाणिभूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ।। — गीता, 15/16.
2. वही, पूर्वोक्त, 7/5.
3. यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपिचोत्तमः ।
   अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ।। — गीता, 15/17.
4. कार्यकरण कर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
   पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ।
   पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुंक्ते प्रकृतिजान् गुणान् ।। — वही, 13/20-21.

परातल के बीच की योजक कड़ी है और सम्बुद्धि बुद्धि और आत्म परातल के । अतः विश्लेषण प्रतिभा (मुख्यतः कारयित्री), कल्पना (सृष्टि विधायिनी तथा अनुभूति आदि का अन्तस आधार यही सम्बुद्धि का परातल ठहरता है ।

आत्म-परातल का बहिर्मुखी सापेक्ष रूप भोक्ता (सुख-दुःखादि का भोक्ता) होता है, और यही अन्तर्मुखी निरपेक्ष रूप में साक्षी, चेता, 'केवलो निर्गुणश्च' कहा जाता है। (साक्षी, चैतन्य रूप, असङ्गता, अद्वितीय तथा त्रिगुणात्मिका प्रकृति से परे होता है) । उपर्युक्त विवेचन का वंश-वृक्ष इस प्रकार है :—

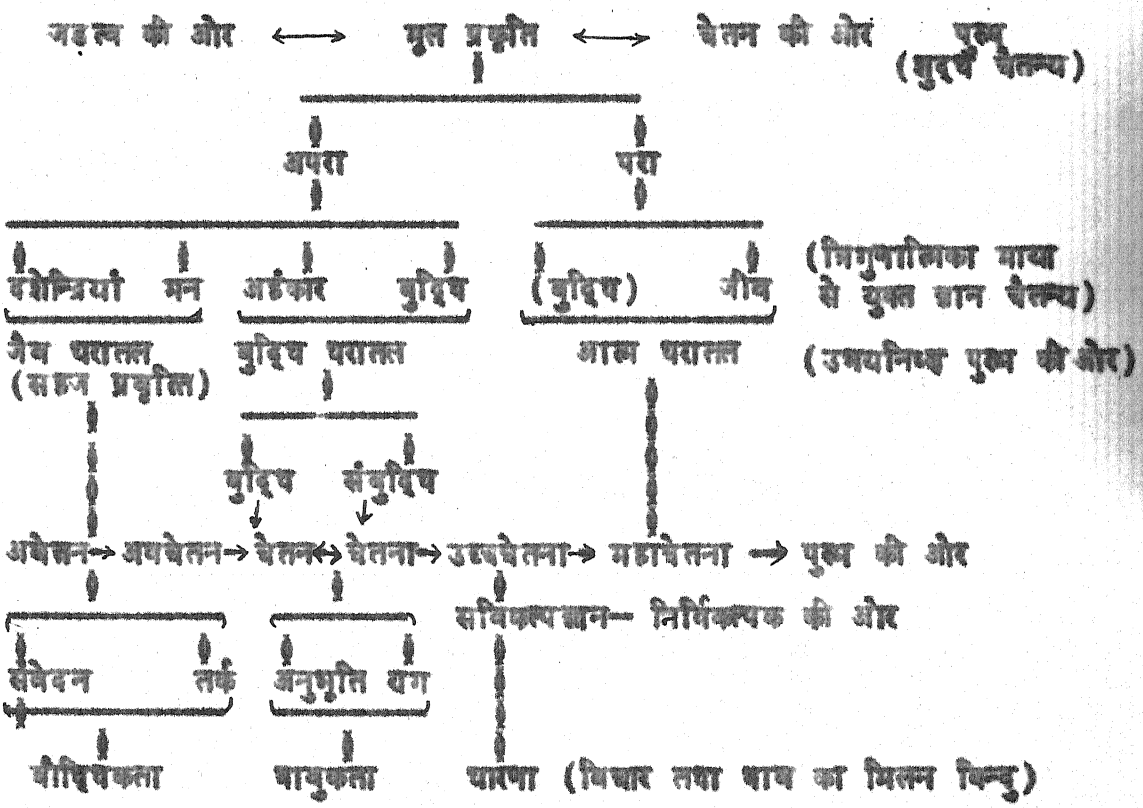

---

1. एको देवः सर्वभूतेषु गूढः
सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः
साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ।। — श्वेताश्वतर उपनिषद्, 6/11.

अब हम अपने विवेच्य विषय पर आते हैं । बौद्धिक धरातल का पहला पक्ष बुद्धि प्रायः बहिर्मुख और निम्नगा स्थिति में होता है। उसकी क्रिया-प्रतिक्रिया का आधार जैव धरातल ही मुख्य रूप से होता है । अतः बुद्धि की प्रवृत्ति भी सोद्देश्य होती है और उसका सुख-दुःख भी सोद्देश्य-सापेक्ष-होता है । इस उद्देश्य का आधार होता है 'स्व' । यदि इसे सांख्य दर्शन की भाषा कहें तो महत्तत्त्व से अहंकार की सृष्टि कह सकते है । इस रूप में बुद्धि का समस्त व्यापार स्पष्ट ही 'अहम्' की परिधि के प्रसार का व्यापार है । यों तो समस्त चिंतन और अनुभूति आत्म-साक्षिक होने के कारण 'स्वनिष्ठ' कहे जा सकते हैं किन्तु बौद्धिक-व्यापार (तर्क, चिंतन, विश्लेषणादि) केवल 'स्व' को ही आधार मान कर चलते हैं । विचार की परिधि कितनी ही विशाल क्यों न हो उसका केन्द्र-बिन्दु विशुद्ध 'स्व' होता है, इसलिए उसे स्व-साक्षिक कहने के बजाये स्वनिष्ठ कहना अधिक उचित है । दूसरे शब्दों में बुद्धि-व्यापार केन्द्र के चारों ओर चक्कर काटता हुआ भी परिधि की ओर (अहं या स्व के प्रसार की ओर) बढ़ता रहता है। अतः उसे हम 'स्वनिष्ठ बहिर्मुख' कहेंगे ।

इसके विपरीत दूसरे पक्ष संबुद्धि का आधार भी बुद्धि धरातल ही है। इसकी प्रवृत्ति अन्तर्मुखी और ऊर्ध्वगा होती है । फलतः केन्द्रोन्मुखी और केन्द्रनिष्ठता के कारण इसकी तरंगे आत्मधरातल का संस्पर्श करती चलती है । यही कारण है कि संबुद्धि जन्य प्रवृत्ति निरुद्देश्य (निःस्वार्थ) होती है और उसका सुख-दुःख भी प्रायः निरपेक्ष सुख-दुःख होता है । इस अनुभूति में 'स्व' और 'पर' का विलीनीकरण हो जाता है । यह स्थिति 'यह पराया है, पराया नहीं है, यह मेरा है मेरा नहीं है,'[1] रूप 'मम-पर' के आग्रह से रहित मात्र अनुभूति के रूप में प्राप्त होती है । इसीको साहित्य-दर्पण की भाषा में साधारणी-करण तथा योगदर्शन में मधुमती भूमिका कहते हैं । इसका

---

1. 'परस्य न परस्येति ममेति न ममेति च' - साo दo 3/12.

मुख्य कारण यह है कि जहां बौद्धिकता खण्ड प्रवाह के रूप में केन्द्र से परिधि की ओर अर्थात् विशिष्ट स्वाश्रित एवं बहिर्मुख होती है, वहीं अनुभूति अखण्ड प्रवाह के रूप में परिधि से केन्द्र की ओर अर्थात् साधारणीकृत स्वनिष्ठ और अन्तर्मुख होती है । अतएव अनुभूति अपनी यथार्थता और सघनता के क्षणों में अखण्ड एवं अद्वैत रूप हो जाती है जहां स्वान्वर विवेक का लय हो जाता है।

यहां निश्रान्ति रूप से यह समझ लेना चाहिए कि हमारी चेतना विभिन्न स्तरों एवं स्थितियों में परस्पर निरपेक्ष नहीं है, क्योंकि चेतना में किन्हीं ऐसे प्रकोष्ठों की कल्पना नहीं की जा सकती जिनमें संवेदन तथा विचारणा, अनुभूति तथा संवेग की परस्पर निरपेक्ष स्वतंत्र स्थिति की प्रतिष्ठा हो सके । सब एक-दूसरे से जुड़े हुए परस्पर प्रभावी और अंतश्छादी हैं। अतः विवेचना के क्रम में इनकी विशिष्टताओं की चर्चा सापेक्षिक है, पूर्ण निरपेक्ष नहीं ।

उपर्युक्त तथ्य को यदि दर्शन की पारिभाषिक शब्दावली में कहें तो कह सकते हैं कि बौद्धिकता में 'अहम्' तत्त्व की प्रधानता होती है । उसके सम्मुख 'इदम्' अहम् का पूरक सा सेवक बन कर आता है । बुद्धिप केवल अपने को देखती है तथा अन्य सबको 'स्व' की पूर्ति, तृप्ति या पुष्टि के लिए स्वीकार करती है ।

अतएव बुद्धिवादी 'स्वनिष्ठ' और विशिष्ट अर्थ में 'स्वार्थी' होता है । इसे दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करना चाहें तो कह सकते हैं कि बुद्धिप व्यक्ति चेतना के सम्मुख उपस्थित एक ऐसा दर्पण-भवन है जिसकी प्रतिफलन शक्ति अनन्त रूपों में केवल अपने ही बिम्ब-प्रतिबिम्ब प्रस्तुत कर सकती है । वहां दीखने या दीखने के लिए अपना ही प्रतिबिम्ब है — रूप-कुरूप से परे अपना ही रूप इस स्वसापेक्षता अथवा स्वकेन्द्रिता का उद्देश्य स्वयुक्त होता है । इसीको स्पष्ट करते हुए महर्षि याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी के प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा कि — "मैत्रेयी , पति के लिए पति प्यारा नहीं होता, अपने लिए पति प्यारा होता है,

और ; पत्नी के लिए पत्नी प्यारी नहीं होती, अपने लिए पत्नी प्यारी होती है । और ; पुत्रों के लिए पुत्र प्यारे नहीं होते अपने लिए पुत्र प्यारे होते है । और ; धन के लिए धन प्यारा नहीं होता अपने लिए धन प्यारा होता है । ××× और ; सब के लिए सब प्यारे नहीं होते; अपने लिए सब प्यारे होते हैं ।"[1]

इस मंत्र के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि अपने को प्यार करने की भावना का विस्तार ही बौद्धिकता का स्वरूप है । अतः 'स्व' की परिधि चाहे कितनी ही विस्तृत क्यों न हो जाय उसका उद्देश्य 'स्व' का पोषण मात्र होता है । इसी स्व के विस्तार का दूसरा नाम 'ममता' है । वेदान्त में इसी बौद्धिक प्रतिफलन को माया का प्रसार कहा गया है ।

इसके विपरीत भावनात्मक दृष्टि में 'स्व' भी आता है और 'पर' भी । वस्तुतः वहाँ 'स्व', 'पर' को समर्पित हो जाता है और 'पर', 'स्व' में विलीन । दोनों इतने घुलमिल जाते हैं कि दोनों के बीच कोई विभाजक रेखा डालना संभव नहीं होता । अनुभूति केवल अनुभूति है । अतएव भावुक को परार्थी या परमार्थी की संज्ञा दी जाती है । दूसरे शब्दों में भावनात्मक दृष्टि एक स्वच्छन्द, निर्बाध तथा यथातथ्य दृष्टि प्रसार है जहाँ आवरण रूप दर्पण के न होने से प्रतिबिम्बन क्रिया के अभाव में संकीर्ण 'स्व' अपने प्रसार में विराट् 'स्व' हो जाता है। अतः भावनात्मक दृष्टि व्यापक भी है और प्रभावी भी ।

---

1. "सहोवाच— नवा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति । नवा अरे जायायाः कामाय जायाप्रिया भवति । आत्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति । नवा अरे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति आत्मनस्तु कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति । नवा अरे वित्तस्य कामाय वित्तं प्रियं भवति आत्मनस्तु कामाय वित्तं प्रियं भवति ।××× नवा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रिय भवति आत्मनस्तुकामाय सर्वं प्रियं भवति ।" — बृहदा० 2/4/5.

उपर्युक्त विवेचन से इतना तो स्पष्ट हो ही गया है कि बौद्धिकता में 'अहम्' और 'इदम्' का आग्रह स्पष्ट होने से भेद दृष्टि बनी रहती है अतः उसमें रसास्वबोध अथवा साधारणीकरण की (आनुभूतिक साधारणीकरण की) योग्यता नहीं होती । यह बात अलग है कि बौद्धिकता के साथ भी बौद्धिक समायोजन संभव है । यह साहित्य-शास्त्र का साधारणीकरण मनोविज्ञान के समानुभूति (एम्पैथी) सहानुभूति (सिम्पैथी) तथा प्रत्यनुभूति (एन्टीपैथी) का समन्वित रूप है । यहां भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि यह अनुभूति (रसात्मक अनुभूति) आत्म धरातल के सविकल्पक-ज्ञान की निर्विकल्पक ज्ञानाभिमुखी वृत्ति है । अतएव इस रस एवं रसानुभूति की दशा को अखण्ड, स्वप्रकाश, आनन्दमय, चैतन्य रूप तथा ब्रह्मानन्द का सहोदर कहा गया है ।[1] यह स्वयं प्रकाश इसलिए है कि प्रकाशक इन्द्रियादिक का यहां योग नहीं रहता । उसका तो आरंभ ही 'सम्बुद्धि' से होता है । केवल अनुभूति सात्विक होने के कारण रसानुभूति में राग की नियत उपस्थिति होती है यह राग बुद्धि सहयोगमूलक है — अभेद दृष्टि है । स्व पर निरपेक्ष दृष्टि है इसके विपरीत बौद्धिकता राग-विराग-युक्त, संघर्षमूलक एवं भेद दृष्टि है ।

इस सैद्धान्तिक विवेचना एवं स्थापना के अनन्तर साहित्य में बौद्धिकता एवं भावुकता के — बुद्धितत्व एवं राग तत्व के विवेचन एवं उपपादन का प्रश्न स्वतः प्राप्त होता है । इस सम्बन्ध में मेरी उपलब्धि यही है कि साहित्य दोनों के सम्मिलन से जन्म लेता है । साहित्य की जन्मभूमि तो यही बुद्धि का धरातल

---

1. सत्त्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्द चिन्मयः ।
वेद्यान्तरस्पर्शशून्योब्रह्मास्वाद सहोदरः ।।
लोकोत्तर चमत्कारप्राणः कैश्चित् प्रमातृभिः ।
स्वाकारावदभिन्नत्वेनायमात्मादयते रसः ।।
— सा०द०, पृ० 71.

होता है किन्तु वह होता है ऊर्ध्वमुखी विधान । अतः उसकी व्यापार भूमि अथवा भोगभूमि आत्म धरातल होता है । इसीलिए विद्वान् उसे ब्रह्मास्वाद सहोदर अथवा स्वान्तः सुख रूप बतलाते हैं । मैं तो ऐसा मानता हूं कि केवल राग- शुद्ध राग तत्व - में उत्पादकता नहीं होती और केवल बौद्धिकता मात्र व्यावहारिकता का निर्वाह कर सकती है । अतः कवि को दोनों का समन्वय करना पड़ता है। यह बात दूसरी है कि परिणति राग में अपेक्षित होती है, इसकी प्रक्रिया कुछ इस प्रकार होती है —

स्थूल जगत के स्थूल विषय इन्द्रियों द्वारा यथावत् गृहीत होते हैं । वे मानस में प्रतिबिम्बित होते न होते सूक्ष्म हो जाते हैं । वहां से अहंकार तक जाते जाते वे परिष्कृत और सूक्ष्मतर तो होते ही हैं, निजत्व की परिधि में भी आ जाते हैं । (यदि प्रक्रिया यहीं विच्छिन्न हो जाय तो साहित्य की सृष्टि में नहीं होती) पुनः संबुद्धि उसे तीव्र संवेदनशीलता एवं रागात्मक प्रभविष्णुता प्रदान करती है और उसे आत्म धरातल की ओर अग्रसारित कर देती है जहां पहुंचकर वह भोग्य बन जाता है और उसका भोग इस रूप में प्राप्त होता है ।

इस प्रकार साहित्य ऐन्द्रियकता से क्रमशः मनोबोधाभिव्यंजकता, मनोरागात्मकता से होकर रसात्मकता पर विश्रान्त होता है ।

एक बात और । अनुभव हमारे संवेदन को उद्दीप्त करके चिन्तन या अनुभूति में किसी एक को आपेक्षिक रूप से अधिक सक्रिय कर देता है । साहित्य में जहां हमारी वैचारिकता उत्तेजित होगी वहां या तो काव्य दर्शन बन जायेगा या बौद्धिक चमत्कार के कारण पहेली । इसके विपरीत जहां अनुभूति की प्रक्रिया सक्रिय होती है वहां आनन्द की प्राप्ति होती है वस्तुतः जहां संवेदन और हृदय का, बौद्धिकता एवं भावुकता का संघर्ष (परस्पर सामंजस्य कोल का टकराव) होता है वहीं उच्चकोटि का साहित्य जन्म लेता है प्रसादजी ने ठीक ही कहा है —

संवेदन का और हृदय का यह संघर्ष न हो सकता ।
फिर अभाव असफलताओं की गाथा कौन कहां बकता ।।[1]

सचमुच यह संघर्ष ही साहित्य की उर्वरा भूमि है । साहित्यकार कभी सहानुभूति को (अहम् को) लोकानुभूति (इदम्) में परिणत करता है और कभी लोकानुभूति को स्वानुभूति बना लेता है। इसीलिए लोक का राग विराग उसका अपना राग-विराग बन जाता है और अपना राग विराग वह लोक को बांट देता है। इस अहम् और इदम् के गुणन से ही एक से अनेक बनने की प्रक्रिया का जन्म होता है। फलतः सान्त की अनन्त में तथा सापेक्ष की निरपेक्ष में परिणति होती है । इतना होते हुए भी साहित्य स्व-पर या बाह्य-आन्तर के सम्मिलन का बिन्दु होकर भी है, बाह्य-आन्तर विलक्षण । यही उसकी लोकोत्तरता है । वह ऐसा कमल है जो उत्पन्न होता है जल के मल से, पर रहता है जल के मल से परे ।

अतः आज के साहित्यकार के इस दावे को, कि वह निरपेक्ष सत्य का साक्षात्कार करके उसे निरपेक्ष रूप में ही पाठक तक पहुंचाना चाहता है, स्वयं तटस्थ रहता है, मैं एक दम्भमात्र मानता हूं । पहली बात तो यह है कि जीवन के अनन्त पक्षों या सत्यों में से किसी एक पक्ष या सत्यविशेष का चुनाव ही उसकी निरपेक्षता के लिए प्रश्नवाचक चिह्न बन जाता है, दूसरे अंगीकृत की अभिव्यक्ति तो तदाकार परिणति के बिना हो ही नहीं सकती । अतः निरपेक्ष या तटस्थ अभिव्यक्ति की कल्पना भी संभव नहीं । कोरी बौद्धिकता भी सर्वथा निरपेक्ष नहीं हो सकती । सच तो यह है कि तात्स्थ्य भी प्रकारान्तर से सापेक्षिक ही होता है। जहां तक भावुकता का प्रश्न है, वहां इदम् एवं अहम् का गुणन एक विराट् और अनन्त अहम् को प्रतिष्ठित करता है जो सीमा में असीम को बांधने में समर्थ होता है । अतः आचार्यगण साहित्य में भावुकता को महत्व देते हैं ।

---

1. कामायनी, आशा सर्ग, प्रसाद ।

तृतीय अध्याय

मूल रस की परिकल्पना एवं अद्भुत रस के मूल रसत्व का निराकरण

तृतीय अध्याय

मूल रस की परिकल्पना

रस के जिस स्वरूप को संकेतित करने के लिए आचार्यों ने 'रसराज'[1], 'रसनायक'[2], 'रसपति'[3] आदि शब्दों का प्रयोग किया है अथवा 'एक एव रस'[4], 'शृंगारमेव'[5], 'भगवद्भक्तिमय रस'[6] उक्तियों में 'एव' के व्यावर्तन द्वारा उस 'एक रस' को नामविशेष से अभिहित करने का प्रयास किया है, जिसके फलस्वरूप तुलनात्मक मूल्यांकन द्वारा रसविशेष की अन्यापेक्षी श्रेष्ठता प्रतिष्ठित हुई है। उसी संदर्भ में डा० नगेन्द्र ने सर्वप्रथम 'मूल रस'[7] शब्द का प्रयोग किया है[8] तथापि यह शब्द रसचिन्तन

---

1. मतिराम ग्रन्थावली,
2. 'सबको केसवदास कवि नायक है सिंगार' – रसिकप्रिया, 1/17.
3. 'नवरस को पति सरस अति, रस सिंगार पहिचानि'
   –सोमनाथ, रसपीयूषनिधि, 8/1.
4. एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद्-
   भिन्नः पृथक्पृथगिवाश्रयते विवर्तान् ।
   आवर्तबुद्बुदतरंगमयान्विकारा–
   नम्भो यथा सलिलमेव तु तत्समग्रम् ।।–भवभूति, उत्तररामचरित 3/47 .
5. 'शृंगारमेव रसनाद्रसमामनामः' – शृंगार प्रकाश खण्ड 1, पृ० 2.
6. 'स च रसो भगवद्भक्तिमय एव' – भक्तिरसामृतसिन्धु, पृ० 74.
7. रससिद्धान्त, डा० नगेन्द्र, पृ० 253.
8. यद्यपि उन्होंने मूलतः इसका प्रयोग रसराज के पर्याय के ही रूप में किया है ।

की दार्शनिक पृष्ठभूमि के साथ सामंजस्य स्थापित करके रस के मूल स्वरूप की विवेचना को अपने में समाहित कर सकता है और निरपेक्ष भाव से रस के अखण्ड कूटस्थ निर्वचन में सहायक हो सकता है । चूंकि यह शब्द नूतन भी है और प्रयोग मधुर भी, व्यापक अर्थबोधन में समर्थ भी है और सटीक भी, अतः प्रस्तुत प्रसंग में मूलरस के प्रयोग को ही स्वीकार किया गया है । प्रसंग प्रक्रम से पूर्व यह आवश्यक प्रतीत होता है कि इस अर्थ में प्रचलित अन्य अभिधानों की भी परीक्षा कर ली जाय । अतः निम्नांकित विवेचन प्रस्तुत है :—

(अ) रस क्रम का बहुचर्चित एवं प्रायः सर्वस्वीकृत शब्द 'रसराज'[1] है । अन्य रसों की अपेक्षा रस विशेष को श्रेष्ठ, प्रधान, व्यापक,

---

1. भरतमुनि ने एक प्रश्न उठाया है कि 'यदि काव्य के अर्थों के आश्रित विभाव अनुभाव आदि से व्यंजित— जो कि कुल 49 हैं—रस निष्पन्न होते हैं फिर स्थायीभाव ही रसत्व की अवस्था को कैसे प्राप्त करते हैं अन्यभाव क्यों नहीं ?' इसके उत्तर में कहा गया है कि 'जैसे एक जैसे लक्षणवाले हाथपैर उदर तथा शरीर के समान होने पर और अंग-प्रत्यंग के समान होने पर भी (कुछ) पुरुष अपने कुल, शील, विद्या, कर्म, तथा शिल्पगत विलक्षणता के कारण आधिपत्य प्राप्त करते हैं और शेष अपनी बौद्धिकन्यूनता के कारण सेवक रह जाते हैं' जैसे ही विभाव अनुभाव तथा संचारीभाव स्थायीभाव के आश्रित होकर रहते हैं ।××× जैसे बड़े परिवार (या अनेक परिजन) से युक्त होने पर भी केवल राजा का ही नाम रहता है । उससे बड़े कुटुम्बी जन का भी नाम नहीं रहता वैसे ही विभाव, अनुभाव तथा संचारीभावों से युक्त स्थायीभाव ही नेल्ड के समान रसदशा को प्राप्त करता है । (यथानेल्डो बहुजनपरिवारोऽपि सन् स एव नाम लभते नान्यः सुमहानपि पुमान् । तथा विभावानुभाव व्यभिचारिपरिवृतः स्थायीभावो रसनाम लभते नेल्डवत् । भरतमुनि —

प्रभावी तथा मूलस्वरूप का समानार्थी द्योतित करने के लिए आचार्यों ने — विशेषतः रीतिकालीन आचार्यों ने — इस शब्द का प्रयोग किया है। यहाँ 'सज' शब्द 'मृगराज' आदि शब्दों की भाँति उत्कर्ष एवं आधिपत्य की मिश्रित अभिव्यंजना करता है। सच तो यह है कि रीतिकालीन पृष्ठभूमि में यह शब्द शृंगार रस के लिए रूढ़ हो गया है और कभी-कभी तो उसका पर्यायवाची बन गया है। इसी पर्यायवाचिता के प्रभाव के कारण शृंगार के 'रसनायक', 'रसपति' आदि नाम दिये गये हैं।

(आ) प्रकृति — इस क्रम का दूसरा महत्वपूर्ण शब्द 'प्रकृति' है। भरतमुनि के नाट्यशास्त्र के 'शान्तस्तु प्रकृतिर्मतः'[1] को आधार बनाकर अभिनवगुप्त ने शांत रस की प्रकृति-प्रकृति-रस अथवा मूलरस — का अनुसंधान किया है और उसे शांत सिद्ध किया है। संभवतः इस प्रसंग में 'प्रकृति' एवं 'विकार' (विकृति) का प्रयोग सांख्यशास्त्र की देन है। जिस प्रकार सांख्यानुसार मूल प्रकृति से महत्तत्व, अहंकार एवं पंचतन्मात्रा रूप 'प्रकृति-विकृति' तथा षोडश विकारों[2] की सृष्टि होती है और पुनः प्रलय काल में सब प्रकृति में ही लीन हो जाते हैं, ठीक उसी प्रकार 'अपने-अपने अनुरूप विभावादि निमित्त कारणों को प्राप्त करके शांत से ही भावों का प्रवर्तन होता

ना०शा०अ० 7/7 की वृत्ति) संभव है यही प्रक्रिया नेल्ड की कल्पना का विस्तार करती हुई रसों में भी उत्कर्षापकर्ष की योजना की प्रेरणा बनी हो। अन्य रस सामन्त की भाँति आश्रित हैं एवं एक मुख्यतः शृंगार- रसराज है। ऐसी मान्यता का मूल भरत का यही कथन हो सकता है।

1. 'भावा विकारा रत्याद्याः शान्तस्तु प्रकृतिर्मतः' —ना०शा०, 6/84.
2. 'मूल प्रकृतयोऽविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोडशकश्च विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ।।' सां०का० 3.

है और उस निमित्त के समाप्त हो जाने पर फिर ये शांत में लीन हो जाते हैं ।[1] अतः शांत को प्रकृति स्थानीय मानकर अन्य रसों को विकार के रूप में स्वीकार करना एक दार्शनिक उपलब्धि है। फलतः 'प्रकृति' शब्द का इस संदर्भ में प्रयोग अधिक संगत माना जा सकता है किन्तु इसे स्वीकार करने में भी कुछ सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक विप्रतिपत्तियां हैं ।

(1) रस को ब्रह्म तथा रसास्वाद को ब्रह्मानन्द सहोदरता प्रदान की गयी है और ब्रह्म (या सांख्योक्त पुरुष) प्रकृति-विकृति से परे है । ऐसी दशा में रस के मूल स्वरूप को 'प्रकृति' के साथ जोड़ने से उसका महत्त्व गिर जायेगा । प्रकृति के समकक्ष होकर वह 'अखण्ड, स्वप्रकाश, आनन्दमय एवं चिन्मय' कैसे बना रह सकेगा ।

(2) आधुनिक युग में प्रकृति को आलम्बन बनाकर लिखे गये प्रकृति-काव्य के प्राचुर्य को देखकर विद्वानों ने 'प्रकृति-रस' की अभिनव कल्पना की है, अतः 'मूल-रस' के अर्थ में 'प्रकृति-रस का प्रयोग न केवल सन्देहजनक होगा अपितु अव्याप्तिदोष ग्रस्त भी होगा ।

(ङ) मूल रस — यों तो इसका प्रयोग भी अधुनातन है किन्तु आकर-ग्रन्थों की छानबीन से इसके बिखरे सूत्र संजोये जा सकते हैं और इस पर प्राचीनता एवं प्रामाणिकता की मुहर लगायी जा सकती है ।

अभिनवगुप्त ने 'भावों से रस की उत्पत्ति होती है' इस प्रसंग में विवेचन करते हुए लिखा है कि —"जैसे बीज वृक्ष के मूल (कारणरूप)

---

1. 'स्वं स्वं निमित्तमासाद्य शान्ताद् भावः प्रवर्तते ।
पुनर्निमित्तापाये च शान्त एवोपलीयते ।।" — ना०शा०, 6/84.

में स्थित होता है इसी प्रकार (कविगत) रस (काव्य रूप वृक्ष के मूल में स्थित होते हैं) - - - - उसी कविगत साधारणीभूत रस संविन्मूलक काव्य के द्वारा नट का व्यापार होता है और वही (कविगत) संवित् वास्तव में मूलभूत रस है । उसकी अन्वय-व्यतिरेक आदि के द्वारा बाद को विभावादि की प्रतीति होती है । इस प्रकार मूल बीज के स्थान पर कविगत रस (भावादि का मूलकारण) है । - - - - उस (बीज स्थानीय कविगत रस) से वृक्ष स्थानीय काव्य (उत्पन्न) होता है । इसमें पुरुष स्थानीय अभिनयादि रूप नट व्यापार होता है । उसमें फल स्थानीय सामाजिक का रसास्वाद होता है ।"[1]

यद्यपि यहाँ अभिनव का विवेच्य विषय रस का स्वरूप न होकर कवि, काव्य अभिनय तथा सामाजिक में रस की चतुरस्र स्थिति का मात्रात्मक निरूपण मुख्य है तथापि इस प्रसंग में मूल-रस की अनायास ही सिद्धि हो जाती है ।

इतना ही नहीं रीतिकालीन देव आदि कवियों ने शृंगार को रसराज आदि न कहकर 'सकलमूल' कहा है जो मूलरस के बहुत निकट जा पहुँचता है । अतः प्रस्तुत प्रकरण मैंने भी मूल रस के प्रयोग को ही स्वीकार किया है । हाँ, डा० नगेन्द्र ने उस मूलरस के पारमार्थिक रूप की

---

1. 'कविगत साधारणीभूत संविन्मूलश्च काव्यपुरःसरो नटव्यापारः । सैवच संवित् परमार्थतो रसः । सामाजिकस्य तत्प्रतीत्या वशीकृतस्य पश्चादपोद्धारबुद्ध्या विभावादि प्रतीति रिति । तदेवं मूल बीज स्थानीयः कविगतो रसः ।"

— हिन्दी अभिनव भारती : पृ० 515.

ओर ध्यान नहीं दिया है, जिसके कारण वे परंपरा का अनुपालन करते हुए व्यावहारिक दृष्टि से शृंगारकरुण आदि में से अन्यतम को मूलरस सिद्ध करते रहे ।

अतः, प्रस्तुत प्रकरण में मूल रस का विवेचन पारमार्थिक एवं व्यावहारिक दोनों रूपों में उल्लिखित है, जो इस प्रकार है :—

(अ) पारमार्थिक दृष्टि से — एक एवं अखण्ड स्वरूप रस की मूल प्रकृति(स्वरूप) का अनुसंधान एवं नामकरण ।

(आ) व्यावहारिक दृष्टि से — उसी मूल रस के अंशभूत शृंगारादि रसों में श्रेष्ठता-हीनता, प्राधान्य-अप्राधान्य आदि का प्रतिपादन ।

पारमार्थिक दृष्टि से मूल रस का विवेचन :—

तैत्तिरीय उपनिषद् के अनुसार "यह ब्रह्म निश्चय ही रस है । केवल रस को ही पाकर यह (जीव) आनन्दित होता है ।"[1] इस निरूपण से यह बात स्वतः सिद्ध हो जाती है कि जिस प्रकार अखण्ड, अद्वैत ब्रह्म उपाधि से युक्त होकर अनन्त नाम-रूपों में परिणत हो जाता है उसी प्रकार आस्वादात्मा एक तथा अखण्ड रस उपाधि भेद से (विभावादि भेद से) शृंगारादि विभिन्न नाम-रूप धारण करके अनेकधा अभिव्यक्त होता है।[2] अतः जब भारतीय अभेद दर्शन रूप प्रत्यगात्मकदृष्टि अनेकता में एकत्व

---

1. 'रसो वै सः । रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति'
— तैत्तिरीय उपनिषद् ब्रह्मानन्दवल्ली सप्तम अनुवाक, पृ० 24.

2. 'अत्र(अतः)सर्वेषां कूटस्था(स्थः)एक एव स्वादात्मा ।'—डा०राघवन : सं० आफ रसाज़ में तथा भोजराज शृंगारप्रकाश में उद्धृत पृष्ठ 177तथा पृ० 423 । 'स एवैषा मात्ममानिनां गुणानामुद्भवहेतुः स्तैरेव कार्यभूतैः स परैषां प्रकाशते' भोज के शृंगारप्रकाश पर भट्टनृसिंह की टीका ।

का अनुसंधान करती है तो उसे अनुभव होता है कि – "सर्वभूतान्तरात्मा वह स्ववशा (सर्वतंत्र स्वतंत्र) ब्रह्म जो अपने एक रूप को ही अनन्त रूपों में परिणत करता है, उसे जो धीर पुरुष अपनी आत्मा में स्थित देखते हैं, उन्हीं का सुख शाश्वत है — अखण्ड आनन्द रूप है – औरों का नहीं ।"[1] अतएव 'नानात्व' की मृत्यु से अपर उठकर 'एकत्व' की शोकमोहातीत आनन्दमयी अवस्था की प्राप्ति के लिए जिस प्रकार ज्ञानीजन अपने ही भीतर विद्यमान उस परमतत्त्व का अनुसंधान एवं अनुभावन करते हैं उसी प्रकार वासना रूप से स्वात्मनिष्ठ एक ही आस्वाद रूप रस का, जो अपने को अनेक रूपों में अभिव्यक्त कर रहा है, भावनापथातीत अनुभावन करने वालों को ही आनन्द प्राप्त होता है । अतएव आचार्यों को व्यावहारिकी सत्ता के औपचारिक या औपाधिक भेदों से ऊपर उठकर रस के एक (अखंड) स्वरूप के अनुसंधान में प्रवृत्त होना पड़ता है ।

भरतमुनि के 'नहि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते' इस सूत्र की व्याख्या करते हुए उसमें प्रयुक्त 'रसान्' एक वचनांत प्रयोग के आधार पर अभिनवगुप्त ने रस की अद्वैतता की प्रतिष्ठा की । उनका कथन है कि – 'रस वास्तव में तो एक ही है जो रूपकों में सूत्र के रूप में(मणिमाला में अनुस्यूत सूत्र की भाँति) शोभित होता है, फिर उसीके भेद दृष्टि से (आवान्तर स्वरूप) विभाग होते हैं और वह (अन्य रसों का विभाग भी) उस (एक-मूल रस) का मुखापेक्षी हुए बिना नहीं रह सकता ।"[2] इस रस

---

1. 'एकोवशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति । तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ।'– कठोपनिषद्, अ० 2, वल्ली 5, श्लोक 12.
2. 'पूर्वत्रबहुवचनमत्रचैकवचनं प्रयुंजानानामयमाशयः । एक एव तावत्परमार्थतो-रसः सूत्रस्थानत्वेनरूपके प्रतिभाति । तस्यैव पुनर्भागदृशा विभागः । सोऽपिनतदेकमुखप्रेक्षितामतिवर्तते ।'– हिन्दीअभिनवभारती, पृ० 442.

का मूल आस्वाद आनन्द रूप है । यह चाहे चिन्मय हो या चेतना वृत्ति रूप, सभी रसों में समान रूप से परिव्याप्त है । अतएव भट्टनृसिंह ने भी आठों स्थायियों में अनुस्यूत "आस्वादात्मा रसको एक और कूटस्थ माना है ।"[1] इसी पृष्ठभूमि में अभिनवगुप्त ने भी यह घोषणा की कि "हमारे मत में तो आनन्दमय ज्ञान स्वरूप (आत्मा) का ही आस्वादन (रसरूप) होता है । ××× केवल उस (आनन्दमय विज्ञानस्वरूप) की विचित्रता के संपादन के लिए रतिशोक आदि संस्कारों (स्थायीभावों) का व्यापार होता है और उनके उद्‌बोधन के लिए अभिनयादि व्यापार होता है ।"[2] इतना ही नहीं उन्होंने उस मूलरस से अन्य रसों की उत्पत्ति का दार्शनिक विवेचन इस प्रकार प्रस्तुत किया है — "इसलिए मुख्य भूत महारस से (1) स्फोट (वाद) के समान असत्य भूत (अन्य रस) अथवा (2) अन्विताभिधान के समान उपायात्मक सत्यरूप (अन्य रस) अथवा अभिहितान्वय के समान वह (प्रधान रस), जिनका समुदाय रूप है, इस प्रकार के अन्य रस (प्रधान रस के) अंश के रूप में स्थित से दिखाई देते[3]

---

1. देखिये पाद टिप्पणी संख्या 2 पृ० 140 ।
2. 'अस्मन्मतेतु संवेदनमेवानन्दघनमास्वाद्यते ××××× केवलं तस्यैव चित्रता करणे रति शोकादि वासना व्यापारास्तदुद्‌बोधने चाभिनयादि व्यापारः ।' — हिन्दीअभिनवभारती, पृ० 507.
3. (भागाभिनिवेश दृष्टानि) के आचार्य विश्वेश्वर कृत उपर्युक्त अनुवाद की अपेक्षा निम्नांकित अनुवाद अधिक उचित प्रतीत होता है ।

भाग(अंश)के प्रति विशेष आग्रह के कारण (भेदबुद्धि के कारण) उपलब्ध होनेवाले विभिन्न रसों का निरूपण किया जाता है ।)

और वर्णन किये जाते हैं ।"[1] स्पष्ट प्रतिपत्ति के लिए इसे यों कहा जा सकता है कि 'महारस' अखण्ड है, जैसे स्फोट वाद में व्यावहारिक रूप से स्वीकृत पदों में वर्ण तथा वाक्यों में पद स्वतंत्र सत्तारहित हैं, वैसे ही अन्य रस स्वतंत्र सत्ता का लोप करके अखण्ड रूप से आनन्द प्रदान करते हैं । अथवा जिस प्रकार अन्विताभिधान वाद में पदार्थ की स्वतंत्र सत्ता स्वीकृत है और वाक्यार्थ बोध के समय उसकी पृथक् प्रतीति भी होती है किन्तु यह पृथक् प्रतीति वाक्यार्थ बोध का उपाय (साधन) है, उसी प्रकार अन्य रसों की स्थिति उस मूल रस की प्राप्ति में साधनमात्र है । अथवा जिस प्रकार अभिहितान्वयवाद में पदार्थों का पृथक्-पृथक् बोध होता है और वे समुदित रूप में वाक्यार्थ का बोध कराते हैं, उसी प्रकार पृथक्-पृथक् आस्वाद्यमान रस प्रधान भूत उस मूल रस का आस्वादन कराते हैं। इस प्रकार वह मूलरस सब रसों के समुदाय-समूहालम्बनात्मक-रूप का नाम है ।

इस प्रकार अभिनवगुप्त के भाष्यानुसार भरतमुनि के मत में रस आनन्द ही है तथा रस रस ही है । रस एक है अनेक नहीं । रस ब्रह्म के समान है । वह स्फोट स्वरूप है । जिस प्रकार ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है, नानात्मक विकृतियाँ असत्य हैं, उसी प्रकार शृंगारादि रस की अनेकरूपता तथा पार्थक्य वस्तुतः असत्य है । रस ही एकमात्र सत्य है ।

---

1. "ततश्च मुख्यगुणात् महारसात् स्फोट सदृशीव असत्यानि वा अन्विताभिधान सदृशीवोपायात्मकानि सत्यानि वा, अभिहितान्वय सदृशीव तत्समुदायरूपाणि वा रसान्तराणि भागाभिनिवेशादुष्टानिनिरूप्यन्ते ।"
— हिन्दी अभिनव भारती, पृ० 427.

अथवा जैसे ब्रह्म अंशी है तथा नामरूपादि उपाधि से युक्त जीव अंश उसी प्रकार रस अंशी है तथा शृंगारादि उसके अंशमात्र हैं । वैशिष्ट्य बोधन के लिए अभिनव गुप्त ने उस मूल स्थानीय रस (मूल रस) को 'महारस' इस नाम से अभिहित किया है ।

इस मत का परिष्कृत विवेचन कवि कर्णपूर के 'अलंकार कौस्तुभ' में मिलता है । उन्होंने इस 'महारस' की ही शक्ति और उसीके समानान्तर एक मूल स्थायीभाव की कल्पना की है, जिसे वे 'आस्वादांकुर-कंद' नाम से पुकारते हैं । रसानुभूति की अवस्था में जो आस्वाद अंकुरित होता है, यह भाव उसका कन्द अर्थात् बीज है । आस्वादांकुर कन्द रजतम से हीन शुद्ध सत्व में प्रतिष्ठित चित्त का कोई विलक्षण धर्म है, विशिष्ट गुण या स्वभाव है ।[1] तात्पर्य यह है कि जब रज-तम की सत्ता से चित्त में विक्षोभ नहीं होता प्रत्युत् सत्व गुण के प्राचुर्य तथा उद्रेक से उसमें सविद् विश्रान्ति की स्थिति होती है तो उसे आस्वादांकुर कन्द कहते हैं । इसे रसानंद के उदय से पूर्व की अवस्था समझना चाहिए । इसीप्रकार साहित्यदर्पणकार ने भी स्थायीभाव के मूलस्वरूप का लक्षण करते हुए इसी 'आस्वादांकुर कन्द' का विशिष्ट उल्लेख किया है । उनका कथन है कि —

जिसे अनुकूल या प्रतिकूल भाव दबा नहीं पाते और जो आस्वाद (रस) के अंकुरण की मूल शक्ति से युक्त कन्द (बीज) रूप होता है, उसे स्थायी-भाव कहते हैं ।[2] जैसे सांख्य शास्त्र के अनुसार "सत्वरजस्तमोगुणानां साम्यावस्था प्रकृतिः" माना जाता है, उसी प्रकार पूर्वोक्त अवस्था साम्या-वस्था है । रस की प्रकृति है । यही 'आस्वादांकुर कन्द' रूप स्थायीभाव

---

1. आस्वादांकुर कन्दोऽसौ धर्मः कथनचेतसः ।
रजस्तमोभ्यां हीनस्य शुद्धसत्व तया सतः ।।—अलंकारकौस्तुभकारिका—63.

2. अविरुद्धाविरुद्धाभावं तिरोधातुमक्षमाः ।
आस्वादांकुर कन्दोऽसौ भावः स्थायीति सम्मतः ।।—साहि०द०, 3/174.

विभावादि के सहाय्य से रस रूप में अभिव्यक्ति या परिणति प्राप्त करता है[1]। उन्होंने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि रस का धर्म आनन्द है और आनन्द अखंड है, अतः रस एक ही है। हाँ, रत्यादि उपाधि स्थानीय है और उपाधि भेद से उनका नानात्व प्रतिभासित होता है।[2] इसीकी वृत्ति में कहा गया है कि "जिस प्रकार सूर्य का प्रतिबिम्ब एक होने पर भी अनेक प्रकार के सकोरों में स्थित जल के तारतम्य से अर्थात् जलगत उपाधि भेद से नाना प्रतीत होता है जबकि वस्तुतः वह एक ही है, उसी प्रकार यह स्थायीभाव रत्यादि स्थायीभावों के कारण रस रूप में भासित होता है। रसगत समस्त भेद उपाधिजन्य है— उसका आत्मगत कोई भी भेद नहीं है। रस आनन्दधर्मी है तथा चरमानन्द रूप है, अतः रस अखंड तथा एक ही प्रकार का है।[3]

प्रत्यभिज्ञा शैवदर्शन की अद्वैती परंपरा के अंतर्गत शैवयोग की अन्तःसाधनात्मक पद्धति में भी 'महारस' की चर्चा मिलती है। गोरखपंथी अन्तःसाधना या खेचरी साधना में ही 'महारस' का दर्शन करते हैं।[4]

---

1. 'आस्वादांकुर कन्दोऽसौ भावःस्थायी रसायते'
   —अलंकार कौस्तुभ कारिका—62.
2. 'रसस्यानन्दधर्मत्वादेकत्वं भाव एव हि।
   उपाधिभेदान्नानात्वं रत्यादय उपाधयः ॥'—वही, कारिका 71.
3. 'रत्यादयः स्थायिनः यथा नानाविध शराव सलिल तारतम्येऽपितदीय-बिम्ब प्रतिबिम्ब एक एव। तथा उपाधिगत एव भेदोनात्मगतो रसस्य। आनन्द धर्मत्वात् चरमानन्दरूपत्वात् एकत्वात् — एकविधत्वम्— रसस्य।" अलंकार कौस्तुभ, वृत्ति पृ० 130.
4. 'महारस सींचै काया अभ्यंतरि' — गोरखबानी, डा० बड़थ्वाल, पृ० 45.

साहित्य के तन्मयी भवन हूप साधारणीकरण की भाँति इस अखण्ड सुख हूप महारस की उपलब्धि के लिए मन की उन्मनी अवस्था अत्यन्त आवश्यक है । इसे प्राप्त करने की व्याकुलता ही 'अखंडित पीर' है । अतएव अशान्त मन को सद्गुरु का उपदेश ही प्रतिबोध द्वारा चंचलता को दूर करके भावोन्मुख स्थिरता प्रदान करता है ।[1] वस्तुस्थिति यह है कि मानव चेतना का एक छोर यदि भौतिक धरातल से संपर्कित है, तो दूसरा ब्रह्मतत्त्व से । इन दोनों का मिलन सामरस्य ही महारस की उपलब्धि का केन्द्र बिन्दु है । इस अखंड आनन्द की वर्षा से भीतर बाहर सब रसाप्लुत हो उठता है । योगी को योग दशा में गहन गुफा से अजस्र प्रस्रवित अमी रस के पान का सौभाग्य प्राप्त होता है ।[2] वही महारस निमग्न योगी जब अपनी अन्तः-चेतना की विलक्षण अनुभूति को वाणी देने का प्रयत्न करता है तो अन्तः-करणावच्छिन्न (काया अभ्यंतरि) महारस काव्य में भी छलक पड़ता है । अतएव डा०बड़थ्वाल का कथन है कि "सहजानुभूति और भावभंगिति ब्रह्मभणिति का रूप ग्रहण कर महारस या काव्यरस का स्वयं सृजन कर लेती है, भले ही यह भणिति कला की दृष्टि से टेढ़ी हो, है तो खांड़ की ही ।"[3]

डा० छविनाथ त्रिपाठी का विचार है कि "इन सिद्धों, संतों और नाथपंथियों का रस, रस नहीं, महारस है । इस महारस की साधना में हृदय की अपेक्षा मस्तिष्क का योग अधिक है"।[4] कहना न होगा कि डा० त्रिपाठी यहां बौद्धिकता की स्थापना करना चाहते हैं पर वह उचित नहीं है।

---

1. अवधू मन जोगी उनमनि रहै । उपजै महारस सब सुख लहै ।
   रस ही माहिं अखंडित पीर । सतगुरु सबद बेधावै धीर ।।
   — गोरखबानी, डा० बड़थ्वाल, पृ० 201.
2. 'रस गगन गुफा से अजर झरै' — कबीर ।
3. गोरखबानी, डा० बड़थ्वाल, पृ० 79.
4. मध्यकालीन कवियों के काव्य-सिद्धांत : डा०छविनाथ त्रिपाठी, पृ० 168-169.

रस आनुभूतिक प्रक्रिया है, और साधना शुद्ध बुद्धि व्यवस्थापित कर्मकांड । अतः साधना में बौद्धिकता अनिवार्य है किन्तु अनुभूति मन, चित्, बुद्धि, अहंकार सबके विगलन की प्रक्रिया है । अतः साधना में बौद्धिकता भले हो किन्तु महारस लोकोत्तर आनन्द के वर्णों की उपलब्धि है । उनकी दृष्टि में "यह महारस अपनी प्रकृति में वैष्णव भक्तों के भक्तिरस से बहुत भिन्न नहीं है । नवीं शती में ही सिद्धों ने शृंगार भावना को अपनी रहस्य साधना में अन्तर्भूत कर लिया था ।"[1] अतः व्यावहारिक धरातल पर भक्तिरस की भांति इसी महारस की डा० त्रिपाठी ने काव्यशास्त्रीय व्याख्या करने के लिए विभावादि योजना की है, जो इस प्रकार है :—

(1) आलम्बन — निर्गुण निराकार
(2) आश्रय — संत या साधक
(3) उद्दीपन — गुरुपदेश, अलख दर्शन लालसा, संसारदीक्षण भंगुरता, कालभय आदि ।
(4) अनुभाव— सहजोन्मत्तता, उन्मनी अवस्था आदि ।
(5) संचारीभाव— उन्माद, विभोरता, गर्व, समाधि आदि ।
(6) स्थायीभाव— प्रीति या अखंडित पीर ।

यह महारस आस्वाद्य है और इससे प्राप्त महासुख या परमानन्द अकथनीय होता है । यह न विशुद्ध शृंगार है न शान्तरस, दोनों का मिश्रण है । यह महारस सहजामृत रस भी है ।[2]

आनन्द रस या सम रस :

ऊपर रस के जिस प्रत्यगात्मक स्वरूप की चर्चा 'महारस' के नाम से की गयी है उसी को आगमिक आनन्दवादियों ने आनन्दरस या समरस के नाम से अभिहित किया है ।

---

1. मध्यकालीन कवियों के काव्यसिद्धान्त: डा०छविनाथ त्रिपाठी: पृ० 169.
2. वही ।

(क) आनन्द रस :

साहित्य में दार्शनिक तत्व की प्रतिष्ठा की चर्चा करते हुए प्रसादजी ने कहा है कि आत्मा का अभिनय भाव है (आत्माभिनयं भावो —ना०शा० 26/39) भाव ही आत्मचैतन्य में विश्रान्ति पा जाने पर रस होते हैं । ××× जिस तरह आत्मा की और इदं की भिन्नता मिटाने में अद्वैतवाद का प्रयोग होता है, उसी प्रकार एक ही प्रत्यगात्मा के भाववैचित्र्यों का ××× अभेद ××××रस में है । उनका (भारतीयों का) कहना है कि आत्मा के अभिनय को, वासना या भाव को अभेद आनन्द के स्वरूप में ग्रहण करो । यह देवतार्चन है । आत्म प्रसाद का आनन्दपथ है । इसका आस्वाद ब्रह्मानन्द ही है ।[1]

श्रुतिवीथि यह है कि ब्रह्म आनन्द है[2] तथा यह आत्मा भी आनन्द ही है ।[3] अतः सीमित आत्मचैतन्य जीव, जीवन में जो कुछ कार्य कर रहा है, उस सारे प्रयत्न के मूल में इसी आनन्द की उपलब्धि की आकांक्षा है ।[4] अतः जिस प्रकार आनन्द में प्रयाण एवं अभिसन्निवेश[5] जीव की चरम कामना है उसी प्रकार काव्य का चरम लक्ष्य भी आनन्द में प्रयाण तथा उसीमें संवेश (तन्मयता) है । यद्यपि काव्यानन्द लोकधर्मी आनन्द है तथापि समाधि सुख के रूप में गृहीत होता है ।[6] इस समाधि

---

1. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध : प्रसाद : पृ० 80-81.
2. 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' — शतपथ ब्राह्मण, 14/6/9/24.
3. 'आनन्दो व आत्मासौ' — वही, 10/3/5/14.
4. 'आनन्दायैवभूतानियतन्ते यानि कानिचित्'—योगवाशिष्ठ, स्थितिप्रकरण 100/20.
5. 'आनन्दं प्रयन्त्यभि संविशन्ति । आनन्दं विजिज्ञासस्व । आनन्दं ब्रह्म । —तैत्तिरीय उपनिषद, भृगुवल्ली, षष्ठ अनुवाक ।
6. 'लोकानन्दः समाधि सुखम्' — शिवसूत्र -18.

सुख की व्याख्या करते हुए क्षेमराज ने कहा है कि चेतना की आत्मविश्रान्ति से जिस चमत्कारमय आनन्द का उदय होता है, वही इसका समाधि सुख है ।[1] इस स्थिति में वासना रूप में स्थित संस्कारों के समस्त भेदों के विगलित हो जाने पर भावक सम्पूर्ण वृत्तियों को आनन्द रस के प्रवाह के रूप में देखता है[2] जिसका आस्वाद ब्रह्मास्वाद के तुल्य होता है ।[3]

इस आनन्द का स्वरूप निर्वचन करते हुए उपनिषद् में कहा गया है कि – "आनन्दसुख का चैतन्य स्वरूप है, अपरिमित आनन्द का सागर है और निर्विशेष सुख का स्वरूप है ।"[4] इससे स्पष्ट है कि आनन्द चेतना का धर्म है । इसी आनन्द से सारे विश्व की सृष्टि होती है[5] और सृष्टि भी उच्छलित आनन्द शक्ति का स्वयमेव स्वयं सृजन है ।[6] इस आनन्द को आस्वाद किसी न किसी लौकिक (वस्तु) के माध्यम से ही होता है और वह

---

1. 'प्रमातृपद विश्रान्ति अवधानान्तश्चमत्कारमयो च आनन्द स्तदेवास्य समाधि सुखम् ।' – क्षेमराजः उपसूत्र की टीका ।
2. विगलित भेद संस्कारमयमानन्दरस प्रवाहमेव पश्यति । क्षेमराजः – प्रसाद द्वारा काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ075 पर उद्धृत ।
3. 'परब्रह्मास्वाद स ब्रह्मचारित्वं चास्यस्य रसस्य' (लोचन) – वही, पृ0 75. ध्वन्यालोक (चौखंबा) पृ0 190.
4. 'आनन्दं नाम सुख चैतन्य स्वरूपो परिमितानन्द समुद्रो विशिष्ट सुख स्वरूपश्चानन्द इत्युच्यते ।-' — सर्वसारोपनिषद्, 4.
5. आनन्दशक्तितः सैषोक्ता यतो विश्वं विसृज्यते – तंत्रालोक 3/68.
6. आनन्दोच्छलिताशक्तिः सृजत्यात्मानमात्मना' — विज्ञान भैरव श्लोक 69 की वृत्ति में उद्धृत ।

क्रमशः ऐन्द्रिय धरातल से ऊपर उठता हुआ आत्मचेतना में विश्रान्त होता है । अनुभव ज्यों-ज्यों ऊर्ध्वमुखी होता जाता है, वैसे ही वैसे माध्यम का लोप होता जाता है और हृदय में एक अपूर्व स्पन्दन का अनुभव होता है इसीका नाम आनन्द शक्ति है और इसी शक्ति से सम्पन्न प्राणी को सहृदय कहते हैं । तंत्रालोक में इसे इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है —

मधुरगीत अथवा चन्दनादिक के स्पर्शादि के क्षण में हृदय में एक स्पन्दन होता है । यही स्पन्दन मध्यस्थ के विलीन हो जाने पर हृदय में मात्र स्पन्दन के रूप में अनुभूत होता है, यही आनन्द शक्ति का स्वरूप है, और इसी शक्ति से सम्पन्न प्राणी को सहृदय कहते हैं ।[1] इसी सहृदयता के क्षण में जो रसात्मक अनुभूति होती है, उसके पारमार्थिक स्वरूप को आनन्दरस की संज्ञा दी गयी है ।[2]

---

1. यथाहि मधुरे गीते स्पर्शे चाचन्दनादिके ।
   माध्यस्थ्य विगमे यासौ हृदये स्पन्द मानता ।।
   आनन्दशक्तिः सैवोक्ता यतः सहृदयोजनः । — तंत्रालोक, 3/209-10.

2. (क) जैसे भोज ने पारमार्थिक दृष्टि से जड़ा मूलरस के रूप में शृंगार को प्रतिष्ठित किया है वहीं व्यावहारिक धरातल पर अन्य अनेक रसों की भाँति आनन्द को भी एक रस माना है तथा उसका स्थायीभाव प्रहर्ष बतलाया है जो मोद का विकास है । (On page 636 we find Praharsa as a sthayi Bhava reaching to the climax of Anand).

   प्रहर्ष स्थायिभावे - - - - प्रकर्षरूपणात् आनन्द

   Earlier also Bhoja says in explaining Rasa-Sankar (on page 432, that Harsa is a Rasa on par with those developing from Bhaya, Soka, Vismaya and Krodha. Harsa is a sthayin and Mud in the illustrative versa.

   मुदाविर्भावितम् meaning आनन्द is the Rasa)

   डा० राघवन् : भोज शृंगार प्रकाश, पृ० 414.

समरस :

समरसता साधनात्मक उपलब्धि की एक ऐसी स्थिति है, जहाँ द्वन्द्व अपने विरोध का परिहार करके समतोल हो जाते हैं । प्रत्येक आगम एवं दर्शन में साधनाकथा में इसी स्थिति की चर्चा किसी न किसी रूप में अवश्य मिलती है । यह विकृति का प्रकृति में समीकरण है, साम्यावस्था है । अतएव यह विसर्ग न होकर समावस्था है । यह ओली भाव है, जिसमें रस की समत्व प्रतिष्ठा के दर्शन होते हैं ।[1] दर्शनों में यह शब्द बहुचर्चित रहा है । कामाद्वैत से लेकर भावाद्वैत एवं शैवाद्वैत तक सर्वत्र सामरस्य का महत्व दृष्टिगत होता है । युग्य-साधना में युगनद्ध मिलनावस्था (परस्पर अनुप्रवेश रूप अनुकूलता)[2] सशेश्वर साधना में रज बिन्दु का मिलन आदि भौतिक धरातल से लेकर चेतना के मन, चित्त, बुद्धि, अहंकार आदि से होती हुई स्वयं प्रकाश तत्व में पूर्ण एकता की स्थिति और उस दशा में पूर्णता का अनुभव समरसता है । इसको समरस चक्र भी कहते हैं । जीवन में सभी प्रकार के

(तृ) मोद तथा आनन्द का योगायोग तथा कामाप्ति से अमृतत्वोपलब्धि ऋग्वेद में भी द्रष्टव्य है —

यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुदः प्रमुद आसते ।
कामस्य यत्राप्ताः कामास्तत्रामृतं कृधीन्द्वायेन्दो परिस्रव ।ऋ09/113/11

यहाँ मुख्य रस की चर्चा के क्रम में अन्य रसों के समानधर्मा आनन्दरस का उल्लेख यद्यपि महत्वपूर्ण नहीं है तथापि इससे इतना तो संकेत मिलता ही है कि रस का स्वरूप आनन्द है ।

1. 'समोरसो यस्मिन् स समरसो लोलीभावः ' स्वच्छन्दतंत्रभाष्य 4/296.

2. 'समरसः परस्परानुप्रवेशरूपमानुकूल्यम्'—कामकलाविलासटीका, श्लोक 6.

अनुभवों में तथा सभी ऋतुओं में एक ही रस चक्र का स्थापित हो जाना समरस चक्र है ।[1] अथवा जीवन के चक्र में एक ही रस की अनुभूति प्राप्त करना ही समरस चक्र है । मन की प्रवृत्ति एवं निवृत्ति सामरस्य की स्थिति में नष्ट हो जाती है ।[2] यह अद्वयावस्था है ।

योग साधना में सामरस्य का अर्थ है शिव शक्ति का मिलन । "सहस्रार में परमशिव, हृत्पद्म में जीवात्मा और मूलाधार में कुंडलिनी विराजमान है । जीवात्मा परमशिव से चैतन्य एवं कुंडलिनी से शक्ति प्राप्त करता है । इसीलिए कुंडलिनी जीव शक्ति है । साधना के द्वारा निद्रिता कुंडलिनी को जगाकर मेरुदण्ड की मध्यस्थिता नाड़ी सुषुम्ना के मार्ग से सहस्रार में स्थित परमशिव का उत्थापन करना ही कौल साधक का परम कर्तव्य है । वहीं शिवशक्ति का मिलन होता है । शिवशक्ति का यह सामरस्य ही परम आनन्द है ।"[3] इस दशा में सभी अमृत तुल्य हो जाता है ।[4] क्योंकि यह वस्तुतः द्वैत न होकर द्वैताद्वैत विलक्षण[5] है ।

---

1. सम = Sameness and रस = Cakra of sameness = the oneness of the nature of all that is there in the cycle of existance - An Introduction to Tantric Buddhism: S.B. Dass Gupta:
—मध्यकालीन हिन्दी काव्य की तांत्रिक पृष्ठभूमि में पृष्ठ 103 पर उद्धृत ।

2. वही, पृ० 103.

3. नाथ संप्रदाय : डा०ब्रजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० 81, वही उद्धृत—
समरसानन्दरूपेण एकाकारं चराचरे ।
ये च जानं स्वदेहस्थम् कुलवीरं महाद्भुतम् ।।—अकुलवीरतंत्र पी। 15.

4. 'जाते समरसानन्दे द्वैतमध्यमृतोपमम् ।
चित्रयोरिव दम्पत्यो जीवात्मा परमात्मनोः ।।'— बोधसार, पृ० 20.

5. 'अद्वैतंकेचिदिच्छन्ति द्वैतमिच्छन्ति चापरे ।
समतत्त्वं न विन्दन्ति द्वैताद्वैत विलक्षणम् ।।'
—गोरक्षसिद्धान्त संग्रह पृ० 11 पर अवधूत गीता का वचन ।

त्रिक् दर्शनों की दृष्टि में भी ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय का ज्ञान में लीन हो जाना; या ध्याता, ध्यान, ध्येय का ध्यान में लय-योग सामरस्य है, जब मन आनन्द में लीन हो जाता है ।[1] प्रत्यभिज्ञा शैव दर्शन में परमात्मा के चमत्कार को इच्छा शक्ति कहा गया है । इसी इच्छाशक्ति का अंतरंग रूप यदि ज्ञान है तो बहिरंग रूप क्रिया । जीवन का दुःख तभी तक है, जब तक —

"ज्ञान दूर कुछ क्रिया भिन्न है
इच्छा क्यों पूरी हो मन की
एक दूसरे से न मिल सके
यह विडम्बना है जीवन की ।"[2]

किन्तु इनका मिलन ही समरसता है, जहां विडम्बना की समाप्ति और आनन्द की सृष्टि होती है । यही आनन्दमयी समरसता विभावानुभाव-व्यभिचारिभाव के सामरस्य (साधारणीकरण) से साहित्य के भावक को प्राप्त होती है । रस-सिद्धान्त के शैव व्याख्याताओं ने रस की जो व्याख्या की है, उस आधार पर निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि रस का विलक्षण आनन्दमय क्षण वह है जब प्रतिभा (इच्छाशक्ति) में बौद्धिक चेतना (आमर्शात्मक ज्ञान) तथा क्रियाशक्ति (सर्वाकार योगित्व) का लय या सामरस्य हो जाता है तब जिस आनन्द संवित् की उपलब्धि होती है वही रसानुभूति है । अतः आनन्द एवं सौंदर्य से परिपूर्ण समरसीभूत हृदय से संविद् नामक शक्ति के रूप में जो आनन्दधारा प्रवाहित होती है, उससे

---

1. नाहमस्मिन क्षण्योऽस्ति ध्येयं क्षत्र न विद्यते ।
आनन्दपद संलीनमनः समरसी गतम् ।। नेत्र तंत्र 3/13.

2. जयशंकर प्रसाद : कामायनी : रहस्यसर्ग, प्र0संस्क0, पृ0 272.

अभिषिक्त विश्व निरन्तर अभिनवता एवं तन्मय चमत्कार से परिपूर्ण समय लोक के अखण्ड आनन्द साम्राज्य में प्रवेश करता है ।[1] यह समरस वास्तव में मूलरस ही है ।

विषय समापन से पूर्व समरसता के प्रतिष्ठापकों में सूरदास जी का उल्लेख भी अत्यावश्यक समझता हूँ । भगवान का अनिर्वचनीय, क्षण-विलक्षण रूप गोपी के लिए समस्या बन गया है । आलंबन के जिस रूप को अनन्य सौंदर्य सार समझकर वह अपने हृदय में बसाना चाहती है, वही 'क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति' की अपनी स्वाभाविक सौंदर्य-प्रकृति के कारण बदल जाता है । मानो होड़-सी लग जाती है । श्रीकृष्ण मानो अनन्त माधुर्य मूर्तियों के विस्तार से गोपी को छल लेना चाहते हैं और वह भी सर्वोत्तम सौंदर्य संवलित रूप की खोज में अपलक निहारती विभोर हुई जा रही है । पर कोई थकता नहीं । न श्रीकृष्ण के सौंदर्य

---

1. इसीको शैव तंत्र में योगिनीहृदय भी कहा गया है —

(क) योगिनी हृदयं लिंगमिदमानन्द सुन्दरम् ।
बीज-योनि-समापत्त्यासुतेकमपि संविदम् ।। —तंत्रालोक 5/121.

(ख) स्वतोलिंगसमापत्ति विसर्गानन्द धारया ।
सिक्तं तदेव यद् विश्वं सर्वं नवनवायते ।। — वही, 5/124.

(ग) यत्र यत्र ममस्तुष्टिर्मनस्तत्रैव धारयेत् ।
तत्र तत्र परानन्द स्वरूपं संप्रवर्तते ।। — विज्ञान भैरव 74.

(घ) सत्त्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयनिजसंविद्विश्रान्तिलक्षणे न परब्रह्मास्वाद सविधेन भोगेन परे भुज्यते ।—अभिनवभारती, पृ० 465 तथा
सत्त्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयसंविद्विश्रान्तिसतत्त्वेन भोगन भुज्यते ।
— हिन्दी काव्यप्रकाश (आचार्य विश्वेश्वर), पृष्ठ 107.

की सीमा है न गोपी के रूप-लोभ की । यह एक विलक्षण क्षण है, जिसका निर्वचन संभव नहीं । गोपी सखी से कहती है कि सखि ! यह विरह है या संयोग है – लाभ है कि हानि है अथवा यह एक समरसता की स्थिति है । वास्तव में यहाँ संदेह के आलंकारिक चमत्कार के परदे में सूर ने एक अनिर्वचनीय तत्व का उद्घाटन किया है । विरह और संयोग स्थिति के सूचक हैं तथा हानि लाभ उपलब्धि के । स्थिति एवं उपलब्धि के धरातल पर तो द्वन्द्वों की स्थिति है, और वह भी विचित्र मिश्रण के साथ । (यदि कवि क्रम का निर्वाह करता तो उसे सामान्यतः विरह संजोग के क्रम में हानि लाभ कहना चाहिए था, किन्तु यहाँ दुष्क्रमत्व ही गुण बन गया क्योंकि विरह लाभ तथा संयोग हानि का विलक्षण अनुभव कवि को देना है पूर्वकाल में हृदय मन्दिर में प्रतिष्ठित माधुर्य मूर्ति से वियोग हानि स्वरूप होते हुए भी एक अभिनव सौंदर्य प्रतिमा के लाभ की भूमिका बन रहा है । क्या सचमुच यहाँ संयोग (एक रूप में स्थिरता) हानि नहीं है ?) किन्तु अनुभूति के धरातल पर 'सूर' इसे समरस कहते हैं । यह समरसता सारे विकल्पों से परे निर्विकल्पक अनुभूति है जहाँ आनन्द का अखण्ड साम्राज्य

---

१. स्याम सौं काहे की पहिचानि ।
निमिषु-निमिषु वह रूप न, वह छवि, रीति कीजै जिय जानि ।
इकटक रहति निरन्तर निसि दिन, मन बुधि सौं चित सानि ।।
एकौ पल सोभा की सीवाँ, सकीत न उर मंड आनि ।
समुझि न परै प्रगट ही निरखत, आनन्द की निधि खानि ।।
सखि यह विरह, संजोग कि समरस सुख-दुख लाभ की हानि ।
मिटति न घृत तैं होम-अग्नि रुचि, सूर सुलोचन-बानि ।
इत लोभी, उत रूप परम निधि, कोउ न रहति मिति मानि ।।
– आगरा विश्वविद्यालय प्रकाशन, सं० 36, काव्यसौरभ :
सूरदास, पद सं० 23.

प्रतिष्ठित होता है । अतः यह मूलरस का स्वरूप समरस आनन्द है । इसका समीकरण इस प्रकार समझना चाहिए ।

मूलरस= महारस= समरस= आनन्दरस= एकरस ।

अन्तः सिद्धान्त रूप में एकरूपतावत् परमार्थतो रसः' का सिद्धान्त पूर्णतया प्रतिष्ठित है ।

अतः निष्कर्ष यह है कि आनन्दमय रस ही महारस है । यह वस्तुतः एक ही है । अन्य रस केवल विकारमात्र हैं ।

व्यावहारिक दृष्टि से मूलरस का विवेचन :

ऊपर पारमार्थिक धरातल पर अखण्डानन्द स्वरूप जिस रस की चर्चा की गयी है, वही रत्यादि उपाधि से युक्त होकर शृंगारादि अनेक नामों से अभिहित किया जाता है ।[1] इसीलिए जहाँ चैतन्य अंश को लेकर रस को नित्य एवं स्वप्रकाश कहा जाता है वहीं रत्यादि अंश को लेकर अनित्य (उत्पत्ति विनाशशील) तथा पर प्रकाश्य (विभावादि प्रकाश्य) भी ।[2] इतना ही नहीं जहाँ अपने मूल रूप में यह सच्चिदानन्द परमशिव की भाँति एकान्त आनन्दमय है, वहीं रत्यादि स्थायी भावात्मक रस शैवाद्वैती समरसता की ही भाँति सुख प्रधान है ।[3] अभिनव ने तो विभावादि भेद से विभक्त रसों की चर्चा

---

1. 'आत्मन्मेवतु संवेदनमेवानन्द घनमास्वाद्यते । ×× ×केवलं तस्यैव चित्रता-करणे रति शोकादि वासना व्यापारः ।' —हिन्दी अभिनव भारती, पृ0507.
2. 'चिदंशमादाय नित्यत्वं स्वप्रकाशत्वं च सिद्धयम् । रत्यादयंशमादायत्वनित्य-त्वमितरभास्यत्वं च ।' ,, रसगंगाधर (चौखम्बा), पृ0 96-97.
3. 'सर्वेऽमी सुख प्रधानाः' — हिन्दी अभिनवभारती : पृ0

के क्रम में 'भाव एव रसः' का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है ।

चूंकि परिकल्पित विषय भोगादि की वासना से रस का आनन्द स्वरूप आच्छादित रहता है, अतः रत्यादिसमुपरंजकों के योग से न केवल शृंगारादि विभिन्न नामकरण होते हैं, अपितु इनमें तारतम्य, उत्पाद्य-उत्पादक भावादि की भी चर्चा की जाती है । यही कारण है कि विद्वज्जनों ने अपनी-अपनी मान्यता के अनुसार प्रधान रस के रूप में करुण, शान्त, शृंगार, अद्भुत एवं भक्ति को रसराज सिद्ध करने का प्रयास किया है ।

आचार्यों ने अपने-अपने अभीष्ट रस को रसराज सिद्ध करने के लिए जिन दार्शनिक प्रतिपत्तियों, प्रमाणों एवं तर्कों का आश्रय लिया है, साथ ही अपने मत की स्थापना में दूसरों की स्थापना का जैसा खंडन मंडन किया है, उनके युक्तायुक्तत्व का विचार एवं किसी एक का रसराजत्वाभिषेक एक स्वतंत्र शोध का विषय है । मैं उस चर्वितचर्वणा के द्वारा अपने प्रबंध की कलेवर वृद्धि को उचित नहीं समझता किन्तु थोड़ी-सी तात्त्विक चर्चा को अपरिहार्य मानकर प्रस्तुत कर रहा हूँ ।

शृंगार को रसराजत्व पर अभिषिक्त करने वालों का विश्वास है कि विश्वात्मा की इच्छा शक्ति का प्रस्पन्द काम है । इस काम की अभिव्यक्ति

---

१. महारस के रूप में रस दशा भले ही अखंड और आलोचनात्मक बुद्धि से अबाधित मानी गई हो, किन्तु व्यावहारिक स्तर पर उपलब्ध काव्यों में रस से लेकर रसाभास तक की अनेक कोटियाँ लक्षित की गई है ।

— रस सिद्धान्त एवं सौन्दर्यशास्त्र :
निर्मला जैन, पृ० 444.

आकर्षण[1] के रूप में होती है जिसका परिणाम प्रेम है और जिसका विलास आनन्द है । मानव चेतना में इसकी वासनात्मिका वृत्ति रति है । यही रति जागतिक धरातल पर शृंगार कहलाती है । अग्निपुराण[2] एवं तदनुवर्ती शारदातनय ने इसकी उत्पत्ति इस प्रकार मानी है –

ब्रह्म का चैतन्य चमत्कार – अहंकार – अभिमान – रति = शृंगार (व्यभिचार्यादि से परिपुष्ट) तथा इसी के भेद अन्यरस । किन्तु भोज ने[3] रस= अभिमान= अहंकार= शृंगार, ऐसी उपपत्ति के द्वारा सिद्ध किया है कि रस और शृंगार परस्पर पर्यायवाची हैं । (शृंगार प्रकाश के आधार पर क्रम इस प्रकार है – अहंकार=शृंगार=अभिमान=रस । ऐसी दशा में भी शृंगार रस का पर्याय है)[4]

---

1. जो आकर्षण बन हँसती थी,
   रति थी अनादि वासना वही,
   अव्यक्त प्रकृति उन्मीलन के,
   अंतर में उसकी चाह रही । – कामायनी, कामसर्ग, पृ० 72.

2. आद्यस्तत्रय विकारोयः सोऽहंकार इतिस्मृतः ।
   ततोऽभिमानस्तत्रेदं समाप्तं भुवनत्रयम् ।
   अभिमानाद्रतिः सा च परिपोषमुपेयुषी
   व्यभिचार्यादि सामान्यात् शृंगार इति गीयते ।
   तद्भेदाः कामभितरे हास्याद्या अप्यनेकशः ।
   स्व स्वस्थायि विभोत्थाः परिपोष्य स्वलक्षणाः ।।
   – अग्निपुराण, 339/4-6.

3. रसो भिमानोऽहंकारः शृंगार इति गीयते ।
   यो धीस्तत्रयान्वयात् काव्यं कमनीयत्वमश्नुते ।।–भोजः सरस्वतीकंठा० 5/1

4. 'तंचात्मनोऽहंकार गुणविशेषं ब्रूमः। स शृंगारः सोऽभिमानः स रसः ।
   – शृंगारप्रकाश खण्ड 1, पृ० 2–3 (डा०श्रीवास्तव के ग्रन्थ से उद्धृत)

अन्य रसों में रसत्व उपचारवश स्वीकार किया जाता है । भरत ने भी काम से ही सभी रसों की निष्पत्ति मानी है ।[1]

चूंकि अभिमान से भोक्तृत्व का उदय होता है, अतः पुरुष की भोगोन्मुखी वृत्ति शृंगार है । यह प्रवृत्तिमूलक है, एवं इसका स्वरूप बहिर्मुखी है । यही काम्य है, यही कमनीय है[2] । अतः शृंगार रसराज है ।

इसीप्रकार जब बहिर्मुखी जीवनधारा निवृत्तिपरक या अन्तर्मुखी हो जाती है, वहाँ चेतना का उपशम हो जाता है । इन्द्रियों का भोगाकर्षण विश्रान्त हो जाता है या विकर्षणमें बदल जाता है । आत्मचैतन्य से प्रवाहित जीवनधारा पुनः आत्मचैतन्य की ओर लौट पड़ती है । जीवन का चक्र पूर्ण होने लगता है । चेतना के आवरण उघड़ने लगते हैं और आत्मा की सहजानंद स्थिति का साक्षात्कार स्यमान हो उठता है । ऐसे क्षणों में स्वतः ही समस्त विकल्पों एवं द्वन्द्वों का नाश हो जाता है । सभी भाव एकतान होकर आनंद पद में संलीन हो जाते हैं । वहाँ सुख दुख देशकाल आदि नहीं होते । इसी अवस्था को शांतरस कहा गया है । वहाँ सच्चे अर्थों में सच्चिद् विश्रान्ति हो जाती है । यही वास्तव में रस की प्रकृति है, प्रधान स्वरूप है, सबका मूल है । अतः शान्त ही रसराज है ।

स्पष्ट है कि उपर्युक्त दोनों ही रस परस्पर विरुद्धधर्मी दिशाओं में गतिशील चेतना के दो छोर हैं । दो अतियाँ हैं । एक में प्रवृत्ति लोकोन्मुखी होकर भोगों के अनन्तलोक में रागमूलक आकर्षण एवं सौन्दर्य की आनन्दमयी चेतना में विश्रान्त होती है, तो दूसरे में निवृत्ति आत्मोन्मुखी होकर तथा भोगों से विरत होकर आत्मविश्रान्ति में ही आत्मानन्द की उपलब्धि कराती है । यह

---

1. 'प्रायेण सर्वभावानां कामान्निष्पत्तिरिष्यते' – ना०शा०, 22/89.

2. देखिये टिप्पणी संख्या 3 , पृष्ठ – 158

निवृत्ति यदि भोगों की नश्वरता अथवा अतिशय भोग के कारण उत्पन्न होती है तो वृत्तियों का निर्वेदात्मक उपशय आनन्ददायक होता है किन्तु एक तीसरी स्थिति तब उत्पन्न होती है, जब हमारी चेतना डारिल की तरह अपने रागमूलक वासना संस्कारों की लकड़ी की साथ-साथ ले कर निवृत्ति की ओर उन्मुख होती है । यहाँ प्रवृत्ति-निवृत्ति का एक विलक्षण गंगा जमुनी संगम एक दृश्यात्मक अलौकिक चमत्कार की सृष्टि करता है । यही स्थिति वैष्णव भक्तों का भगवद्-भक्ति रसामृत है जहाँ राधा एवं कृष्ण का अखण्ड रास है (रस एव रासः) अथवा आनन्दवादियों का समरस आनन्द है, जहाँ शिवशक्ति का सामरस्य है ।

यह एक ऐसा मध्यबिन्दु है जहाँ अन्य द्वन्द्वों के समीकरण की भाँति दोनों अतियों का भी एकान्वयन हो जाता है । अतः निष्कर्ष रूप में डा० नगेन्द्र का यह निर्णय अत्यन्त उचित ही है कि "शैवागम के आनन्द संप्रदाय के अनुयायी रसवादियों ने शांत और शृंगार के विवाद को मिटाने के लिए आनन्द रस नाम अधिक उपयुक्त समझा" । प्रसाद के अनुसार — "अभिनवगुप्त ने नाट्यरसों की व्याख्या में उसी अभेदमय आनन्दरस को पल्लवित किया ।"[2] वैष्णव आचार्यों ने भी आनन्दवादी अद्वैत सिद्धांत के अनेक तत्त्वों को यथावत् स्वीकार करते हुए द्वैत की भूमिका पर भक्तिरस को मूल आनन्दरस या शृंगार रस के समकक्ष प्रायः इन्हीं तर्कों के आधार पर प्रतिष्ठित किया है ।"[3]

---

1. रस सिद्धान्त, डा० नगेन्द्र : पृ० 264.
2. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, प्रसाद, पृष्ठ 76 पर उद्धृत ।
3. रससिद्धान्त : डा० नगेन्द्र, पृ० 265.

इस प्रकार अब तक जिन तीन रसों को रसराजत्व प्रदान किया गया है वे अपने मूल रूप में आत्मनिष्ठ एवं आत्मकेन्द्रित है किन्तु व्यक्ति केवल व्यष्टि नहीं है । जब उसे अपनी आत्मचेतना का ही प्रसार इस विराट् विश्व में दृष्टिगत होता है, तो वह अपने को समष्टि के एक घटक के रूप में देखता है । ऐसी स्थिति में आत्मसुख तथा आत्मकल्याण की भावना का अनिवार्यतः लोकसुख एवं लोकमंगल की भावना में विस्तार हो जाता है । यह लोकमंगल की भावना एक ऐसी दशा है, जहां सहृदयता करुणा है ।[1] सहानुभूति करुणा है । कल्याणोन्मुखी रीति करुणा है तथा परम कल्याण की ओर उन्मुख विरोमित करुणा है, जहां भक्ति का आलंबन पहले "काव्यमूर्ति के रूप में दृष्टिगत होता है फिर लावण्य के आलोक से संवलित और पुनः विव्यापक सौंदर्य से परिपूर्ण ।"[2] अतः लोकमंगल विधायिनी करुणा को रसराजत्व प्रदान करना मानवता का विस्तार करना है जहां व्यष्टि समष्टि में अर्पित हो जाता है ।

अब रही अद्भुत रस के रसराजत्व की बात । इस पर थोड़ा अधिक विचार कर लेना भी आवश्यक प्रतीत होता है ।

---

1. 'सहृदयतालिलोके करुणेति प्रसिद्धा । ××× इति शंकुकः ।-अभिनवभारती पृ० 579.

2. (क) काव्यकर्बुरकटाक्षनिरीक्षणेन
लावण्य संवलित शैशव वैभवेन
आपूर्णता भुवनमद्भुत विभ्रमेण
श्रीकृष्णचन्द्र शिशिरी कुरुलोचनं मे। अज्ञात

(ख) स्मृतापि तत्कालनार्यं करुणया हरन्ती नृणामघंगुरुतनुत्विषां
वलयिता शतैर्विद्युताम् ।
कलिन्दगिरिनन्दिनीतटसुरद्रुमालम्बिनी मदीयमति चुम्बिनी
भवतु कापिकादम्बिनी ।। — रसगंगाधर, मंगलाचरण ।

रस का स्वरूप निरूपण करते हुए विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में इसे 'लोकोत्तर चमत्कार प्राणः' कहा और उसकी व्याख्या करते हुए यह स्पष्ट किया कि 'चमत्कार' शब्द 'विस्मय' का समानार्थी है, जिसका स्वरूप है चित्त विस्तार या मनोविकास।[1] रस का प्राण चमत्कार है इसका निर्देश हमारे (विश्वनाथ के) वृद्ध प्रपितामह सहृदयों के गोष्ठी वरिष्ठ सदस्य तथा कवि पंडित मुख्य श्री नारायण ने किया है। उसीका धर्मदत्त ने अपने (अलंकार) ग्रन्थ में इस प्रकार उल्लेख किया है।

सब रसों में चमत्कार सार रूप में प्रतीत होता है और चमत्कार (विस्मय) के सार तत्व रूप (स्थायी) होने से सब जगह अद्भुत रस ही प्रतीत होता है। अतः नारायण पंडित केवल अद्भुत रस ही मानते हैं।

वस्तुस्थिति तो यह है कि नारायण पण्डित, धर्मदत्त तथा विश्वनाथ सभी 'चमत्कार सम्प्रदाय' के अनुयायी हैं, जिसकी चर्चा इसी शोध प्रबन्ध में एक अलग अध्याय में की गयी है। किन्तु सामान्यतः विद्वानों ने इसी श्लोक के आधार पर अद्भुत को रसराजत्व का दावेदार सिद्ध किया है।

इस श्लोक की उपर्युक्त विमलाटीका[2] के आधार पर डा० नगेन्द्र ने

---

1. चमत्कारश्चित्त विस्तार रूपो विस्मयापर पर्यायः। तत्प्राणस्त्वं चास्मद् वृद्धप्रपितामह। सहृदय गोष्ठी वरिष्ठ कवि पंडित श्रीमन्नारायण पादैरुक्तम्। तदाह धर्मदत्तः स्वग्रन्थे —

   रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते
   तच्चमत्कार सारत्वे सर्वत्राप्यद्भुतो रसः।
   तस्मादद्भुतमेवाह कृती नारायणो रसम्॥

   — साहित्यदर्पण, तृ०परि०, श्लो० 3 की वृत्ति।

2. रससिद्धान्त, पृ० 262.

अद्भुत से भी रसराजत्व का 'दावा दायर'[1] करवाया । 'अर्जीदावा' तैयार हुआ और पक्ष विपक्ष के तर्कों पर विचार कर न्यायाधीश का फैसला दिया कि 'पक्ष दुर्बल है'[2] तथा 'मान्यता आंशिक ही हो सकती है'[3]। लाइये मुकदमें का 'रिवीज़न' कर लिया जाय ।

डा० नगेन्द्र की स्थापना है कि 'चमत्कार का अर्थ है निर्विघ्न आत्म प्रतीति-आत्मास्वाद अथवा आनन्द । ××× काव्य के आनन्द में 'अलौकिक' – लोक से कुछ अधिक अथवा 'असाधारणत्व' का अन्तर्भाव मूलतः ही हो गया है । पाश्चात्य सौन्दर्य दर्शन में भी सौन्दर्य की अनुभूति में विस्मय की स्थिति अनिवार्य मानी गयी है । उसमें अनुराग और विस्मय का सामंजस्य रहता है ।[4]

डा० राघवन् ने अपने ग्रन्थ नम्बर आफ रसाज़[5] में लिखा है कि सभी रसों के अद्भुत रस में समाहार करने का प्रयत्न 'नारायण' ने किया था जिसका उल्लेख धर्मदत्त की उपर्युक्त पंक्तियों में है । सोठिमार भट्टारक के ग्रन्थ 'रससुधानिधि' से ज्ञात होता है कि धर्मदत्त ने भोज के शृंगारसिद्धांत का पुनरुद्धार किया है ।[6] इसी धर्मदत्त ने नारायण प्रतिपादित अद्भुत के प्रकृति रस का अपने अलंकार ग्रन्थों में उल्लेख किया है ।

---

1. रससिद्धान्त, पृ० 264.
2. वही ।
3. वही, पृ० 266.
4. वही, डा० नगेन्द्र, पृ० 261-62.
5. देखिये– नम्बर आफ रसाज़, डा० राघवन्, पृ० 173-74.
6. वही, पृ० 174. (Manuscript in the Madras Government Oriental M.S.S. Library, R. 3210).

भानुदत्त की रस तरंगिणी में भी इस प्रकार का उल्लेख मिलता है, जिससे विदित होता है कि अद्भुत रस सर्वत्र होता है कहीं अंग रूप में कहीं अंगी रूप में । उनका कथन है कि – "जहां शृंगारादि रसों में चमत्कार के दर्शन (अनुभव) से चित्त विस्तार अंगरूप से भासित होता है, वहां शृंगारादि रस ही होते हैं किन्तु जहां प्रधान (अंगी) रूप में भासित होता है, वहां अद्भुत रस होता है ।"[1] इससे यही विदित होता है कि भानुदत्त के मत में भी अद्भुत व्यापक एवं प्रकृति रस है ।

डा० सत्यव्रत सिंह ने भी साहित्यदर्पण की भूमिका में लिखा है कि "यह 'चमत्कार' अथवा यह 'विस्मयावेश' अद्भुत रस का स्वरूप है । प्रत्येक रस के अनुभव में यह 'विस्मयावेश' हुआ करता है । इसलिए यदि कहा जाय कि अद्भुत रस ही समस्त शृंगारादि रसों की 'प्रकृति' है, जिसकी अपेक्षा अन्य शृंगारादि रस विकृति रूप हैं तो सर्वथा युक्तियुक्त ही होगा ।×××× और अद्भुत ही वह रस है, जिसे शृंगार आदि सभी रसों का रस माना जा सकता है ।"[2]

इस प्रकार अद्भुत के रसराजत्व के समर्थन में कथन का सारांश यह है कि —

(1) अद्भुत रस प्रकृति रस है, और उसमें सभी रसों का समाहार संभव है ।

---

1. "शृंगारादौ चमत्कार दर्शनाद्यत्र मनोविस्तृतिरंगतयाभासते तत्र शृंगारादय एव रसाः । प्राधान्येन यत्राभासते तत्राद्भुत एव रसः ।"
– रस तरंगिणी : भानुदत्त, अध्याय 1, पृ० 28.

2. हिन्दी साहित्यदर्पण की भूमिका, पृ० 29–30, डा०सत्यव्रत सिंह ।

(2) चमत्कार दर्शन से चित्त विस्तार अद्भुत है, यह सर्वत्र प्राप्त होता है, शृंगारादि में, अंग रूप में, तथा अद्भुत में अंगी रूप में ।

(3) रस में 'असाधारणत्व' 'लोकोत्तरत्व' आह्लादकत्व आदि की अनुभूति चमत्कार के व्यापक महत्त्व की स्वीकृति है, जिसके फलस्वरूप अद्भुत रस मूलरस है ।

(4) पाश्चात्य विचारकों ने भी काव्य में सौन्दर्यानुभूति में विस्मय-तत्त्व एवं अनुराग की उपस्थिति स्वीकार की है ।

इसमें संदेह नहीं कि कुछ दिनों तक साहित्य गोष्ठियों एवं ग्रन्थों में भी अद्भुत रस एवं विस्मय तत्त्व (चमत्कार) पर पर्याप्त विचार विनिमय होता रहा है । केवल शास्त्र ही नहीं लिखे गये अपितु अनुरूप लक्ष्य ग्रन्थों का भी निर्माण किया गया । डा० राघवन ने ऐसे तीन ग्रन्थों का उल्लेख किया है :—

(1) शक्तिभद्र के 'आश्चर्य चूड़ामणि' नाटक में अद्भुतरस को ही अंगीरस के रूप में स्वीकार किया गया है, जिसका विवेचन अपनी भूमिका में महामहोपाध्याय कुप्पुस्वामी शास्त्री ने (पृ० 12-15) पर किया है ।

(2) कृत्या रावण (अलभ्य) में भी संभवतः अद्भुत को महत्त्व प्रदान किया गया है ।

(3) 17 वीं शताब्दी के महादेव ने अपने अद्भुत दर्पण नाटक में राम से कहलवाया है कि — जिस प्रकार इन्द्रजाल चारों ओर से स्तंभ उत्पन्न कर देता है, उसी प्रकार अद्भुत रूप प्रधान रस का

आस्वाद मानो मुझे अन्तर्मीलित (तन्मय) बना रहा है ।[1]

इस प्रकार लक्ष्य लक्षण ग्रन्थों एवं समालोचकों के मतानुसार कहा जा सकता है कि अद्भुत रस ही रसराज है ।

डा० नगेन्द्र का विवेचन गंभीर मनन चिंतन के द्वारा प्रस्तुत किया गया है अतः प्रस्तुत प्रक्रम में उसी पर विचार प्रस्तुत है ।

जिन विद्वानों ने गतानुगतिकता के आधार पर अद्भुत के रसराजत्व के समर्थन में अपने मत का विस्तार किया है, उनसे तो कुछ कहने की आवश्यकता ही नहीं किन्तु डा० नगेन्द्र की परिचर्चा से यह निष्कर्ष निकालना अत्यन्त सरल है कि वे अपने मत की स्थापना करते समय एक विचित्र असमंजस में पड़ गये थे । माना जाता है कि अद्भुत के रसराजत्व का आधार विश्वनाथ द्वारा अद्भुत धर्मदत्त का वचन है । वहाँ चमत्कार विस्मय का पर्याय है, ऐसा विश्वनाथ का कथन है । डा० साहब अच्छी तरह अनुभव कर रहे हैं कि चमत्कार= विस्मय, मानकर अद्भुत को रसराज सिद्ध करना संभव नहीं है । इसीलिए उनकी झुंझलाहट है कि "चमत्कार का अर्थ विश्वनाथ ने विस्मय किया है जो अनधिकृत है और पूर्वाग्रह का परिणाम मात्र है । विश्वनाथ ने अभिनव की शब्दावली को

---

1. On the practical side, Saktibhadras Ascharya Chudamani illustrates the dominating Rasa of Adbhuta and this has been explained in detail by Professor M.M.S. Kuppuswami Sastri in his introduction (pp.12-15) to the Balmanorama edn. of this play. The now last Kritya ravana also seems to be a play which specialised in Adbhuta. Towards the end of the 17th Century, young Mahadeva wrote his Adbhuta Darpana where his Rama is made to say:-

यत्सत्यमभितः स्तब्धैरिन्द्रियैरिन्द्रजालवत् ।
अद्भुतैकरसावृत्तिस्तन्मीलयतीव माम् ॥— काव्यमाला 55/4/8.

- Dr. Raghavan : The Number of Rasas : Ch.X Rasa Synthesis, Page 176.

एकदम छोड़ दिया है ।"[1] साथ ही उन्हें अद्भुत के भी 'दावे' की निकष परीक्षा करनी है, अतः उन्होंने एक विचित्र तर्क पद्धति से काम लिया है । स्थापना के लिए उन्होंने उपक्रम अभिनव के शैव दार्शनिक 'चमत्कार' से किया[2] और उपसंहार में अपनी समन्वयात्मक अन्तर्दृष्टि के कारण चमत्कार से विस्मयतत्त्व तक की एक अन्तर्यात्रा पूरी कर दी । किन्तु मैं नम्रतापूर्वक यह कहने का अधिकार चाहूंगा कि आचार्यों को दूसरे आचार्यों का मत प्रस्तुत करते हुए निष्पक्षभाव से यथातथ्य विवेचन करना चाहिए । बाद में अपनी सांप्रदायिक मान्यता के अनुकूल खंडन या मंडन करना चाहिए । डा० साहब अभिनवगुप्त के आनन्दवादी सिद्धांत के प्रबल पोषक हैं ।[3] किन्तु औचित्य की मांग यह थी कि उन्हें विश्वनाथ को सिद्धांत विश्वनाथ की धारणा से ही प्रस्तुत करना चाहिए था । यदि उसके आधार पर अद्भुत का रसराजत्व सिद्ध नहीं होता तो न हो । दूसरी बात यह है कि स्थापना के लिए अभिनव का आधार और प्रत्याख्यान के लिए विश्वनाथ के पक्ष के अवलम्बन का तो किसी भी तरह समर्थन नहीं किया जा सकता क्योंकि "जो आचार्य जहां आसीन होकर कह रहे हैं, जिस तर्क, युक्ति, प्रमाण, अनुभव, परंपरा, मर्यादा के पालक हों उस सिद्धांत की परीक्षा उसी दृष्टि से करना संगत तथा समुचित है ।"[4] यहां उन्हींका

---

1. रससिद्धांत : डा० नगेन्द्र, पृ० 180.
2. अभिनव के अनुसार चमत्कार का अर्थ इस प्रकार है — साच विघ्नासंवित् चमत्कारः ×××× स चातृप्तिव्यतिरेकेणाविच्छिन्नोभोगावेश इत्युच्यते ।—अर्थात् विघ्नों से सर्वथा रहित वह प्रतीति चमत्कार कहलाती है और वह (अविघ्न संवित् रूप चमत्कार) अतृप्ति से भिन्न (अर्थात् पूर्ण तृप्ति रूप) भोगावेश कहलाता है । ''हिन्दी अभिनव भारती, पृ० 471-72)— रससिद्धान्त, पृ० 261.
3. देखिये, रससिद्धान्त, डा० नगेन्द्र, पृ० 38, 80 आदि ।
4. रसविमर्श की भूमिका : श्री शंकराचार्य स्वामी महेश्वरानन्दसरस्वती, पृ० 12.

अधिक उद्धरण आवश्यक प्रतीत होता है ।

"अद्भुत का पक्ष अपेक्षाकृत दुर्बल है। धर्मदत्त के उपर्युक्त उद्धरण में चमत्कार का प्रयोग निर्विघ्नसंवित् या आनन्द के रूप में न होकर विस्मय के अर्थ में ही हुआ है और यही इसका मौलिक दोष है क्योंकि रस का सार विस्मय नहीं वरन् आह्लाद है। यह आह्लाद सामान्य लौकिक आह्लाद से कुछ रूपों में भिन्न है और इस दृष्टि से अंशतः असाधारण भी है, फिर भी यह अद्भुत रस के स्थायीभाव विस्मय का पर्याय नहीं माना जा सकता । काव्य सौंदर्य के आस्वाद में विस्मय स्थायी न होकर संचारी ही होता है, अतः चमत्कार के गौण अर्थ के आधार पर अद्भुत को मूल रससिद्ध करना तर्क संगत नहीं है ।[1] उनका यह भी तर्क है कि "चमत्कार की अर्थविकृति से काव्य मूल्यों में विकृति आने लगी और चमत्कार कुतूहल का पर्याय बन गया ।"

यहां मुझे दो बातें कहनी हैं । पहली बात तो यह है कि क्या अभिनव की 'अविघ्ना संवित्' रूप जिस 'चमत्कार' में आस्था है, वह स्वयं सांप्रदायिक एवं पूर्वाग्रहपूर्ण अर्थ नहीं है ? हमारी तो स्पष्ट स्थापना है कि विस्मय शब्द स्वयं अपने व्युत्पत्तिमूलक अर्थ ही में अत्यन्त व्यापक है । उसमें आह्लाद, संवेद तथा अहंकार के विगलन आदि का भाव समाहित है ।[2] अतः जब विश्वनाथ ने चमत्कार को विस्मय का पर्याय बताया तो उनका तात्पर्य यह था कि दोनों में 'चित्तविस्तार' की समान प्रक्रिया है । साथ ही वे यह भी चाहते थे कि विचारक यहां चमत्कार का शैव संप्रदायवादी अर्थ न लेकर 'चमत्कार संप्रदायवादी' अर्थ लें ।

---

1. रससिद्धान्त, पृ० 264.
2. वही, पृ० 264.

यह विश्वनाथ का वैशिष्ट्य है कि उन्होंनेचमत्कार शब्द को संप्रदाय की परिधि से बाहर करके कला के मूल्यांकन के मानदण्ड के रूप में रखा । अतः चमत्कार की जिस अर्थ विकृति से डा० साहब को क्षोभ है, उसी अर्थ में विकृति से बचने के लिए विश्वनाथ ने उसका सम्बन्ध विस्मय से जोड़ा । आश्चर्य, कुतूहल या कौतुक से नहीं । (इसी अर्थ-विकृति से बचने के लिए मैंने भी विस्मयतत्व कहना अधिक उपयुक्त समझा है)।[1]

दूसरी बात यह है कि डा० साहब का यह मत कि – 'फिर भी यह' (इसे ?) अद्भुत रस के स्थायीभाव विस्मय का पर्याय नहीं माना जा सकता । काव्य सौंदर्य के आस्वाद में विस्मय स्थायी न होकर संचारी ही होता है"[2] स्वयं इस तथ्य को प्रमाणित करता है कि डा० साहब विस्मय स्थायीभाव तथा विस्मयतत्व में अन्तर मानते हैं और विस्मयतत्व को काव्यास्वाद में संचारीभाव के रूप में सर्वत्र स्वीकार करते हैं, जिसे निर्विवाद रूप में स्वीकार किया जा सकता है । स्पष्ट है कि ऐसा मान लेने के बाद धर्मदत्त का मत दुर्बल नहीं रह जाता । डा० साहब की विस्मय के संचारी रूप की कल्पना पूर्ववर्ती आचार्यों की मान्यताओं से पूरी तरह मेल खाती है । रस तरंगिणी तथा संगीत रत्नाकर में उत्साह एवं विस्मय को सभी रसों में संचारीभाव के रूप में स्वीकार किया गया है ।[3] डा० राघवन ने चमत्कार को रसास्वाद का पर्याय माना है जिसका स्वरूप चित्त

---

1. देखिये – प्रथम अध्याय, पृ०
2. रस सिद्धांत : पृ० 264.
3. (क) 'उत्साहविस्मयौ सर्वरसेषु व्यभिचारिणौ'
   – रसतरंगिणी, तरंग 5, पृ० 14.
   (ख) 'उत्साहविस्मयौ सर्वरसेषु व्यभिचारिणौ'
   – संगीत रत्नाकर

का विस्तार है, जो विस्मय का मूल है । सभी रसों के आस्वाद का 'लोकोत्तरत्व,' जिसे सर्वमत-सम्मति प्राप्त है, अद्भुत की ओर संकेत करता है ।[1] भानुदत्त ने भी स्वीकार किया है कि जहां शृंगारादि रसों में चमत्कार दर्शन से मनोविस्तृति अंग रूप में भासित होती है, वहां शृंगारादि रस होते हैं और जहां प्रधान (अंगी) रूप में भासित हो वहां अद्भुत रस होता है ।[2]

स्पष्ट है कि विद्वान आलोचक की तलस्पर्शिनी प्रतिभा ने अच्छी तरह आभास पा लिया था कि यहां धर्मदत्त के मत की यदि संगति है, तो केवल विस्मय तत्त्व (चमत्कारतत्त्व) की स्वीकृति में किन्तु उक्त श्लोकों की परम्परा से दो व्याख्याएं चलती रही हैं । एक टीका यह है, जिसका विमला टीका प्रतिनिधित्व करती है, और जिसके आधार पर लेखक को अद्भुत रस की मूलरस के रूप में स्थापना करनी पड़ी । यहां स्पष्ट ही सार का अर्थ 'स्थायीभाव' किया गया है । अनुमान तो यह है कि पहले भी व्याख्याकारों ने इसी प्रकार के अर्थ किये होंगे और अद्भुत को रसराज स्वीकार किया होगा तभी तो रस प्रदीप के लेखक प्रभाकर भट्ट को अपने ग्रन्थ में अद्भुत के एकमात्र रस होने का खंडन करना पड़ा ।

---

1. It is accepted that Chamarkara is Rasasvada. This Chamatkara is a 'filip' of the mind which is the essence of wonder. The 'Lokottartva' of all Rasasvada accepted on all hands again points to Adbhuta.
   - Number of Rasas : Dr. V. Raghavan, P.174.

2. शृंगारादौ चमत्कार दर्शनाद्यत्रमनोविस्तृति रंगतया भासते तत्र शृंगारादय एव रसाः । प्राधान्येन यत्र भासते तत्राद्भुत एव रसः ।'
   - रस तरंगिणी, आ० १, पृ० 28.

उन्होंने स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया कि अद्भुत ही रस है, ऐसा जो नारायण ने कहा तथा धर्मदत्त आदि ने उसका अनुसरण किया वह उचित नहीं है, क्योंकि विलक्षणता की सिद्धि अनुभव पर आश्रित है और अनुभव प्रकृति भेद से भिन्न होता है । व्यभिचारिणाओं के रूप में स्थित रत्यादि भावों में भी विस्मय का अनुगम नहीं होता । साथ ही शोक आदि में विस्मय की अनुभूति नहीं होती । अतः विस्मय को सार्वत्रिक न मानना ही उपयुक्त होगा ।[1] डा० सत्यव्रत सिंह ने इसका अनुवाद भिन्न प्रकार से प्रस्तुत किया है – "चाहे कोई भी रस हो, वह तो चमत्कार ही है जो उसमें साक्षरूप में प्रतीत हुआ करता है और जब चमत्कार ही रस का सार है तब तो यही सिद्ध है कि सभी रसों में अद्भुत रस का ही आस्वाद मिला करता है । वस्तुतः महा सहृदय आचार्य नारायण ने इसीलिए तो रस को अद्भुत अथवा चमत्कार सार कहा है ।"[2] किन्तु भूमिका में वे भी परंपरा के प्रवाह में बह गये और 'अद्भुत' को 'अद्भुत-तत्व' या 'चमत्कारतत्त्व' का पर्यायवाची न मानकर अद्भुत रस का समानार्थी मान बैठे । वैसे डा० सिंह की यह व्याख्या निश्चय ही दूसरे प्रकार के व्याख्याताओं से साम्य रखती है ।[3]

---

1. इति नारायणेन अद्भुत एव रस इत्यभिहितम् । धर्मदत्तादिभिश्चतदेवानुसृतम् तन्नादरणीयम् । वैलक्षण्यस्य अनुभव सिद्धत्वात् । प्रकृतिभेदाच्च । नापि व्यभिचारिषु स्थायिन इव रत्यादिषु विस्मयानुगमः । शोकादिषु तथाननुगमात् । – रसप्रदीप : प्रभाकर भट्ट, पृ० 40 से डा०राघवन् द्वारा नवर आफ रसाज़ में पृष्ठ 174 पर उद्धृत ।
2. डा० सत्यव्रत सिंह : हिन्दी साहित्य दर्पण : पृ० 106.
3. देखिये – जीवनानन्द विद्यासागर की टीका में उक्त श्लोक की व्याख्या ।

वस्तुतः धर्मदत्त की उक्त पंक्तियों का अनुवाद करते समय सार शब्द पर विचार करना आवश्यक है । विश्व कोश[1] के अनुसार सार शब्द का अर्थ बल एवं स्थिर अंश है । अतः वह तत्त्व, जो अपनी सशक्तता एवं प्रभविष्णुता के कारण सभी रसों में व्याप्त रहता है, चमत्कार तत्त्व है । विश्वनाथ की दृष्टि में सार का अर्थ संभवतः 'वस्तु का उत्तरोत्तर उत्कर्ष है । इसीलिए उन्होंने अलंकार के रूप में 'सार' का लक्षण करते हुए लिखा है – 'उत्तरोत्तरमुत्कर्षो वस्तुनः सार उच्यते'[2] अतः प्रकृत प्रसंग में यह अर्थ सर्वथा संगत प्रतीत होता है कि जहाँ रस के – रस की आनन्ददायिनी शक्ति के – उत्तरोत्तर उत्कर्ष का अनुभव होता है, उसे चमत्कार कहते हैं । स्पष्ट है कि विमला टीका द्वारा स्वीकृत सार का स्थायीभाव रूप अर्थ विश्वनाथ के मत के प्रतिकूल होने से अग्राह्य है । दूसरा शब्द 'अद्भुत' है।अद्भुत के दो अर्थ किये गये हैं–एक अर्थ अभूतपूर्व है और दूसरा 'अततीति-अत्, भातीति-भुत्'– इस प्रकार गत्वर एवं प्रकाशवान सौंदर्य को अद्भुत माना गया है । अतः इस श्लोक में सार और अद्भुत शब्द स्थायीभाव एवं अद्भुत रस के रूढ़ अर्थ में नहीं है अपितु रस के भूतस्वरूप की व्याख्या के रूप में प्रयुक्त है । विश्वनाथ ने रस को काव्य की आत्मा स्वीकार करने के बाद अपने रस के स्वरूप निरूपण में आये हुए लोकोत्तर चमत्कार शब्द की व्याख्या के समर्थन में इन पंक्तियों को उद्धृत किया है और चमत्कार को उस रस का प्राणतत्त्व माना है । इस ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट करना आवश्यक प्रतीत होता है कि आत्मा की जीवनी-शक्ति का परिचय उसके प्राणों के प्रस्पन्दन पर ही निर्भर है । इसीलिए रस यदि काव्य की आत्मा है तो चमत्कार उसकी प्राणशक्ति या सप्राणता है । उसकी जीवन्तता एवं सशक्त प्रभविष्णुता का रहस्य है, जिससे काव्य एक स्थिर जीवन (अमरत्व) प्राप्त करता है । उसे नारायण पंडित ने चमत्कार कहा है । यह चमत्कार आस्वादप्रधाना बुद्धि है अथवा स्वयं आस्वाद है ।

---

1. 'सारो बले स्थिरांशे च इति विश्वः'
2. साद० 10/78.

इसका उल्लेख हम प्रथम अध्याय में कर चुके हैं ।

अतः डा०सत्यव्रत सिंह का यह निष्कर्ष, कि "विश्वनाथ कविराज ने यद्यपि स्पष्टतया यह नहीं कहा कि 'अद्भुत' ही सभी रसों का 'प्रकृति' रस है, किन्तु जिस उत्साह से उन्होंने अपने प्रपितामह द्वारा प्रतिपादित समस्त रसों में 'चमत्कार' और 'अद्भुतानुप्राणन' के सिद्धान्त का उल्लेख किया है, उसे देखते यह कहना असंगत नहीं कि विश्वनाथ कविराज भी इसी सिद्धान्त के समर्थक अथवा पक्षपाती हैं ।"[1], केवल इसी रूप में स्वीकार किया जा सकता है कि विश्वनाथ चमत्कार संप्रदाय अथवा अद्भुतानुप्राणन के पक्षपाती हैं । अद्भुत के 'प्रकृतिभूतरस' के नहीं क्योंकि यदि उनका अथवा उनके वृद्ध प्रपितामह का अद्भुत रस के रसराजत्व पर आग्रह होता तो वह अपने ग्रन्थ में इस पर स्वयं विस्तार से विचार करते ।

अतः मेरी अपनी मान्यता यह है कि अद्भुत को मूलरस के रूप में स्वीकार करने का आग्रह नारायण की परम्परा के विद्वानों में कभी नहीं रहा । जिन्होंने भ्रमवश ऐसा स्वीकार भी किया, उनका प्रभाकरभट्ट आदि ने खुले शब्दों में खण्डन कर दिया ।

डा० नगेन्द्र ने अपनी समन्वयात्मक मनोवृत्ति के अनुकूल अद्भुत के मूलरस के खंडन-मंडन से बच कर एक मध्यम मार्ग स्वीकार करते हुए निम्नलिखित निर्णय दिया है —

"नारायण पंडित और उनका अनुसरण करनेवाले धर्मदत्त ने आलंकारिक दृष्टि से अद्भुत को आधारभूत रस माना है। उन्होंने चमत्कार का आनन्दवाचक अर्थ न ग्रहण कर वैचित्र्यपरक अर्थ ही ग्रहण किया है और

---

1. हिन्दी साहित्य दर्पण की भूमिका : डा० सत्यव्रत सिंह, पृ० 30.

यह वैचित्र्यपरक चमत्कार कल्पना का ही चमत्कार है, जो अलंकारवाद का प्राणतत्व है, इसके अनुसार चूंकि प्रत्येक रस का परिपाक कल्पना के द्वारा होता है, अतः कल्पनाजन्य वैदग्ध्य या चमत्कार ही रस का प्राण है और चूंकि कल्पनाजन्य चमत्कार प्रमाता के मन में विस्मय जगाता है, अतः रसास्वाद का मूलाधार विस्मय ही है, जो कि अद्भुत रस का स्थायीभाव है, इसलिए अद्भुत ही मूलरस है ।[1] ××× विदग्धों या आलंकारिकों ने कल्पना-तत्त्व को रस का सार मानते हुए अद्भुत का अभिषेक किया[2] ××× (अतः आनन्द राग और कल्पना के अनुपात को तारतम्यिक रूप में स्वीकार करते हुए उनका कहना है कि) नारायण पंडित के सिद्धांत की मान्यता अधिक ही हो सकती है ।[3]

किन्तु डा० नगेन्द्र का निर्णय चमत्कार को वाच्य वैचित्र्यमूलक कल्पना अथवा एक शब्द में निर्मिति (शैली) से जोड़ने के कारण स्वयं में एक सीमित एवं एकांगी निर्णय है । इस पर विस्तृत विवेचन चमत्कार-सम्प्रदाय की स्थापना के क्रम में किया जायेगा ।

अतः निष्कर्ष रूप में यह स्वीकार करना अधिक संगत प्रतीत होता है, कि अद्भुत रस को मूलरस के रूप में स्वीकार करना संगत नहीं है। इस मान्यता का समर्थन इस प्रकार भी किया जा सकता है कि भरत ने अद्भुत को वीररस से उत्पन्न उपरस के रूप में स्वीकार किया है । अन्य आचार्यों ने भी – विशेषतः भक्ति रसामृत सिन्धु में – अद्भुत को गौण रस के रूप में स्वीकार किया गया है ।

---

1. रससिद्धान्त, पृ० 265.
2. वही, पृ० 266.
3. वही, पृ० 266.

ऐसी दशा में एक ओर आचार्यों द्वारा इसे द्वितीय श्रेणी का रस स्वीकार किया जाना और दूसरी ओर मूल रस की पराकाष्ठा तक पहुँचाया जाना अपने-आप में एक अद्भुत प्रसंग है, किन्तु यह महिमा चमत्कार तत्त्व की है । अद्भुत रस की नहीं । जिन काव्यग्रन्थों में — नाटकों में भी — अद्भुत का अंगीरस के रूप में प्रयोग किया गया है, वहाँ भी चमत्कार पर ही ध्यान केन्द्रित रहा है । अतः उपर्युक्त स्थापना में कोई विसंगति नहीं दिखाई पड़ती ।

चतुर्थ अध्याय

विषयतत्त्व की दृष्टि से काव्य का नूतन वर्गीकरण

चतुर्थ अध्याय

काव्यभेद एवं विषयतत्त्व

यों तो काव्यशास्त्र में काव्य का विभाजन और विवेचन अनेक आधारों पर उपलब्ध होता है, जैसे (1) बन्ध के आधार पर – प्रबन्ध, मुक्तक आदि, (2) शैली के आधार पर – गद्य, पद्य, मिश्र (चम्पू), (3) इन्द्रियग्राह्यता के आधार पर – श्रव्य, दृश्य अथवा काव्यनाट्य, (4) उक्ति के आधार पर — स्वभावोक्ति, वक्रोक्ति, स्वभावोक्ति आदि, (5) रीति के आधार पर – सुकुमार मार्ग, विचित्रमार्ग और मध्यममार्ग आदि, तथापि अर्थानुसारी काव्य-विभाजन का सर्वप्रथम प्रयत्न ध्वन्यालोककार आचार्य आनन्दवर्द्धन ने किया — "वास्तव में अर्थ की दृष्टि से विभाजन का आधार है, अर्थगत चमत्कार का तारतम्यिक अवस्थान ।"[1]

सहृदय एवं काव्यात्मभूत अर्थ के वाच्य एवं प्रतीयमान भेद स्वीकार करते हुए भी ध्वन्यालोक में अर्थ के चमत्कारी होने का मूलकारण वाच्यार्थ में विलक्षण प्रतीयमान अर्थ के संस्पर्श को स्वीकार किया गया है ।[2]

---

1. साहित्यशास्त्र के प्रमुख पक्ष– डा० राममूर्ति त्रिपाठी, पृ० 59.
2. (क) योऽर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मा योव्यवस्थितः ।
   वाच्य प्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ ।। 1/2 ध्वन्या, पृ०11.
   (ख) प्रतीयमानं पुनरन्यदेवास्त्यवस्तुवाणीषु महाकवीनाम् ।
   यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवांगनासु ।। 1/4,
   –ध्वन्या०, पृ० 13.

उसी क्रम में ध्वनि सिद्धान्त के अनुयायी पंडितराज जगन्नाथ ने तो यह स्पष्ट घोषणा की है[1] कि वाच्यार्थ का सौंदर्य भी प्रतीयमान के संस्पर्श के बिना रमणीयता के आधान में समर्थ नहीं हो सकता । परिणामतः चमत्कारकारी प्रतीयमान अर्थ की काव्यगत तारतमिक अवस्थिति को आधार मानकर काव्य का अर्थाश्रित नूतन विभाजन स्वीकृत हुआ ।

काव्य में प्रतीयमान (रस) की स्थिति को ध्वन्यालोकवादी विद्वानों ने तीन रूपों में स्वीकार किया है :—

(1) अत्यन्त स्फुट रूप में — प्रतीयमान की प्राधान्य स्थिति — ध्वनि काव्य ।

(2) स्फुट रूप में — प्रतीयमान की गौण समप्रधान, अप्रधान या अस्फुट स्थिति — गुणीभूत व्यंग्य काव्य ।

(3) अत्यन्त अस्फुट रूप में — प्रतीयमान के बदले वाच्य-वाचक सौन्दर्य की विवक्षा में — चित्र काव्य ।

इन्हें ही आचार्य मम्मट ने क्रमशः उत्तम[2], मध्यम[3] और अवर[4] नाम दिये हैं, जो उनकी अपनी मान्यता है, क्योंकि आनन्दवर्द्धन ने जहाँ मात्रागत भेद— (तारतमिक स्थिति) को महत्व दिया है, वहीं आचार्य मम्मट ने श्रेणीभेद करने का प्रयत्न किया है, जो बहुत उचित नहीं दिखाई देता । दूसरी बात

---

1. तदादृशोऽस्ति कोऽपि वाच्योऽर्थो यो मनागनास्वादित प्रतीयमान स्व इवतो रमणीयतामाधातुं प्रभवति । — रसगंगाधर, पृ०
2. इदमुत्तम मतिशायिनि व्यंग्ये वाच्यादध्वनिर्बुधैः कथितः — का०प्र०
3. अतादृशि गुणीभूत व्यंग्ये व्यंग्यंतु मध्यमम् — वही, 1/5.
4. शब्दचित्रं वाच्य चित्रमव्यंग्यंत्ववरमतम् — वही, 1/5.

यह है कि ध्वनिकार का विभाजन काव्य एवं काव्याभास पर आश्रित प्रतीत होता है, क्योंकि उनके मत में जहाँ प्रधान या गौण रूप से व्यंग्य का प्रकाशन नहीं होता, वह वास्तव में काव्य ही नहीं है, काव्य का अनुकार (अनुकरण) है । काव्य जैसा है, वह "आलेख्य-प्रख्य" अर्थात् उत्तम काव्य की जीवरहित प्रतिकृतिमात्र है । अतएव वह चित्रकाव्य है, जिसका अर्थ काव्य का चित्र है । अभिनवगुप्त ने तो चित्रकाव्य को सर्वथा अकाव्य कह दिया है । यहाँ प्रश्न हो सकता है कि फिर आनन्दवर्धन ने अत्यन्त अस्पष्ट व्यंग्य के रूप में चित्रकाव्य की चर्चा क्यों की ? उत्तर में अभिनवगुप्त का कथन है कि चूंकि कविगण इस प्रकार की रचना करते आये हैं, अतः हेय-बुद्धि से उसकी भी चर्चा करनी पड़ी । सम्भवतः इन्हीं बातों से प्रभावित होकर विश्वनाथ ने चित्र काव्य को सर्वथा अस्वीकार कर दिया । 'नंज्राज यशोभूषण' में भी काव्य का पूर्वोक्त त्रिविध विभाजन मिलता है ।[1]

व्यक्ति-विवेककार महिमभट्ट[2] ने काव्य में केवल दो ही अर्थ स्वीकार किये हैं – वाच्य और अनुमेय । उसमें भी वाच्यार्थ को साधन और अनुमेयार्थ को साध्य माना है । शब्द की तीनों शक्तियों को अनुमान में अन्तर्भूत करके उन्होंने ध्वनि को अनुमित की संज्ञा दी है । ऐसी स्थिति में साध्य अनुमेय (रस) के प्राधान्य में ही उन्होंने काव्यत्व का व्यवहार स्वीकार किया है । उनके मत में अर्थ की तारतम्यिक स्थिति के अभाव में अर्थानुसारी काव्य-प्रभेद सम्भव नहीं है । अतः उनके लिए काव्य एकविध ही बना रहा । हाँ, प्रहेलिकादि चित्रकाव्य के, ध्वनि (अनुमेय) में, अन्तर्भाव के वे भी विरोधी हैं ।[3]

---

1. 'अथव्यंग्यस्य प्राधान्याप्राधान्याभ्यामस्पष्टत्वेन त्रिविधं काव्यम्'
— नंज्राज यशोभूषणम्, पृ० 20.

2.

3.

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने अपने काव्य लक्षण को ही काव्य विभाजन के भेदक तत्त्व के रूप में स्वीकार किया। चूंकि उन्होंने 'रसात्मक वाक्य ही काव्य है'[1] ऐसा स्वीकार किया था, अतः केवल रस की प्रधान तथा गौण उपस्थिति को आधार बनाकर उन्होंने काव्य के दो भेद स्वीकार किये — (1) ध्वनि और (2) गुणीभूतव्यंग्य।[2]

वाच्य की अपेक्षा व्यंग्य रूप अर्थ में अतिशय चमत्कार जनकता के कारण ध्वनि काव्य को उत्तम[3] काव्य की संज्ञा दी गई और व्यंग्य के वाच्य की अपेक्षा अनुत्तम होने के कारण (न्यूनता या समता के कारण अधिक चमत्काराधायक न होने से) गुणीभूत व्यंग्य को अपर काव्य कहा गया।[4] वाच्य-वाचक वैचित्र्यपूर्ण रचना में स्वीकृत चित्र काव्य का उन्होंने खंडन कर डाला[5] क्योंकि इस प्रकार की रचना— 'रसात्मक वाक्यं' रूप काव्य की परिधि में नहीं आ सकती।

'चमत्कार चन्द्रिका' के लेखक विश्वेश्वर कवि-चंद्र ने चमत्कार के आधार पर काव्य का त्रिविध विभाजन प्रस्तुत किया है, किन्तु उन्होंने रसध्वनिवादियों की भांति उत्तम, मध्यम और अधम की अपेक्षा चमत्कारी,

---

1. 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' — सा०द०, पृ० 23.
2. 'अथ काव्यभेदमाह — काव्यं ध्वनिर्गुणीभूत व्यंग्यंचेति द्विधामतम्'
   — वही, 4/1, पृ० 79.
3. 'तत्र वाच्यातिशायिनि व्यंग्ये ध्वनिस्तत् काव्यमुत्तमम्।
   वाच्यादधिक चमत्कारिणि व्यंग्यार्थे इत्यादि।'— वही, पृ० 279.
4. 'अपरंतु गुणीभूत व्यंग्यं वाच्यादनुत्तमे व्यंग्ये। अपरं काव्यं। अनुत्तमत्वं न्यूनतया सामान्येन च संभवति।' — वही, 4/13, पृ० 319.
5. 'केचिच्चित्राख्यं तृतीयं काव्यभेदमिच्छन्ति ××× तन्न।'
   — वही, पृ० 332-333.

चमत्कारितर और चमत्कारितम नामक भेद प्रस्तुत किये हैं, उनका कथन है[1] कि शब्द-तत्त्व और अर्थतत्त्व के पंडितों ने जिस काव्य को शब्दार्थ रूप कहा है, उसके चमत्कारी, चमत्कारितर और चमत्कारितम -- ये तीन भेद होते हैं, जिनका सोदाहरण विवेचन प्रस्तुत है --

जहाँ कवि का तात्पर्य शब्द के चारुत्व की ओर हो उसे चमत्कारी कहते हैं । वाच्यार्थ के चारुत्व में तात्पर्य की विश्रान्ति होने पर अथवा व्यंग्यार्थ के गुणीभूत होने पर काव्य को चमत्कारितर कहा जाता है । व्यंग्यार्थ (ध्वन्यर्थ) के सौंदर्य में, काव्य चमत्कारितम होता है ।

यहाँ यह संकेत कर देना अप्रासंगिक न होगा कि 'चमत्कार चन्द्रिका' की सम्पादिका श्रीमती डा० पन्दिरि सरस्वतीमोहन का यह उल्लेख कि 'उनके विभाजन में चमत्कारी के अन्तर्गत शब्दचित्र और चमत्कारितर के अन्तर्गत अर्थचित्र आते हैं,'[2] बहुत उचित नहीं है, क्योंकि विश्वेश्वर ने 'शब्दचारुत्व' और 'वाच्यचारुत्व' का उल्लेख किया है । इस चारुत्व के

---

1. शब्दार्थ-रूपं तदिदं काव्यं शब्दार्थकोविदैः ।
त्रैविध्येन चमत्कारि चमत्कारितरं यथा ।।
चमत्कारितमं चेति प्रविविच्य निदर्शितम् ।
शब्दचारुत्वतात्पर्यं चमत्कारीति कथ्यते ।।
वाच्य चारुत्वतात्पर्यं चमत्कारितरं मतम् ।
व्यंग्यस्य च गुणीभावे तदेवाहुर्मनीषिणः ।। -चमत्कारचन्द्रिका विलास, 3, पृ० 73-74.
प्रत्येयार्थस्य चारुत्वे चमत्कारितमं मतम् ।। - वही, पृ० 77.

2. Under Camarkari he brings Sabdacitra; under Camatkaritara Arthacitra .... Introduction : Visvesvara's Camatkar Chandrika, Page 176.

बोधन में शब्दचित्र और अर्थचित्र जैसे शब्द समर्थ नहीं हैं । साथ ही परंपरागत पारिभाषिक अर्थ के बोधक होने के कारण भ्रान्ति उत्पन्न कर सकते हैं ।

सम्भवतः विश्वेश्वर से ही प्रेरणा लेकर पंडितराज जगन्नाथ ने भी काव्य के विभाजन में रमणीयता (चमत्कार) को आधार बनाया । चूंकि उन्होंने 'रमणीय अर्थ के प्रतिपादक शब्द को काव्य'[1] कहा, अतः उन्हें अपने काव्यलक्षण के आधार पर विभाजन के लिए अपेक्षाकृत अधिक व्यापक धरातल मिला । वह धरातल था उस रमणीयता का जो लोकोत्तरा-ह्लाद रूप ज्ञान को गोचर करने वाली है ।[2] चूंकि रमणीयता समन्वित वस्तु का लोकोत्तर चमत्कारकारी रूप स्वतः सिद्ध है, अतः जहाँ प्रतीयमान रस के आधार पर विभाजन काव्य है, वहीं रमणीय शब्दार्थ-योजना एवं अलंकार विधान आदि में काव्यत्व स्वीकार करके उसका तारतम्यिक विभाजन करना भी अत्यन्त समंजस है । अतएव पंडितराज ने काव्य का निम्नांकित चतुर्विध विभाजन किया है :—

(1) उत्तमोत्तम चमत्कारकारी काव्य — ध्वनिकाव्य[3] (व्यंग्यप्रधान),

(2) उत्तम चमत्कारकारी काव्य — गुणीभूत व्यंग्य काव्य,[4]

---

1. -रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम् : रसगंगाधर, पृ० 10.

2. 'रमणीयता च लोकोत्तराह्लाद ज्ञानगोचरता । लोकोत्तरत्वंचाह्लाद गतश्चमत्कारत्वा परपर्यायोऽनुभव साक्षिको जातिविशेषः ।'
—रसगंगाधर, पृ० 10-11.

3. तच्चोत्तमोत्तममोत्तम मध्यमाधमभेदाच्चतुर्धा । शब्दार्थौ यत्र गुणीभावितात्मानौ क्रमव्यर्थमभिव्यंजकतावद्यम् ।' — वही, पृ० 36.

4. यत्र व्यंग्यमप्रधानमेव सच्चमत्कारकारि तद्द्वितीयम् —
— वही, पृ० 66.

(3) मध्यम चमत्कारकारी काव्य – व्यंग्य का वाच्य चमत्कार के समानाधिकरण होना ।[1]

(4) अधम चमत्कारकारी काव्य – अर्थ चमत्कार से युक्त होते हुए भी शब्द चमत्कार की प्रधानता ।[2]

उन्होंने अधमाधम नामक काव्य के पंचम भेद की उपकल्पना करके उसका खंडन कर दिया, क्योंकि उनकी दृष्टि में ऐसी रचना अकाव्य है ।

जिसे आचार्यों ने चित्रकाव्य कहा है और या तो उसे अधम[3] काव्य माना है, अथवा काव्य जाति से बहिष्कृत[4] कर दिया है, 'अप्पय्य दीक्षित' ने चित्रमीमांसा में उसके तीन भेद किये हैं ।[5] – (1)शब्दचित्र, (2) अर्थचित्र तथा (3) उभयचित्र (इसका विवेचन आगे किया जायगा ।)

हिन्दी के विद्वानों में डा० भोलाशंकर व्यास ने ध्वनिवादियों के विभाजन का थोड़ा बहुत संशोधन करते हुए अपना विभाजन इस प्रकार प्रस्तुत किया है — "हम पहले ध्वनिकाव्य को भी दो तरह का मान बैठते हैं —(1) एक वह जिसमें व्यंजक का चमत्कार है, (2) दूसरा वह जिसमें व्यंग्य में विशेष चमत्कार है । मनोवैज्ञानिक शब्दावली में हम कह सकते हैं कि व्यंजक प्रधान ध्वनि-काव्य में हृदय की अपेक्षा बुद्धिपक्ष की अधिक प्रधानता है । इसका अर्थ यह नहीं कि वहां सहृदयता का अभाव है ।

---

1. 'यत्र व्यंग्य चमत्कार समानाधिकरणो वाच्य चमत्कारस्तृतीयम्'
– रसगंगाधर, पृ० 76.
2. 'यत्रार्थ चमत्कृत्युपस्कृता शब्दचमत्कृतिः प्रधानं तदधमं चतुर्थम्'– वही, पृ०79.
3. का०प्र० 1/5.
4. सा०द० पृ० 332-33.
5. तत् त्रिविधम्–शब्दचित्रमर्थचित्रमुभयचित्रमिति' –चित्रमीमांसा, पृ० 4.

यह बात वस्तु-व्यंजना तथा अलंकार-व्यंजना में भी पायी जाती है । व्यंग्यप्रधान ध्वनि काव्य में मनस्तत्त्व या रागात्मकता की प्रधानता है । इस रागात्मकता प्रधान व्यंग्य विशिष्ट काव्य को ही हम उत्तमोत्तम काव्य मानते हैं । इसमें ही हम सारी रस-ध्वनि का समावेश करते हैं । ××× द्वितीय कोटि उत्तम में हम वस्तु ध्वनि तथा अलंकार ध्वनि— जिनमें उक्तात्मकता नहीं है — तथा अलंकार भिन्न गुणी भूत व्यंग्यों को लेंगे । तृतीयकोटि (मध्यम) में सम्भवत अर्थालंकारमय काव्यों (उक्तात्मक प्रौढ़ोक्तिमय भी) तथा चतुर्थ (अधम) में शब्दाडम्बरमय काव्यों को लेंगे । पहेलिका या बन्ध काव्यों को हम भी काव्य नहीं मानते ।"[1]

निश्चय ही डा० व्यास का विभाजन अपेक्षाकृत अधिक संतुलित और समंजस प्रतीत होता है ; किन्तु एकाध प्रश्नवाची चिह्न उभरते हैं, जिनका स्पष्ट समाधान नहीं मिल पाता । एक ओर तो वे 'सारी रस-ध्वनि' को उत्तमोत्तम मानते हैं और दूसरी ओर अलंकार ध्वनि को उत्तम । ऐसी स्थिति में रसवदलंकार का परिगणन ध्वनि (उत्तमोत्तम) में किया जाय या गुणीभूत व्यंग्य (उत्तम) में — स्पष्ट नहीं होता । साथ ही वस्तु एवं अलंकार ध्वनि के सम्बन्ध में वे 'विश्वनाथ के पदचिह्नों पर न चलने' का दावा करके भी प्रकारान्तर से उन्हें भिन्न स्तर का मानते हैं और उनमें गुणात्मक भेद स्वीकार करते हैं ।

विद्वानों का दूसरा वर्ग — जिसके प्रतिनिधि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हैं — व्यंजना की अपेक्षा अभिधा में ही काव्य-सौंदर्य मानता है । शुक्लजी सम्भवतः देव के —

> अभिधा उत्तम काव्य है, मध्य लक्षणालीन ।
> अधम व्यंजना रस कुटिल, उलटी कहत नवीन ।।'

---

१. 'ध्वनि सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त : भाग-१, पृ० ३५५-५६.

जैसा ही विचार रखते हैं । इस सम्बन्ध में उन्होंने अपने इन्दौर वाले भाषण में 'काव्य में रमणीयता किसमें रहती है ?' – इस प्रश्न को सुलझाते हुए कहा है – "अवधि आप बन सकूं कहीं तो क्या कुछ देर लगाऊँ
मैं अपने को आप मिटा कर जा कर उनको लाऊ ।"
–(साकेत) ।

जिसका वाच्यार्थ बहुत ही अत्युक्त, व्याहत और बुद्धि को सर्वथा अग्राह्य है । उर्मिला जब आप ही मिट जायगी तब अपने प्रिय लक्ष्मण को वन से लायेगी क्या ? पर साथ रस, सारी रमणीयता इसी व्याहत और बुद्धि के अग्राह्य वाच्यार्थ में है, इस योग्य और बुद्धिग्राह्य व्यंग्यार्थ में नहीं कि उर्मिला को अत्यन्त औत्सुक्य है । इससे स्पष्ट है कि वाच्यार्थ ही काव्य है, लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ नहीं ।।"

यद्यपि उन्होंने व्यंग्यार्थ की महिमा खूब गाई है, पर इस प्रश्न पर कि काव्य की रमणीयता किसमें होती है ? वे बेधड़क उत्तर देते हैं – 'वाच्यार्थ में' । उन्होंने लिखा है कि कोई रहस्यात्मक या चामत्कारिक उक्ति लीजिए – उस उक्ति में ही अर्थात् उसके वाच्यार्थ में ही काव्यत्व या रमणीयता होगी– उसके लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ में नहीं । जैसे– यह लक्षणायुक्त वाक्य लीजिए – 'जीकर क्या पतंग मरे क्या ?' इसमें भी यही बात है । जो कुछ वैचित्र्य या चमत्कार है, वह इस अयोग्य और अनुपपन्न वाक्य या उसके वाच्यार्थ में ही है । यदि इसके स्थान पर इसका यह लक्ष्यार्थ रखा जाय कि जीकर पतंग क्यों कष्ट भोगे तो कोई वैचित्र्य या चमत्कार न होगा ।' अतएव उन्होंने रसध्वनि एवं वस्तुध्वनि को सर्वथा पृथक् प्रक्रिया घोषित करते हुए लिखा है – "अतः भाव-व्यंजना या रस-व्यंजना वस्तु-व्यंजना से सर्वथा भिन्नकोटि की वृत्ति ठहरती है। या तो क्रम भाव या रस के सम्बन्ध में व्यंजना शब्द का प्रयोग न करें अथवा वस्तु या तथ्य के सम्बन्ध में ।"[1]

---

1. चिन्तामणि भाग–2, पृ० 164.

यद्यपि आधुनिक युग में वस्तुवादिता उत्तरोत्तर महत्त्वपूर्ण होती जा रही है और अभिधावादी आचार्य भी प्रकारान्तर से भावावादी, रचनावादी या वस्तुवादी हैं, फिर भी ध्वनि काव्य के महत्त्व पर इससे कोई प्रभाव नहीं पड़ता । हाँ, इतना अवश्य है कि वस्तु ध्वनि को स्वीकार करते हुए भी प्राचीन आचार्य रस के प्रति अतिशय अभिनिवेश के कारण वस्तुध्वनि के भेद-प्रभेद की चर्चा में तत्पर नहीं हुए । किन्तु आधुनिक युग में वस्तुपरक रचनाओं की बहुलता के कारण नवीन आचार्यों ने वस्तु ध्वनि का विभाजन एवं वर्गीकरण किया है । इस दिशा में एक उत्तम प्रयास डा० श्रीकृष्णलाल शर्मा ने अपने शोध-प्रबन्ध 'आधुनिक हिन्दी कविता में ध्वनि' में प्रस्तुत किया — "वस्तु मोटे तौर पर दो प्रकार की —(1) विचारात्मक और (2) चित्रात्मक — जिसका सम्बन्ध बिम्ब से है — प्रधान है, पहली का सम्बन्ध अन्तर्गत से है, और दूसरी का बाह्य जगत से है । पहली में प्रधानतः हृदय और दूसरी में मुख्यतः बुद्धि रमण करती है ।"[1]

(बिम्ब को स्पष्ट करने के लिए उन्होंने टिप्पणी में लिखा है — "बिम्ब से हमारा तात्पर्य केवल 'इमैजिरी'(Imagery) से है, न कि 'इमैजिनेशन'(Imagination) से।[2] वस्तु की व्यापक सीमा में दोनों ही समा जाते हैं । आचार्य शुक्ल ने वस्तु व्यंजना की परिभाषा इस प्रकार की है —"किसी तथ्य या वृत्त की व्यंजना वस्तु व्यंजना कहलाती है ।[3]

---

1. आधुनिक हिन्दी काव्य में ध्वनि : पृ० 116-17.
2. वही, पृ० 117.
3. चिन्तामणि भाग-2, पृ० 163.

यह संभव नहीं कि चित्रात्मक ध्वनि में बुद्धि का योग और विचारात्मक ध्वनि में हृदय का योग बिल्कुल न हो। संवेदना (sensation) सूक्ष्म से सूक्ष्म रूप में भी बुद्धि-तत्व से मुक्त नहीं हो पाती। प्रत्येक अनुभूति अपने सूक्ष्म रूप में भाव-बोध (perception) प्रक्रिया में ही अवतरित होती है। यह बोध एक बौद्धिक क्रिया है, एक अर्थ देने की गतिविधि है, जो तार्किक है, व्याख्यात्मक है, आलोचना प्रधान है। इस प्रकार वस्तु ध्वनि में बिम्ब के माध्यम से ही चित्र और विचार दोनों की अभिव्यक्ति सुलभ होती है। डा० शर्मा ने चित्रात्मक ध्वनि के मुख्यतः चार भेद किये हैं —

(1) पदार्थ — (वस्तुओं का आकार घनत्व, शून्य को घेरने की प्रवृत्ति)
(2) रूप गुण — (ऐन्द्रिय सम्वेदना में)
(3) घटना — (घटित व्यापार) और
(4) व्यापार — (घटित हो रही स्थिति)।

इस विभाजन में पदार्थ का सम्बन्ध विषयपक्ष से है, और रूपगुण का सम्बन्ध विषयीपक्ष से। घटितव्यापार (घटना) भूतकाल पर आश्रित है और व्यापार वर्तमान कालिक क्रिया से सम्बद्ध है। इतना होते हुए भी मेरी दृष्टि में यह विभाजन सम्पूर्ण नहीं है। मेरा विचार है कि विभाजन पदार्थ, व्यापार एवं प्रभाव के आधार पर किया जाना चाहिए। पदार्थ में आकार आदि का समावेश हो जायगा, जो रूपतत्व को स्पष्ट करेगा साथ ही रूप गुण में रूप और गुण के आधायक तत्व, जैसे — वर्ण, रेखा, प्रकाश, अन्धकार आदि समाहित किये जा सकते हैं। व्यापार में मैंने तीन विभाग किये हैं — विगत एवं वर्तमान पर आधारित, घटित एवं घटमान के अतिरिक्त मैंने सम्भावित व्यापार भी माना है, क्योंकि काव्य में उत्प्रेक्षादि अलंकारों के माध्यम से रूप, गुण एवं व्यापारादि में जो प्रस्तुत में अप्रस्तुत की संभावना की जाती है, और जिसका अतिशय चमत्कारी

होना अनुभव सिद्ध है, उसका समावेश इस तीसरे भेद के बिना संभव नहीं है । प्रभाव के अन्तर्गत ऐन्द्रिय संवेदनाओं के साथ ही रसानुभूति के अतिरिक्त अन्य प्रकार के मानस प्रतिफलन का भी आकलन किया जाना आवश्यक है । अतः मेरे विचार से विभाजन इस प्रकार होगा —

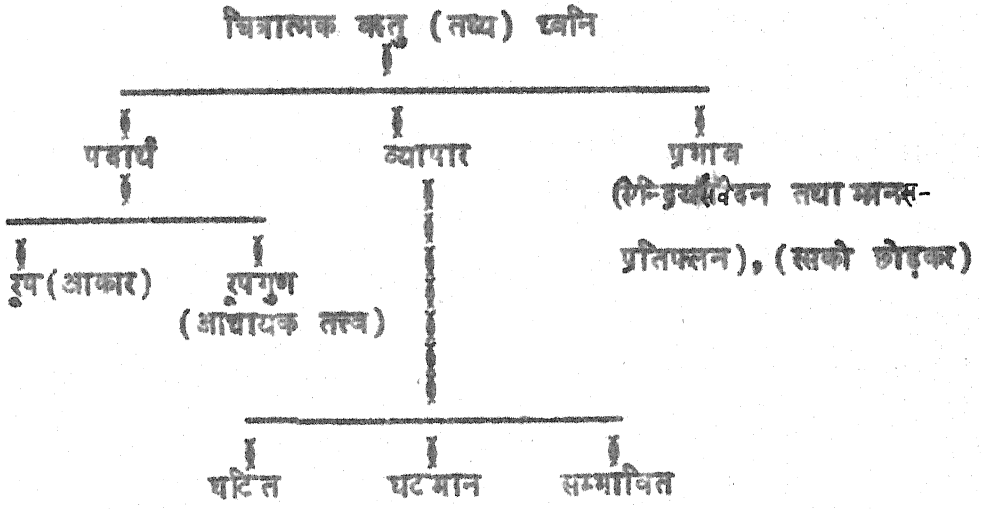

रूपादि में भी दृष्ट, दृश्यमान एवं सम्भावित भेद किया जा सकता है और तीनों की प्रत्यक्षोपलब्धि के लिए क्रमशः स्मृति, अनुभूति एवं कल्पना का आश्रय लेने की बात सोची जा सकती है । उपर्युक्त विभाजन प्रमुखता के आधार पर है एवं स्थूल है ; क्योंकि रूप तथा रूपगुण की व्यापार से निरंतर संसृष्टि होती रहती है, जिससे ऐन्द्रिय संवेदन की मिलता रहता है । व्यापार तो विचार ध्वनि को भी उत्तेजित करने में योग देता है । अतः वर्गीकरण करते समय इस बात पर ध्यान देना आवश्यक है कि आपेक्षिक दृष्टि से बिम्ब से जिस तत्त्व का मुख्य रूप से प्रतिफलन हो, वहाँ उस भेद की प्राधान्येन विवक्षा होगी ।

चित्रात्मक ध्वनि या बिम्ब ध्वनि में कवि का ध्यान वस्तु जगत के किसी रूप अथवा व्यापार के चित्रांकन में होता है, वह सूक्तियों या उपदेशों की

अपेक्षा चित्रांकन को ही महत्व देता है । निराला का कथन है — "सूक्तियाँ या उपदेश मैंने बहुत कम लिखे हैं, प्रायः नहीं, केवल चित्रण किया है।"[1] बिम्ब ध्वनि के सर्वांग सुन्दर रूप को प्रस्तुत करने एवं उसके निर्वाह के लिए कवि को चाहिए कि वह चित्र की व्यंजना को वाच्य कभी नहीं बनाये । पंत की 'नौका-विहार' आदि रचनायें यद्यपि आरम्भ में अतिशय सुन्दर बिम्ब प्रस्तुत करती हैं, किन्तु भाव-लोक से उठकर चिंतन जगत में विश्राम लेने वाले कवि के स्वभाव के कारण वे उपदेश पर्यवसायी होने से अपना प्रभाव खो देती हैं, चित्र विकलांग हो जाता है । इसी प्रकार प्रयोगवादी रचनाओं में व्यंग्य को वाच्य में परिणति देखकर खेद होता है ।

यों तो रसध्वनि या अलंकार ध्वनि में भी बिम्ब योजना की जाती है जिससे भाव एवं सौन्दर्य के बोध में सहायता प्राप्त होती है किन्तु बिम्ब-ध्वनि में कवि का प्रयत्न पाठक या भावक के मानस पटल पर उस जैसा ही चित्र उतारने में होता है किन्तु वह चित्र प्रतिफलन (Photo) मात्र नहीं होता 'कुछ अतिरिक्त'[2] होता है, क्योंकि विशुद्ध वर्णनात्मक प्रतीत होनेवाले बिम्बों में भी बाह्यरंग तथ्य के ज्यों के त्यों अंकन की अपेक्षा कुछ अधिक प्राप्त होता है । यही 'कुछ और' ध्वनिकार का 'प्रतीयमान पुनरन्यदेव' है । अतः वस्तु ध्वनि में भी रसध्वनि एवं अलंकार ध्वनि की भाँति आस्वाद्यता एवं लोकोत्तर आनन्द देने की क्षमता स्वीकार करनी चाहिए ।

---

1. प्रबन्ध प्रतिभा : पृ० 284.

2. An epithet, a metaphor, a simile may create an image may be presented to us in a phrase or passage on the face of it purely descriptive, but conveying to our imagination something more than the accurate reflection of an external reality.

   - C. Day Lewis : The Poetic Image, P.18.

जैसे भावध्वनि में भावोद्बोधन या भाव परिष्कार अभीष्ट होता है, उसी प्रकार विचार ध्वनि में भी विचारोद्बोधन या वैचारिक परिष्कृति ही कवि का उद्देश्य होता है कवि का यह उद्देश्य काव्य के मोहक आवरण में ही सफल हो सकता है, क्योंकि मन की अन्यवृत्तियों का रंजन वैचारिक बिम्ब का आनुषंगिक फल है । आज के युग का कलाकार राजनीति, धर्म, दर्शन, मनोविज्ञान एवं समाज को आत्मसात् कर चलनेवाला एक ऐसा पथिक है, जिसको आलोक देनेवाली केवल बुद्धि है । बुद्धितत्त्व की अनिवार्यता के दर्शन स्वयं कविगण भी कर रहे हैं— विचार और कला की तुलना में इस युग में विचारों को ही प्राधान्य मिलना चाहिए । जिस युग में विचार (idea) का स्वरूप परिपक्व और स्पष्ट हो जाता है, उस युग में कला का अधिक प्रयोग किया जा सकता है ।[1]

गजानन माधव मुक्तिबोध भी अनुभव करते हैं कि "आज कवि कला का उपयोग विचारोद्बोधन के लिए करता है । उसकी दृष्टि में मानवीय विचार की कविता भी हो सकती है ।"[2] ऐसी स्थिति में यह आवश्यक हो गया है कि वैचारिक बिम्बों के स्वरूप का भी आकलन किया जाय, क्योंकि ऐसे अनेक स्थल उपलब्ध होते हैं, जहाँ कवि न भावुक होता है न कल्पक, केवल चिन्तक होता है । हाँ, भाव या कल्पना का पूर्ण बहिष्कार सम्भव ही नहीं है, क्योंकि शुद्ध चिंतन दर्शन का विषय है, उसे काव्य का रूप धारण करने के लिए या तो भाव का आश्रय लेना पड़ता है या कल्पना का । आजकल कुछ शुद्ध विचारप्रधान रचनाएँ भी काव्यजगत में दिखाई पड़ती हैं, जिन्हें हम सैद्धान्तिका ही काव्य कहते हैं । यहाँ भी प्राधान्येन व्यपदेश समझना चाहिए । अतः वर्गीकरण कुछ इसप्रकार होगा :—

---

1. सुमित्रानन्दन पंत : आधुनिक कवि : भूमिका : पृ० 33.
2. तारसप्तक : पृ० 11.

विचार ध्वनि (विचार बिम्ब)

शुद्धविचारिक बिम्ब	वैचारिक भाव बिम्ब	भावात्मक विचार बिम्ब
(विचार से विचार)	(विचार से भाव)	(भाव से विचार)

अलंकार ध्वनि में कवि की दृष्टि अलंकार निरूपण पर न होकर उक्ति की प्रभविष्णुता की ओर होती है, जिसमें अलंकार स्वतः स्फूर्त हो जाते हैं । इससे सिद्ध है कि व्यंग्य अर्थ से भावोद्रेक भी होता है किन्तु उसमें कुछ ऐसी कमियाँ हैं, जिनके कारण उसमें अधुनातन साहित्य का वर्गीकरण सम्भव नहीं । साथ ही पूर्ववर्ती आचार्यों ने जिन रचनाओं को अकाव्य कहकर अस्वीकार कर दिया है, उनमें भी बहुत उच्चकोटि का काव्यत्व प्राप्त होता है । कुछ को तो 'चमत्कारितम' के रूप में भी देखा जा सकता है । इसलिए सर्वप्रथम हमने काव्य के दो विभाग किये हैं :— (1) काव्य और (2) काव्याभास ।

काव्य के अन्तर्गत 'चमत्कारितम' में ध्वनिकाव्य है, जिसमें व्यंग्य-प्रधान का विवेचन किया है, जो प्रायः प्राचीन आचार्यों के ही पद-चिह्नों पर है । हाँ, वस्तु ध्वनि का 'तथ्य ध्वनि' और विचार ध्वनि में भेद, नई पद्धति से किया गया है । चमत्कारितर के अन्तर्गत चार खण्ड किये गये हैं — (1) गुणीभूत व्यंग्य, (2) वाच्य चारुत्व, (3) व्यंजक-प्रधान, (4) अलंकृत ।

इनमें से गुणीभूत व्यंग्यों का विवेचन पूर्ववत् है । वाच्य-चारुत्व के अन्तर्गत इतिवृत्तात्मक, वर्णनात्मक एवं नीति-सूक्ति-परक रचनाओं का समाहार किया गया है । अलंकृत के अन्तर्गत आलंकारिक अतिरेक, प्रौढ़ोक्तियाँ जैसे— वक्रोक्ति आदि (सीमित अर्थ में), उक्त्यात्मक रचनाएँ

समाविष्ट हैं । गूढ़ार्थ रचना भी इसीमें समाविष्ट है । इसके अन्तर्गत कूट काव्य, सन्ध्याभाषा, विपर्यय और प्रहेलिका जैसी रचनाओं का आकलन किया गया है । यद्यपि प्राचीन लोगों ने ऐसी सम्पूर्ण रचनाओं को काव्य जाति से बहिष्कृत करके छुट्टी पा ली है , किन्तु सूर, कबीर, जायसी जैसे महाकवियों की रचनाओं में गूढ़ता का आवरण हटा देने के पश्चात् जो रस या विचार प्राप्त होता है, उसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता । कुछ रचनाएँ तो सर्वोत्तम रचना की कोटि में रखी जा सकती हैं ।

चमत्कारी के अन्तर्गत चित्रकाव्य को स्वीकार किया गया, जिसमें शब्दचित्र, अर्थचित्र, बन्धचित्र, दुष्कर शब्दालंकार योजना, भाषा-समक आदि का परिगणन किया गया । किन्तु यह नहीं भूलना चाहिए कि यदि इनमें से कोई सुंदर भाव, विचारादि समाहित नहीं है, तो ये रचनाएँ काव्य न होकर काव्याभास मात्र रह जायेंगी ।

काव्याभास के अन्तर्गत क्रीड़ा काव्य को ही मुख्य रूप से स्थान दिया गया है, जिसमें अक्षर च्युतक, मात्रा च्युतक, किन्दुमती, प्रहेलिका (आध्दी), नर्सरी राइम्स आदि को काव्य जाति से बहिष्कृत किया गया है । इस प्रकार उपर्युक्त आधार पर वर्गीकरण का वृक्ष निम्नांकित है :—

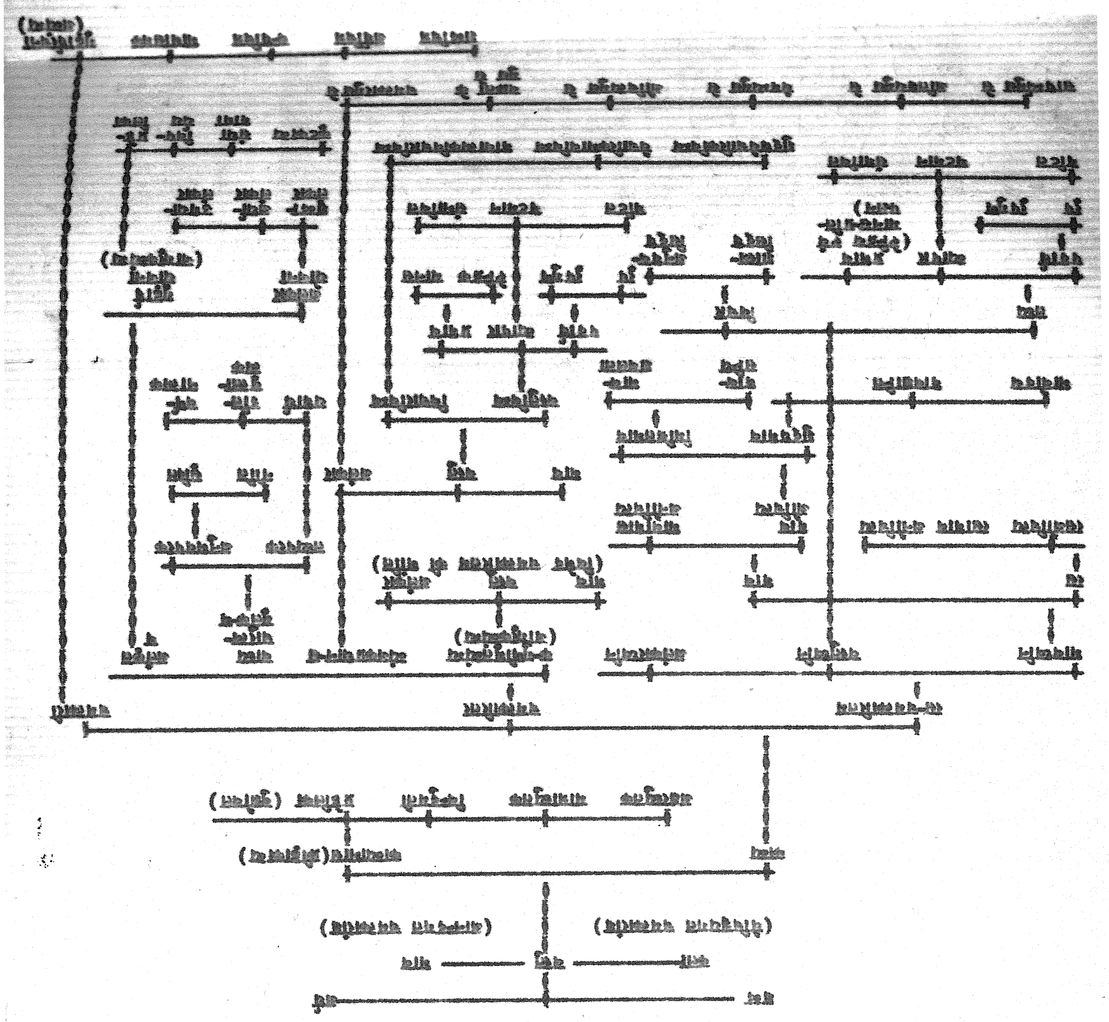

काव्य-विभाजन का आधार और विषयतत्त्व:

काव्य का केन्द्रीय उपादान है वस्तु । जब हम किसी वस्तु का सुन्दर रूपायन करते हैं, तब कला-शरीर के नैसर्गिक घटकों के साथ-साथ कुछ मानसिक घटकों का भी अनिवार्य योग हो जाता है, क्योंकि वस्तु कला के माध्यम से मानसिकता को ही अधिकाधिक अभिव्यक्ति देना चाहती है । चूंकि काव्य एक वाङ्मयी ललित कृति है, अतः पूर्वोक्त रूपायन में अनुभूति और कला दोनों के घटकों का योग वस्तु को एक विलक्षण चमत्कार से परिपूर्ण कर देता है ।

यह स्वीकार करते हुए भी कि काव्य का उद्देश्य मानसिकता को रमणीय आकार देना है, भारतीय आचार्यों ने क्रोचे की भाँति वस्तु के मूल्य को नकारा नहीं है, अपितु सभी धरातलों पर उसे स्वीकृति ही दी है । नाट्यशास्त्र में वस्तु नेता और रस की परिकल्पना की गई है, तो काव्य शास्त्र में रस, वस्तु और अलंकार का त्रिकोणात्मक सौंदर्य प्रतिपादित किया गया है । यद्यपि इन तीनों की परस्पर अनुस्यूत सत्ता अखण्ड और एक-घन है, तथा आस्वाद के क्षणों में विशेषतः तीनों को एक-दूसरे से पृथक् करके नहीं देखा जा सकता, तथापि इन तीनों की व्यवहार विवेचन के लिए पृथक्-पृथक् स्वतंत्र सत्ता को भी समान महत्त्व दिया गया है । इनकी प्रधान-गौण व्यवस्था भी स्वीकार की गयी है। अतएव काव्य के विभिन्न संप्रदायों का उद्भव और विकास हुआ है । अरस्तू से लेकर आर्नल्ड तक के यूरोप के प्राचीन काव्यशास्त्र में भी प्रायः इन तीनों की पृथक् सत्ता को मान्यता मिली है । हाँ, क्रोचे ने काव्य को एक अखण्ड संश्लिष्ट सहजानुभूति के रूप में स्वीकार किया है । उसका विचार है कि – "कवि या कलाकार अपने अन्तर की भावना को बाहर प्रकाशित करता है, बाह्य वस्तु को नहीं । यह भावना उसकी अपनी निज की वस्तु है ।"[1]

---

1. हिन्दी साहित्य कोश : पृ० 51-52.

शब्द अथवा संगीत आदि के माध्यम से प्रकट होनेवाला इन्द्रिय गोचर रूप उसीका बाह्य रूपायन मात्र है । समस्त सौंदर्य इस अभिव्यक्ति में ही होता है, उसमें निहित अर्थ में नहीं । वस्तु या पदार्थ अभिव्यक्ति भिन्नता का कारण है अवश्य, किन्तु सौंदर्य कार्य या अभिव्यक्ति में होता है, अतः वह वस्तु को अत्यन्त नगण्य स्थान देता है ।

काव्य में वस्तु का स्वरूप शब्दार्थ-साहित्य के रूप में सभी भारतीय मनीषियों ने स्वीकार किया है । शब्द वस्तु का स्थूल आकार है और अर्थसूक्ष्म, संवेद्य । शब्द आधार है और अर्थ आधेय । अतः काव्यवस्तु पर विचार करनेवालों ने अपनी-अपनी दृष्टि के अनुसार शब्द से अर्थ तक या अर्थ से शब्द तक पहुंचने का प्रयत्न किया है । पंडितराज ने तो रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्द को काव्य कहा है । कुन्तक ने 'वाक्य-वक्रता' के अन्तर्गत वस्तु वक्रता की चर्चा की है । उनका विचार है कि वस्तु वक्रता दो प्रकार की है — (1) सहजा और (2) आहार्या । जो वस्तु स्वयं सर्वतोभद्र है, उसके रूपायन में कवि की प्रतिभा प्रसंग के औचित्य से या वस्तुओं के स्वाभाविक सौंदर्य से एक ऐसा लोकनिर्मित करती है, जहां वस्तु लोकवस्तु का प्रतिरूप बन कर आनन्द प्रदान करती है । दूसरी स्थिति 'आहार्या' वस्तु की है, इसमें शक्ति व्युत्पत्ति और अभ्यास के परिपाक से प्रौढ़ कवि कौशल की प्रेरणा से लोक-विलक्षण नवीन वस्तु की सृष्टि होती है, इसीके लिए कहागया है कि—

"अपारे काव्य संसारे कविरेव प्रजापतिः ।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते ।।"

अतः पदार्थ के दो स्वरूप बन जाते हैं, एक वह है, जिसका उल्लेख उसके यथातथ्य रूप में ही काव्य में होता है, और जो स्वयं अपनी अनिर्वचनीयता के कारण कवि की रस-साधना का सिद्धिस्थल बन जाता है मैथिलीशरण गुप्त ने साकेत में जब यह स्वीकार किया कि —

राम तुम्हारा चरित स्वयं ही काव्य है ।
कोई कवि बन जाय सहज सम्भाव्य है ।।

तो उन्होंने उसी सहजा वस्तु की महिमा की ओर संकेत किया, जिसमें कुन्तक के अनुसार "भावों को पूर्ण विकसित स्वभाव औचित्य एवं सौंदर्य से युक्त उज्ज्वल एवं कवि-भावना-प्रत्यक्ष शोभा है, किन्तु काव्य का बहुत बड़ा संसार कवि की प्रातिभ सृष्टि है । जहाँ कला के योग से कवि प्रातिभ वस्तु सृष्टि करता है ।

काव्य में वस्तु के मूल्य को अन्य साहित्यशास्त्रियों ने तो स्वीकार किया ही है, ध्वनि सिद्धान्तवादी आनन्दवर्धन ने भी 'अर्थ रूप वस्तु' को महत्त्व दिया है । उनका कथन है कि उस प्रतीयमान अर्थ रूप वस्तु को प्रकाशित करने वाले महाकवियों की वाणी उनके प्रतिभासमान अलौकिक प्रतिभाविशेष को व्यक्त करती है, क्योंकि प्रज्ञा अथवा प्रतिभा का कार्य, वैशिष्ट्य है-अपूर्व वस्तु के निर्माण में समर्थ होना ।

लोचनकार ने भी इसी अपूर्व वस्तु की प्रशंसा करते हुए लिखा है, कि सरस्वती का तत्त्व कारणांश के बिना ही 'अपूर्ववस्तु' की रचना किया करता है ।(लोचन मंगलाचरण) ऐसी स्थिति में यह स्वतः सिद्ध हो जाता है कि सभी विद्वान विचारक-काव्य में वस्तु को महत्त्वपूर्ण स्वीकार करते हैं, भले ही वे उसे अलोक सामान्य वस्तु या अपूर्व वस्तु की संज्ञा प्रदान करें । यहां यह भी विचारणीय है कि काव्यवस्तु कवि की प्रातिभ सृष्टि है । इसलिए उसका लोकोत्तर या अलौकिक होना स्वतः सिद्ध है । वह सामान्य वस्तु से भिन्न है । यही सिद्ध करने के लिए कवि को 'ब्रह्मा', 'निरंकुश' आदि कहा गया है ।

---

1. 'अपूर्वमपि वस्तु प्रथयति विना कारणं कवेः - जगद् भावप्रत्यं निजरस-भरात् सारयति च ।' — ध्वन्यालोक लोचन, अभिनवगुप्त, पृ० 1.

यहाँ एक मूल प्रश्न उठता है कि क्या काव्य में भाव वस्तु और अलंकार की पृथक्-पृथक् सत्ता स्वीकार की जाय ? इस प्रश्न के स्पष्टीकरण के लिए हमें दर्शन के परिप्रेक्ष्य में विचार करना होगा । शास्त्रकारों ने 'शब्द' और 'अर्थ' का अभेद सम्बन्ध स्वीकार किया है । वेदान्त 'शब्द और अर्थ' के अद्वैत पर विचार करता है किन्तु शैवाद्वैत वाणी और अर्थ को पार्वती परमेश्वर की तरह स्वरूप मानता हुआ भी भेदाभेद स्वीकार करता है, जैसा कि कालिदास के इस कथन से स्पष्ट है —

वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये ।
जगतः पितरौ वंदे पार्वती परमेश्वरौ ।।

गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी इसी भेदाभेद स्वरूप की चर्चा इस प्रकार की है —

गिरा अर्थ जल वीचि सम, कहियत भिन्न न भिन्न
बन्दौं सीता राम पद, जिनहिं परम प्रिय खिन्न ।।

यहाँ कवि ने शांकर वेदान्त के 'शक्तिशक्तिमतोरभेदः सम्बन्धः 'के समानान्तर 'शब्दार्थयोरभेदः सम्बन्धः ' के पारमार्थिक स्वरूप को स्वीकार करते हुए भी व्यावहारिकी सत्ता में उनकी पृथक-पृथक स्थिति के आधार पर सीताराम की वंदना 'गिरा-अर्थ' और 'जल-वीचि' के रूप में की है । पारमार्थिकी सत्ता में शब्द अमूर्त, निर्विकल्प, नित्य, विशुद्ध और स्फोट रूप है । अर्थ उसकी मूल शक्ति है, जो परमेश्वर की त्रिगुणात्मिका मूल शक्ति की भाँति त्रिविध रूप है किन्तु व्यावहारिकी सत्ता में ब्रह्म की अभिव्यक्ति प्रकृति के अधिष्ठान में होती है । अतः कवि ने क्रम बदलकर 'जल वीचि' का प्रयोग किया है । यहाँ जल शब्द है जो सीता रूप है और ब्रह्म अर्थ है जो वीचि (लहर) रूप है । इसीलिए अर्द्धनारीश्वर रूप काव्य में — 'अर्थः शम्भुः शिवा वाणी'

(लिंगपुराण) अथवा 'स्त्रीयाँ शरः सोमा' को स्वीकार किया गया है । क्योंकि जैसे जल में उत्पन्न लहर जल की विलक्षण शोभा को अभिव्यक्त करती है, किन्तु उसका आविर्भाव तिरोभाव हुआ करता है, वैसे ही माया के अधिष्ठान में ब्रह्म की शोभा खिल-मिलाती रहती है ।

इस सृष्टि का प्रारंभ प्रकृति के विकारों से होता है और उन विकारों में सर्वप्रथम सृष्टि आकाश की होती है, और आकाश का मुख्य गुण है शब्द । जैसा कि हम जानते हैं कि विश्व के प्रत्येक कण में आकाश पर्यावरण के रूप में विद्यमान है, अतः ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जो शब्द-शून्य हो। दूसरे शब्दों में इस नाम-रूपात्मक जगत में प्रत्येक वस्तु का एक रूप है और उस रूप का एक नाम है। इसीलिए जगद्गुरु शंकराचार्य ने सृष्टि को 'शब्दपूर्विका' माना है । बिना शब्द के तत्व अरूप एवं अर्ज्ञ-वेदनीय होगा । शब्द के शरीर में ही अर्थ रूपायित होता है ।

जहाँ तक मानवीय वाक् का सम्बन्ध है, मनुष्य के हृदय देश में भी आकाश है । अतः जब आत्मा बुद्धि से संयुक्त होकर मन को बोलने की प्रेरणा देती है तो मन काया में स्थित अग्नि तत्व को आघातित करता है, जिससे वायु प्रेरित हो उठती है और उस आकाश में संचरण करता हुई शब्द को उत्पन्न करती है । यह 'शब्द' परा, पश्यंती और मध्यमा – इन तीन स्थितियों को पार करता हुआ 'वैखरी' के रूप में मुखावयव में उच्चरित होकर एक ऐसा आकार धारण करता है, जिसका ज्ञान श्रोत्रेन्द्रिय से होता है ।

प्रकारान्तर से कहें तो आत्मिकता, बौद्धिकता और मानसिकता को पार करता हुआ इन्द्रिय संवेद्य स्थूल रूप धारण करता है ।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, आत्मा आदि तीन धरातलों से सम्बद्ध होने के कारण शब्द में यथा योग्य भाव विचार और बिम्ब

आदि के संप्रेषण एवं उद्बोधन की क्षमता उत्पन्न होती है ।

जब लोगों ने काव्य की आत्मा का शोध प्रारंभ किया तब निश्चय ही उनकी दृष्टि में स्थूल शब्द और आत्मा के धर्मों के अन्वेषण का लक्ष्य था ।

श्री मर्डेकर की भाषा में कहा जाय तो कहना होगा कि शब्दों के चारों ओर एक आवरण होता है और इस आवरण में ही मानों कुछ उत्कृष्ट प्रकार का मधु संलग्न रहता है । (लीला कमल पत्राणि गणयामास पार्वती' का विवेचन करते हुए उन्होंने कहा कि) कमल पत्रों से लीला करना पद में देखना, मुँह में एक विशिष्ट प्रकार की उँगली डालना अथवा आँचल से खेलना इत्यादि शब्दों से प्रेम-भावना का मधु झरने लगता है कि बहुना प्रेम भावना शब्द-समुच्चय से एक रूप हो जाती है ।"

काव्य में वस्तु के महत्त्व को अतिशय नगण्य माननेवालों का मत एकांगी है, ऐसी मेरी धारणा है । बिना वस्तु के 'धर्म' का अस्तित्व ही संभव नहीं है तथा अयोग्य वस्तु से अनुरूप आकार की प्राप्ति एक दुष्कल्पना मात्र है । साहित्य में कलात्मक अभिव्यक्ति अथवा अभिव्यंजन पद्धति को अत्यंत महत्त्वपूर्ण मानते हुए भी वस्तुतत्व की सर्वथा उपेक्षा नहीं की जा सकती । अतः काव्य के केन्द्र में वस्तु की स्थिति को अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा । हाँ, उसके मात्रात्मक आनुपातिक अंश में, मतभेद हो सकता है । देहात्मवादी वस्तुनिष्ठ हो सकता है और रसवादी हो तो रस ध्वनि भावौद्रेक की गौण या हीन दशा में वस्तु ध्वनि तथा अभिव्यक्ति के वैचित्र्य की प्रमुखता में अलंकार ध्वनि होती है वस्तुतः काव्य का मूलाधार है वस्तु । जहाँ वस्तु की अभिव्यक्ति पाठक की अनुभूति को सरसता प्रदान करने में समर्थ होती है, वहाँ रसादि ध्वनि का व्यवहार होता है और जहाँ वस्तु के आधार पर उक्तिगत चारुत्वाधिक्य का अभिव्यंजन ही कवि का लक्ष्य होता है, वहाँ अलंकार ध्वनि नाम दिया जाता है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आनन्दवर्द्धन से लेकर आज तक काव्य में अर्थानुसारी विभाजन का आधार चमत्कार अथवा विस्मयजनकता को ही बनाया गया है । पंडितराज जगन्नाथ ने तो 'चमत्कृति' को आधारभूमि बनाकर ही वर्गीकरण किया है। यहां इस तथ्य का उल्लेख करना भी अप्रासंगिक न होगा कि प्राचीन रसवादी तथा ध्वनिवादी आचार्यों की व्यंग्य-व्यंजकपरक दृष्टि के कारण वाच्य-वाचक का महत्त्व नगण्य हो गया । यद्यपि काव्य का एक बहुत बड़ा भाग ऐसा है, जिसे न तो चित्रकाव्य कहकर टाला जा सकता है, और न जिसे रसात्मकता के अभाव में विश्वनाथ की भांति काव्यत्व की जाति से बहिष्कृत किया जा सकता है । वस्तुतः जहां कवि की दृष्टि वर्ण्य की अपेक्षा करके केवल ऊहा की अतिशयता द्वारा कलाकारी या बाजीगरी दिखाना चाहती है, और उसीके लिए अर्थविधान में भी दूर की कौड़ी लाती है, वहां कवि कौशल का कुतूहल बुद्धि को आत्मसात् कर लेता है और शब्दों का आडम्बर आवरण बन जाता है । ऐसे स्थलों में चित्रकाव्य की बात समझ में आती है क्योंकि वहां कवि का आलंकारिक अतिरेक प्रबल हो उठता है,[1] किन्तु प्रकृति अथवा परिस्थितियों के चित्रण में सूक्ति एवं उपदेशक रचनाओं में और आज की बौद्धिक कविताओं में जो वाच्य-वाचक वैशिष्ट्य दिखाई पड़ता है अथवा शुद्ध यथार्थ अभिव्यक्ति पाता है, वह सर्वथा उपेक्षणीय नहीं है, उसे चित्रकाव्य कहकर झुठलाया नहीं जा सकता है ।

---

1. (क) तत्र किंचिच्छब्दचित्रं तथा दुष्कर यमकादि वाच्यचित्रं ततः शब्दचित्रादन्यद् व्यंग्यार्थ संस्पर्शरहितं प्राधान्येन वाक्यार्थ तथास्थितं रसादि तात्पर्य रहितमुत्प्रेक्षादि। —ध्वन्या०, पृ० 495

(ख) किन्तु यदा रसभावादि विवक्षा शून्यः कविः शब्दालंकारं अर्थालंकारं वोपनिबध्नाति तया तद्विवक्षापेक्षया रसादि शून्यतार्थस्य परिकल्पते । वही, पृ० 496.

यद्यपि यहाँ रस ध्वनि का होना अनिवार्य नहीं है इसीलिए आज के काव्य में वस्तु ध्वनि अधिक प्रखर है । और उसके युगापेक्षी महत्व पर अधिक बल दिया गया है । डा० जगदीश गुप्त का तो कहना है कि "आज के युग में बुद्धिजीवी मनुष्य के लिए यह सम्भव नहीं है कि वह यथार्थ की उपेक्षा कर दे या संवेग से पराजित सौंदर्यबोध से पूरी तरह अपना समझौता कर ले ।"[1]

अतः पुरातन एवं नूतन की सन्धि पर खड़े होकर एक नूतन वर्गीकरण करने का प्रयास किया गया है । मैंने समस्त रचनाओं के मूल में 'वस्तु' को स्वीकार किया है । चाहे उसका भावात्मक या गुणात्मक रूप कितना ही नगण्य क्यों न हो काव्य के शैली एवं स्वरूप में जो भेद दिखाई पड़ता है, उसका मुख्य कारण यह है कि उस वस्तु को अधिष्ठान बनाकर कवि की मनीषा का प्रवाह किस ओर है, यदि यह भाव की ओर है अथवा भाव में विश्रान्त है तो रसात्मक काव्य की सृष्टि होगी । यदि कवि में काव्य का अतिरेक है तो उक्ति वैचित्र्य और आलंकारिक सौंदर्य के दर्शन होंगे और यदि वस्तु ने चिंतन के तार को झंकृत कर दिया तो रचना में जीवन के अनुभव, दर्शन और चिंतन एक मनोरमता के साथ उपस्थित होंगे । वैसी भी स्थिति सम्भव है कि कवि की दृष्टि शुद्ध रूप से वस्तुपरक ही हो । उस दशा में काव्य वर्णनात्मक और यथातथ्य चित्र प्रस्तुत करेगा किन्तु यह आरंभ में ही स्पष्ट कर देना है कि काव्य का विभाजन इस रूप में नहीं हो सकता कि प्रत्येक खण्ड दूसरे खण्ड से सर्वथा असंपृक्त है । यह एक प्रदक्षिणात्मक वृत्त जैसा है, जिसमें प्रत्येक बिन्दु दूसरे से मिलकर ही रूप की पूर्णता प्राप्त करते हैं ।

---

1. जगदीश गुप्त : नयी कविता अंक 3, संपादक जगदीश गुप्त पृ० 5.

मुझे अनेक विभाजनों में 'चमत्कारि-चन्द्रिका' के लेखक विश्वेश्वर कविचन्द्र का विभाजन कुछ अधिक उचित प्रतीत हुआ क्योंकि मूलतः वह विषय तत्व के आधार पर किया गया है। आत्मनिष्ठ या आनन्दनिष्ठ किन्तु जैसे आत्मा के बिना देह की स्थिति निरर्थक और असंभव है वैसे ही देह रूप आधार के बिना आत्मा की सत्ता भी अप्राप्य है । अतः वस्तु भाव और कला के नित्य की अनिवार्य स्वीकृति देनी होगी और वस्तु को — शब्दार्थ रूप वस्तु को — अनिवार्य एवं केन्द्र के रूप में स्वीकार करना होगा ।

यद्यपि यहां विषयान्तर होने का भय है तथापि इतना निवेदन अत्यावश्यक है कि काव्यवस्तु लोकवस्तु से सर्वथा विलक्षण होती है, क्योंकि काव्यवस्तु (लोकवस्तु) के मानस प्रतिफलन का पुनः सृष्टिविधान है, अतः काव्यवस्तु पर मानसिकता का पर्यावरण रहता है, और कल्पना, विचारणा, भावना एवं प्रतिभा से ओतप्रोत काव्य वस्तु मनोजगत में घटित या संघटित होनेवाली अलोक सामान्य वस्तु बन जाती है, जिससे अपूर्व काव्य सृष्टि होती है । इस काव्यवस्तु की केन्द्रीयता को आधार बनाकर निम्नांकित 'रचनाचक्र' प्रस्तुत किया जा सकता है, जिसमें सभी श्रेणियों के काव्य का समाहार हो जाता है ।

स्वस्तिक-चक्रम्

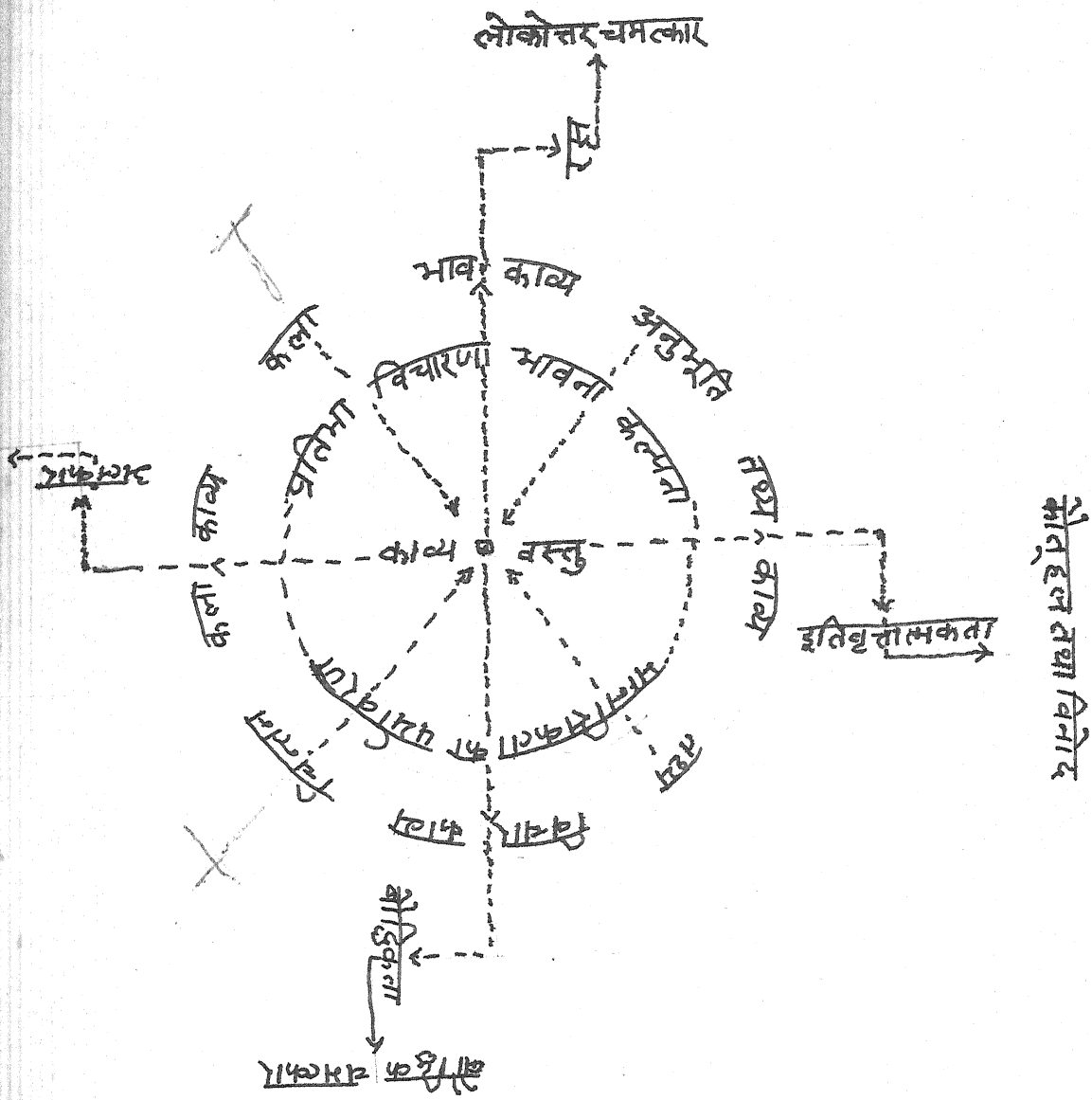
लोकोत्तर चमत्कार
भाव काव्य
कला
विचारणा
भावना
अनुभूति
प्रतिभा
कल्पना
काव्य
कला
काव्य
वस्तु
तथ्य
कथ्य
इतिवृत्तात्मकता
सौन्दर्य तथा विनोद

पंचम अध्याय

चमत्कार संप्रदाय : एक स्थापना

पंचम अध्याय

चमत्कार सम्प्रदाय : एक स्थापना

चमत्कार शब्द सौन्दर्यतत्त्व का बोध कराने वाले उन अन्यतम शब्दों में से है, जिन्हें भारतीय साहित्यशास्त्र ने शैव दर्शन के एक क्रान्तिकारी अवदान के रूप में प्राप्त किया है । इस शब्द के दर्शनानुप्राणितव्यक्तित्व के साहित्य में अनुप्रवेश से निर्मित एवं आस्वाद दोनों धरातलों में एक अभिनव सौन्दर्य मानकों की उपलब्धि हुई । अभिव्यक्ति के लिए छटपटाते हुए आस्वादात्मक संवेदन को वाणी मिली और एक ऐसी नयी दृष्टि मिली जिससे साहित्यजन्य आनन्द के आस्वाद का सौंदर्य उद्घाटित हो सका । ऐसी दशा में अध्ययन हेतु सर्वप्रथम चमत्कार के दार्शनिक स्वरूप की परिचर्चा करनी होगी और तदनन्तर उसके दार्शनिकता से सौंदर्य-दार्शनिकता के मानकीय रूपान्तरण पर विचार-विवेचन प्रस्तुत करना होगा ।

चमत्कार का दार्शनिक स्वरूप :

प्रत्यभिज्ञा शैव दर्शन के अनुसार परमशिव एकमात्र परमतत्त्व है । यद्यपि उस पूर्ण चैतन्य स्वरूप अथवा परम संवित् स्वरूप उस परम शिव की शक्तियों का कोई अन्त नहीं है, किन्तु वह मुख्यतः अपनी पाँच प्रधान शक्तियों पर निर्भर रहता है । ये शक्तियाँ हैं — चित्, आनन्द इच्छा, ज्ञान और क्रिया । इनका स्वरूप तंत्रसार के अनुसार इस प्रकार है :—

---

1. तस्य स्वातंत्र्यमानन्दशक्तितः तच्चमत्कार इच्छाशक्तितः, प्रकाशरूपताविच्छक्तितः, आमर्शात्मिका ज्ञानशक्तितः सर्वकार्योगित्वं क्रियाशक्तितरित्येवं मुख्याभिः—

(1) चित्शक्ति : प्रकाश-रूपता ही चित् शक्ति है। चूंकि परमशिव प्रकाश रूप है अतः उसकी शक्ति की प्रकाश-रूपता स्वतः सिद्ध है ।

(2) आनन्दशक्ति : परमशिव का स्वातंत्र्य ही आनन्दशक्ति है । चूंकि शिव स्वतंत्र 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुम् समर्थः '— है अतः उसका यह निर्बन्ध भाव ही आनन्द रूप से स्फुरित होता है ।

(3) इच्छा शक्ति : परमशिव में 'सोऽकामयत् एकोऽहं बहुस्याम प्रजायेय' की इच्छा ही उसकी शक्ति है, जिसका स्वरूप चमत्कार है । तंत्रसार में इसी बात को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि चमत्कार का अर्थ है — 'मैं इस प्रकार का हो जाऊं, ऐसी इच्छा'।[1]

(4) ज्ञानशक्ति : परमशिव ज्ञान स्वरूप है, अतः उसकी ज्ञानशक्ति आमर्शात्मिका है । यह आमर्श वेद्य (ज्ञेय) तत्त्व के प्रति थोड़ा सा उन्मुख होना है[2] ।

(5) क्रियाशक्ति : समस्त आकारों में परिणत हो जाना (एक तत्त्व का अनन्त रूपों में उन्मीलित हो जाना) जिस शक्ति से होता है, वही क्रियाशक्ति है ।

इन्हीं पांच शक्तियों द्वारा परमशिव इस जगत् प्रपंच के रूप में स्फुरित हो रहा है । वस्तुस्थिति तो यह है कि उस महाशक्ति का मूलस्वरूप

शक्तिभिर्युक्तोऽपि वस्तुतः इच्छा, ज्ञान, क्रिया शक्तियुक्तोऽनवच्छिन्नान्तः प्रकाशो निजानन्द-संविद्विश्रान्तः शिवरूपः - - - - तंत्रसार, अ०। उपोद्घात ।

1. 'चमत्कारस्तु इत्थम्भूतगुणालक्षणः '— वही ।

2. 'ईषत्तया वेद्योन्मुखता आमर्श इति' —
— वही, अध्याय । उपोद्घात ।

महाचिति है । इस महाचिति का लीलामय विलास ही आनन्दशक्ति के रूप में स्फुरित होता है । यही आनन्दशक्ति संवलित महाचिति जब इच्छा से संयुक्त होती है तब अन्तर्मुखी ज्ञान-शक्ति और बहिर्मुखी क्रियाशक्ति का स्पंदन होता है । इस शक्ति का मूल स्वभाव आकर्षण है और इसका व्यापार विश्व का अविराम उन्मीलन है ।[1] इसी उन्मीलन को प्रायः स्फुरण, स्पन्द आदि शब्दों से व्यक्त किया गया है ।

इस स्फुरण, उच्छलन या उन्मीलन रूप स्पन्द की विवेचना करते हुए उत्पलाचार्य ने लिखा है कि परमशिव परमात्मा निस्तरंग (शान्त, निर्विकार, निश्चल) है । जब उस निर्विकल्प में सहसा समस्त आकारों की ओर उन्मुखता उत्पन्न हो जाती है तो उसे स्पंद कहते हैं ।[2] यह स्पंद दो प्रकार का माना गया है :—

---

1. (क) कर रही लीलामय आनन्द
महाचिति सजग हुई सी व्यक्त,
विश्व का उन्मीलन अविराम
इसीमें सब होते अनुरक्त ।। — कामायनी, श्रद्धासर्ग, पृ० 53.

(ख) चितेः स्वतंत्रा विश्वसिद्धिहेतुः स्वेच्छया स्वमित्तौ विश्वमुन्मीलयति ।
— प्रत्यभिज्ञा हृदयम्, सूत्र 1—2.

(ग) पराशक्तिरूपा चितिरेव भगवती शक्तेः शिव महाभट्टारकाग्निना तत्तदनन्तजगदात्मना स्फुरति । —प्रत्यभिज्ञा हृदयम् । हिन्दी-वक्रोक्तिजीवित की भूमिका पृ०55 पर श्री राधेश्याममिश्र द्वारा उद्धृत ।

2. स्पन्दन च निस्तरंगस्यास्य तावत् परमात्मनः ।
युगपन्निर्विकल्पा या सर्वतोन्मुख्य वृत्तिता ।। — स्पंद प्रदीपिका, श्री राधेश्याम मिश्र, हिन्दी वक्रोक्ति जीवितम् की भूमिका में उद्धृत पृ० 55.

(1) सामान्य स्पन्द :

सत्य एवं परमकारणभूत आत्मा का जो स्वरूप है – 'यह मैं हूँ इसीसे (मुझसे ही) सबका प्रभव है और इसीमें (मुझ में) ही सब प्रलीन हो जाते हैं – इस प्रकार का उसका (आत्मा सम्बन्धी) जो प्रत्यवमर्श रूप आंतरिक ज्ञान है (अभेद ज्ञान है) वही सामान्य स्पन्द है ।[1]

(2) विशेष स्पन्द :

अनात्मभूत देहादि में आत्माभिमान की उद्भावना करते हुए एक-दूसरे से भिन्न माया प्रेरित प्रमाताओं के विषयभूत 'मैं सुखी हूं, मैं दुःखी हूं' इत्यादि त्रिगुणात्मक विकारों से युक्त ज्ञान के प्रवाह के रूप में संसार का कारण-स्वरूप स्पन्द विशेष स्पन्द कहलाता है ।[2]

इस प्रकार जहाँ सामान्य-स्पन्द के रूप में प्रकाशैकघन परमशिव के प्रकाशरूप में ही शिव से धरणी पर्यन्त समस्त प्रपंच अभेद (एक तत्त्व के) रूप में स्फुरित होता है, वहीं श्री परम भट्टारक शिव विशेष-स्पन्द के रूप में अनन्त विचित्रताओं से संवलित होकर अनन्त रूपों में प्रस्फुरित होता है ।[3]

---

1. 'परमकारणभूतस्य सत्यस्य आत्मस्वरूपस्य 'अयमहमस्मि' अतः सर्वम् प्रभवति, अत्रैव च प्रलीयते इति, प्रत्यवमर्शात्मको निजो धर्मः सामान्य स्पन्दः ।'
–स्पन्दकारिका विवृति, 2/5.

2. 'विशेषस्पन्दाः अनात्मभूतेषु देहादिषु आत्माभिमानमुद्भावयन्तः परस्परभिन्ना मायीयप्रमातृविषयाः सुखितोऽहम्, दुःखितोऽहमित्यादयो गुणमयाः प्रत्ययप्रवाहाः संसार हेतवः । – वही ।

3. 'श्रीमत्परमशिवस्य विश्वोत्तीर्ण विश्वात्मक परमानन्दमय प्रकाशैकघनस्य स्वम् विश्वमेव शिवादि धरण्यन्तमखिलमभेदेनैव स्फुरति ।×××अपितु श्री परमशिव भट्टारकः स्व इत्थम् नाना वैचित्र्य सङ्केतैः स्फुरति ।
–प्रत्यभिज्ञा हृदयम्, भोजराज सूत्र 3 की वृत्ति ।

इसी प्रकार परमशिव की शक्ति भी उनसे अभिन्न होने के कारण अनन्त जागतिक प्रपंचों के रूप में स्फुरित होती है, ऐसा कहा जाता है।[1] यही मूल शक्ति जब विवक्षा (बोलने की इच्छा) से अनुप्रेरित होती है, तो अर्थ और वाणी (शिवशिवा रूप अभेद) से अनुप्रेरित होकर प्रत्यवमर्शात्मिका चिति शक्ति परावाणी के रूप में प्रकट होती है।

इसी परमशिव की प्रत्यवमर्शात्मिका शक्ति, चिति शक्ति से युक्त होकर जो रूप धारण करती है, उसीको व्याकरण दर्शन में परावाक् कहा गया है। यह परावाक् अपने स्वातन्त्र्य से – अपनी इच्छाशक्ति से अथवा अपने रस (आनन्द शक्ति) से (वस्तुतः आनन्दाभिमुखी इच्छा शक्ति के क्रियात्मक रूप से अथवा औपचारिक स्पष्ट शब्दों में इच्छा ज्ञान क्रिया के समन्वय से) उदित उन्मीलित अथवा स्फुरित होती है।[2] यह परावाक् उत्कृष्ट परामर्श का सारतत्त्व है, अतः समस्त वाङ्मय परतत्त्व के बोध का ही उज्जृम्भण (उन्मीलन) करता है।[3] इसी वाक् के स्पन्द रूप में वाणी के तीन और विभाग किये गये हैं।

(1) पश्यन्ती – इस दशा में वाच्य और वाचक का विभाग नहीं हुआ होता है, अतः उसमें अर्थ का बोध अखंड रूप से ज्ञान के परामर्श के रूप में होता है। किन्तु उस परामर्श से प्रमाता के मन में उद्बुद्ध वाच्य अर्थ अहन्ता से आच्छादित ही स्फुरित होता है।[4]

---

1. देखिये टिप्पणी सं० 3 पृ० 208
2. 'चितिः प्रत्यवमर्शात्मा परावाक् स्वरसोदितः'—तंत्रसार, हिन्दीवक्रोक्तिजीवित में उद्धृत पृ० 56.
3. 'इह खलु परपरामर्शसारबोधात्मिकायां पश्यन्त्यां वाचिसर्वेषांनिर्भरत्वात् सर्वशास्त्रं परबोधात्मकतयैवोज्जृम्भणं लभते इति।' — वही, पृ० 57.
4. 'पश्यन्ती दशायां वाच्य-वाचक-विभाग स्वभावत्वेनासाधारणतया हि प्रत्यवमर्शात्मकमन्तस्तत्त्वमिति। अतएव हि तत्र प्रत्यवमर्शकेन प्रमात्रा परामृश्यमानो वाच्योऽर्थोऽहन्ताच्छादित एव स्फुरति।' — वही, पृ० 75.

(2) मध्यमा – इस दशा में वेद्य-वेदक अर्थात् प्रमेय और प्रमाता के प्रपंच के उदय हो जाने से वाक् भिन्न भिन्न वाच्य-वाचक के रूप में उल्लसित होती है ।[1]

(3) वैखरी – इस दशा में वाच्य-वाचक का भेद अत्यन्त स्पष्ट होकर 'बाह्य रूप में स्फुट होकर' प्रकट होता है ।[2]

ऊपर जागतिक सृष्टि और वाचिक सृष्टि का जो स्वरूप प्रस्तुत किया गया है, उसका उद्देश्य यह प्रकट करना है कि जिस प्रकार परमशिव की चिति शक्ति अन्य शक्तियों का समूहालम्बनात्मक आधार लेकर अनन्त वैचित्र्यपूर्ण जगत् के रूप में स्फुरित हो रही है । उसी प्रकार आमर्श शक्ति अन्य शक्तियों के सहकार से वाच्य-वाचक वैचित्र्य संवलित चिदानन्द स्वरूपा परावाक् के रूप में वाङ्मयावतार धारण करती है ।

इस परावाक् की निर्विकल्प अवस्था में उन्मीलित सभी वर्ण सभी अर्थों के बोधक होते हैं । चूंकि सृष्टि के मूल में इच्छा शक्ति ही कार्य करती है अतः आत्मा जब बुद्धि से संचलित होकर मन को बोलने के लिए प्रेरित करती है, तब मन काया की अग्नि (ऊर्जा) का आहनन (गत्वरता प्रदान) करता है ।[3]

---

1. 'तदनुसन्धेव मध्यमाभूमिकायामन्तरेव वेद्य-वेदक-प्रपंचोदयात् वाच्यवाचकस्वभाव तयोल्लसति ।' तंत्रसार, डि० वक्रो० जीवित में – वही, पृ० 57, परउद्धृत ।
2. 'तदुक्तं वैखरीदशायां स्फुटतामियादिति' – वही ।
3. 'आत्मबुद्ध्या समेत्यार्थान् मनोयुङ्क्ते विवक्षया । मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम् ।। मारुतस्तूरसिचरन्मन्द्रंजनयति स्वरम् ।। वर्णा जनयते तेषां विभागः पंचधामतः ।। – पाणिनीय शिक्षा – श्लोक ६ तथा ७

इस प्रकार शक्ति की योनि में क्षोभ उत्पन्न होने से ही नाद की सृष्टि होती है जो वर्णों के रूप में परिणत हो जाती है । अतः वर्ण शक्तिमय है ।

वर्णों की इस संवित् शक्ति का ज्ञान जैसे जैसे बढ़ता जाता है, वैसे ही वैसे अर्थ का चमत्कार भी बढ़ता जाता है । अतः तादात्म्य ही चमत्कार को जन्म देता है । इसी तादात्म्य से भावक को आस्वाद की स्वयम् कवि को निर्मिति की शक्ति प्राप्त होती है । यह अकृत्रिम-स्वभाविक सामरस्यपूर्ण-तादात्म्य ही चमत्कार का कारण है । तादात्म्य वाङ्मय के सृजन की शक्ति उत्पन्न करता है और उसके तादात्म्य के अनुरूप ही चमत्कार का तारतम्य बढ़ता चला जाता है ।[1] यहाँ अभिनवगुप्त ने तंत्रालोक में जिसे 'अकृत्रिम ताद्रूप्य' कहा है उसीको अभिनव भारती में 'अविघ्ना संवित्' के रूप में स्वीकार किया है । उनकी दृष्टि में विघ्नों से सर्वथा रहित वह प्रतीति चमत्कार कहलाती है और उसी दशा को भोगावेश कहते हैं जिसका स्वरूप अतृप्ति से भिन्न अर्थात् पूर्ण तृप्ति रूप है ।[2] इस दशा में आमर्श शक्ति का विकास ज्ञाता के सम्मुख ज्ञेय के आवरण का उन्मीलन आरम्भ कर देता है, जिससे शब्दों के संकेतों का प्रसार होने लगता है । परिणामतः आत्म-चैतन्य का संकुचित ध्वनिरूप उस संकेत के आकलन हेतु अपना अनन्त विस्तार प्रारंभ कर देता है । यह आत्म-विस्तार अथवा विकास सभी आचार्यों द्वारा एक स्वर से चमत्कार के रूप में स्वीकृत हुआ है । इस आत्म-विस्तार की दशा में प्रकाशित चेतना का ही दूसरा नाम प्रतिभा है जो सर्जन और अनुभूति दोनों धरातलों पर सक्रिय रहती है । कवि अपने संवेदन अथवा ज्ञान को रूप देता है तो भावक रूप के माध्यम से ज्ञान अथवा संवेदन का आकलन करता है । इस प्रकार ज्ञान से चलकर ज्ञान तक

---

1. 'यथा यथा चाकृतकं तद्रूपमीक्षिष्यते ।
तथा तथा चमत्कारतारतम्यं विजृम्भते ।।' — तंत्रालोक, एकादश आलोक, पृ० 60.
2. 'सा चाविघ्ना संविच्चमत्कारः ××× स चातृप्तिव्यतिरेकेणावच्छिन्नो भोगावेश इत्युच्यते ।' — हिन्दी अभिनव भारती, पृ० 471-72.

पहुँचने का एक वृत्त पूरा होता है । अतः इस चिन्मय विश्रान्ति के क्षण में ऐसा कुछ नहीं जिसे जान न लिया जा सके और ऐसा कुछ नहीं जिसे किया न जा सके ।[1] यह सब कुछ होता है, चिन्मय विश्रान्ति में या चेतना में तन्मयता से, अतएव शैव दार्शनिकों का विश्वास है कि वाक् सिद्धि के लिए वर्णों की उपासना (तान्त्रिक दृष्टि से बीज मंत्रों का जप और साहित्य की दृष्टि से पदों में वर्णों का विन्यास) अत्यन्त आवश्यक है । इसके द्वारा सर्वज्ञता आदि के प्राप्त हो जाने पर ऐसी कौन-सी सिद्धि है, जो प्राप्त नहीं हो जाती[2] ।

यहाँ संवित् का अर्थ चेतना या परिमित आत्मरूपा शक्ति का परम शिव रूप चिति शक्ति में लयावस्था की ओर संकेत किया गया है । संवित् में लय का अर्थ है ससीम का असीम में लय, स्वराट् का विराट् में लीन हो जाना । यह चित्त के अनन्त विस्तार की अवस्था है, शुद्ध आनन्द की अवस्था है, जिसे योगी लोग समाधावस्था या गगनोपमावस्था कहते हैं । जिस प्रकार योगी सुषुम्ना में प्राण के संचार एवम् निर्गम के साथ ही मानस जप के द्वारा सृष्टि को आत्मा में लीन कर लेता है और फलतः उस आन्तरिक क्रिया से अनन्त चमत्कारों की सृष्टि होती है उसी प्रकार सहृदय का चित्त संवित् में लीन हो जाता है और वह आनन्द की उपलब्धि करता है ।[3] यहाँ पर योगी की तुलना से तात्पर्य चित्त के संवित् में लय या विश्रान्ति की अवस्था से है । कहा गया है कि

---

1. 'यावद्धामनि संकेत निकार कलनोचिते ।
   विश्रान्तिश्चिन्मये किंचिन्नवैस्त्य कुरुते न वा ।।' तंत्रालोक, एकादश आलोक, पृ062.
2. 'अतएव वाक्सिद्धौ वर्णानां समुपास्यता ।
   सर्वज्ञत्वादि सिद्धौ वा का सिद्धिर्यान तन्मयी ।'— वही ।
3. पुष्यकन्तः प्रभुञ्जन्ति योगिवद् रस सन्ततिम् ।
   — हिन्दी साहित्य दर्पण, परिच्छेद 3, पृ० 107.

साधना के द्वारा जब क्रमशः पृथ्वी, जल, अग्नि और तज्जन्य गंध रस और रूप शान्त हो जाते हैं, उस समय स्पर्श का ध्यान करना चाहिए । स्पर्श के शान्त हो जाने पर योगी का चित्त आकाशवत् संवित् में लीन हो जाता है ।[1] जिस जिस स्थान पर हृदय कमल विकसित होता है वहीं वहीं आनन्द की श्री विकसित होती है ।

इसे आनन्द योग या आन्तर योग की संज्ञा दी जा सकती है जिसे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'भावयोग' कहना अधिक उचित समझा है ।

गोरखनाथ द्वारा उपदिष्ट योगमार्ग में भी इस बात का स्पष्ट उल्लेख है कि जब साधनाओं के बाद चित्तवृत्तियों के सम्यक् निरोध से ज्ञाता ज्ञान और ज्ञेय का भेद समाप्त हो जाता है, उस समय महानन्द की अवस्था का उदय होता है । उसमें केवल संवित् मात्र स्वसंवेद्य, स्वप्रकाश, स्वप्रबोध, आत्मतत्व का साक्षात्कार होता है । फिर साधक नित्य अस्खलित भाव से उस अवस्था में स्थित हो जाता है और उसके नानात्व का – भेदबुद्धि का–अवसान हो जाता है । यह अवस्था अत्यन्त निर्मल सुख स्वरूप चमत्कार को उत्पन्न करनेवाली है ।[2]

इस प्रकार अनेक दर्शनों द्वारा समर्थित 'चमत्कार' शब्द शैवदर्शन के प्रभाव से भारतीय साहित्यशास्त्र में समाविष्ट हुआ । यह चमत्कार आनन्दवर्धन से लेकर आज तक अखंड रूप में विद्वानों के लिए आस्वाद के प्रतिमान के रूप में उपलब्ध है । कुछ आचार्यों ने तो साहित्य का एकमात्र निर्धारक मानदण्ड इसी

---

1. 'तत्स्पर्शान्ते तु संवित्तिः शुद्धचिद्व्योमरूपिणी ।
यस्यां रूढः समभ्येति स्वप्रकाशात्मिकां पराम् ।।'–तंत्रालोक, एकादश आलोक, पृ027.

2. 'निजावेशात् सम्यङ् निविडतमनैरुत्थविधिवत्।
महानन्दावस्था स्फुरति वितता क्वापि सततम् ।।
ततः संविन्नित्यामलसुखचमत्कारगमकः ।
प्रकाशप्रोद्बोधे यदनुभवतो भेदविरहः ।।'
– सिद्ध सिद्धान्त संग्रह, 5/11.

चमत्कार को माना है । अतः उसी परंपरा में हम भी स्वीकार करते हैं कि चमत्कार साहित्य का एक परिनिष्ठित और प्रतिष्ठित सम्प्रदाय है, जो सभी संप्रदायों का प्रवर्तक और प्रधान संप्रदाय है ।

प्रथम अध्याय में हम निर्भ्रान्त रूप में ऐसी स्थापना कर चुके हैं कि विस्मय तत्त्व काव्य के सभी आयामों में प्रेरक, सर्जक एवं भोग रूप में विद्यमान रहता है । वहीं विस्मय के पर्याय के रूप में चमत्काार का विस्तृत विवेचन एवं विश्लेषण भी किया जा चुका है । 'चमत्कार' शब्द की दर्शनानुप्राणित एवं व्युत्पत्तिलभ्य अर्थछवियों का संकेत तथा उपलब्धियों का सूत्रात्मक निष्कर्ष भी निकाला जा चुका है किन्तु यहां परिशिष्ट के रूप में कुछ आवश्यक चर्चा द्वारा चमत्कार की अवधारणा का स्पष्ट आकलन करने का पुनः प्रयास किया जा रहा है ।

हम जानते हैं कि चमत्कार शब्द जहां एक ओर आत्म विश्रान्ति, भोग, आस्वाद बुद्धि और आस्वाद की प्रक्रिया से जुड़ा हुआ है, वहीं दूसरी ओर उक्ति के अनूठेपन अथवा काव्य के शोभाकर धर्मों से नीचे उतरता हुआ कौर बौद्धिक व्यायाम तथा शब्दों के इन्द्रजाल को भी अपने अंचल में समेट लेता है । इतना ही नहीं साहित्य से भिन्न क्षेत्रों में भी चौंका देने वाले समस्त वस्तु-व्यापार इसकी परिधि में आ जाते हैं । यही कारण है कि इसकी अर्थविकृति होती गई और परवर्ती विद्वानों की दृष्टि में रसास्वाद से इसका कोई सम्बन्ध नहीं रह गया । यह मात्र वैचित्र्यजनक और कुतूहल का पर्याय हो गया ।[1]

डा० राघवन का विचार है कि 'यह एक विलक्षण संयोग ही है कि रस की अवधारणा के समान ही चमत्कार की अवधारणा भी पाक शास्त्र से प्राप्त

---

1. डा० नगेन्द्र : रससिद्धान्त : पृ० 264.

हुई ।[1] पंडित बलदेव उपाध्याय जी ने भी इसी कथन का प्रायः हिन्दी-रूपान्तर करते हुए लिखा है कि – " रस', 'काव्यपाक' आदि काव्य तथ्यों की धारणा के समान 'चमत्कार' की भावना के लिए भारतीय साहित्यशास्त्र पाक-शास्त्र का ऋणी है । 'रस' और 'पाक' शब्द पाकशास्त्र से ही ग्रहण कर आलोचना शास्त्र में व्यवहृत हुए हैं । साहित्यशास्त्र में चमत्कार के दो प्रसिद्ध अर्थ हैं – आश्चर्य तथा काव्यात्मवाद, परन्तु भाषा-शास्त्र की दृष्टि से चमत्कार ध्वनि निर्मित शब्द है और चटपटी चीज खाने के समय हमलोग अपनी चटपटी जीभ से होठों को चाटते हुए जो चट्-चट् ध्वनि उत्पन्न करते हैं, उसीके अनुकरण पर निर्मित यह चमत्कार शब्द है ।"[2]

किन्तु इसे स्वीकार करना संभव नहीं प्रतीत होता क्योंकि यहाँ जिह्वा और ओष्ठ के संयोगसे उत्पन्न चट्-चट् को 'चमत्' कैसे मान लिया जाय ? फिर आज भी 'गत्वर प्रकाश' या ज्योति के विकिरण को हम 'चमक' कहते हैं । अतः मेरी मान्यता में अभिनवगुप्त की व्याख्या ही अधिक संगत प्रतीत होती है । कि 'चमत्' यह अन्तःस्पन्दनरूप आन्दोलन से उत्पन्न विमर्शस्वरूप अशब्द (अनिर्वाच्य) स्थिति का अव्यक्तानुकरण है ।[3]

---

1. It is striking coincedance that, like the concept of Rasa, the concept of 'Camatkara' also came in the Alamkar sastra from the Paka sastra - some concept to Alamkara sastra. By V.Raghvana, Pages 269-70.

2. भारतीय साहित्यशास्त्र, भाग-2, आ० पं० बलदेव उपाध्याय, पृ० 261.

3. '××× चमदिति वा अन्तस्पन्नस्पन्दोलनोदित परामर्शमयाशब्देनाव्यक्तानुकरणम् ।
— रेनीरो नोली – द एस्थेटिक एक्सपीरियन्स एकार्डिंग टू अभिनवगुप्त : पृ० 72.

हम जानते ही हैं कि जब कोई भी नया संवेदन चेतना से टकराता है, तो ऊर्जा बौद्धिक स्फूर्ति बनकर इस प्रकार सहसा उद्बुद्ध हो उठती है मानों बिजली कौंध उठी हो । इसी आलोक में चेतना क्रमशः सार्वजन्य, समाहार, तादात्म्य, लय एवं विश्रान्ति का अनुभव करती है जिसका स्वरूप आनन्द है, प्रतिक्रिया आह्लाद या चमत्कार है तथा व्यापार रसना या भोग है । अतः 'चमत्कार' एक गतिशील प्रकाश के संवेदन की भाँति मानसिक धरातल को क्षणमात्र में अभिभूत कर लेने वाले आनन्दात्मक अनुभव के लिए अव्यक्तानुकरणात्मक शब्द है । यह जहाँ आनुभूतिक धरातल पर स्वयं-भानता से उत्पन्न आनन्द का बोधक है, वहीं बौद्धिक धरातल पर मात्र कलात्मक वैलक्षण्य एवं शिल्पगत वैचित्र्य का अभिव्यंजक है ।

मेरी इस धारणा की पुष्टि इस तथ्य से भी होती है कि विद्वानों ने सहज रूप से ही अद्भुत शब्द को भी चमत्कार के पर्याय के रूप में स्वीकार कर लिया है । यह अद्भुत शब्द भी अपने व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ में चमत्कार की भाँति एक गत्वर प्रकाशमय सौंदर्य का ही बोधक है ।

हम जानते हैं कि भरत ने नाट्यशास्त्र में मुख्यतः नाट्य रस की चर्चा की है । नाट्य एवं नाट्यांगों के विवेचन में मुख्य आग्रह के कारण वहाँ काव्य के आस्वाद एवं प्रणयन का तत्वानुचिंतन प्रायः उपेक्षित ही रहा है । उसी प्रकार भामह से लेकर दण्डी, वामन, रुद्रट आदि ने काव्य के सौंदर्य को ही उभारने का प्रयत्न किया। चूंकि उस युग का सांस्कृतिक परिवेश मूलतः राजदरबारी रहा अतः उन्होंने मुख्य रूप से बल उक्ति (अतिशयोक्ति, स्वभावोक्ति, वक्रोक्ति) पर दिया तथा काव्य सम्बन्ध शोभाकर धर्म अलंकरण से जोड़ा और वैशिष्ट्य के लिए गुणों की आयोजना की । स्पष्ट था कि इन कलावादियों की दृष्टि में उक्ति का चमत्कार ही श्रेयमय प्रेय था । उन्होंने अलंकार को ही प्रधानता दी और रस को गौणता । रस रसवत् अलंकार बनकर ही प्रतिष्ठा पा सका । कारण स्पष्ट है – कथाप्रधान काव्य (इतिहास या कल्पना युक्त) में नाट्य के समानान्तर सन्धि, सन्ध्यंग, पात्र,

चरित्र आदि की समायोजना की जा सकती है और नाट्य के अभिनेय अंश को पूर्ति वर्णन द्वारा कर के विभावादि सामग्री का आकलन एवं रस का अनुसंधान किया जा सकता है । अतः कथात्मक प्रमाण या संदर्भ में ही रस का अन्वेषण किया जाना संगत भी है और स्वाभाविक भी किन्तु मुक्तक रचनाओं में जहाँ किसी एक परिस्थिति, एक मनःस्थिति और संवेदन के किसी एक क्षण को वाणी दी जाती है, वहाँ आस्वाद का स्वरूप नाट्य एवं कथा काव्य से भिन्न अनिर्वचनीय सा ही बना रहा ।

सहृदयों का अनुभव साक्षी है कि सूक्तियाँ-सूक्तियाँ — कणामृत स्रावण हुआ करती है । वे यह भी अनुभव करते थे कि एक-एक सूक्ति मुक्तक पर सौ-सौ प्रबन्ध निछावर किये जा सकते हैं ।[1] जीवन का अनुभव-विस्तार और व्यापकता यदि एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है तो क्षण एकाग्रतन्मयता एवं तीव्रता का प्रभाव कम नहीं है। रस की धारा काव्य है तो एक घूँट का सीधा आनन्द कम महत्त्व का नहीं है । अतः उस युग की सौंदर्य-तात्त्विक वृत्ति के आधार पर काव्य में वैचित्र्य या वक्रोक्तिमूलक चमत्कार की स्वीकृति हुई और नाटक में रस की प्रतिष्ठा । ध्वनि और वक्रोक्ति सिद्धांत काव्यरस को केन्द्र बनाकर चले तो भट्टलोल्लट, शंकुक तथा भट्टनायक मुख्यतः नाट्यरस की आस्वाद्यता से जूझते रहे । अभिनवगुप्त वह त्रिवेणी हैं जहाँ ध्वनि (लोचन) तथा नाट्य (भारती) दोनों का संगम है ।

भट्टनायक देहरी दीपक हैं अतः उन्होंने जब साधारणीकरण के माध्यम से अतिमानवीय एवं अतिलोकीय पदार्थों के आश्चर्य एवं आलंक को उदात्त एवं आह्लाद में परिवर्तित किया तो 'वैचित्र्य' के साथ 'रम्य' का अनायास ही योग हो गया और रस काव्य-नाट्य दोनों में समान रूप से रूयमान हुआ ।

प्रसंगतः यहाँ सूक्ति मुक्तकों के प्रकारभेद पर भी एक विहंगम दृष्टि

---

1. 'अमरुक कवेरेकः श्लोकः प्रबन्ध शतायते' — सुभाषित ।

डाल लेनी चाहिए । प्रथम वर्ग में वे मुक्तक हैं, जिनमें रस सामग्री के किसी अंश का स्पष्ट रूप से उल्लेख नहीं होता किन्तु उनमें आस्वाद प्राप्त होता है, उसका कारण है अनुक्त होते हुए भी आक्षेप द्वारा उद्दीपन सामग्री का अनुसंधान या मानस साक्षात्कार । दूसरा वर्ग है उन मुक्तकों का जिनमें उद्दीपन आदि सामग्री के अपूर्ण होने पर भी चमत्कार का अनुभव होता है क्योंकि उस एक अंग का सौभाग्य (सौंदर्य) प्रधान रूप से चमत्कृत करता है, ऐसे स्थलों में सामग्री के अभाव के कारण चमत्कार होता है ऐसा मानना ठीक नहीं है । उपर्युक्त दोनों वर्गों को अभिनवगुप्त ने क्रमशः उत्तम और अनुत्तम मुक्तकों की संज्ञा दी है ।[1]

और उसके आगे 'कविनोपनिबद्धैर्नटेन च साक्षात्कारकल्पतामानीतैः' कह कर उन्होंने काव्य और नाट्य की रसानुभूति में एकवाक्यता कर दी है और स्पष्ट कहा है कि रस विभावादि साक्षात्कारात्मक ही होता है ।[2]

ऊपर जिन मुक्तकों की चर्चा हुई है उनमें पाठक कवि की विवक्षा से संकेत प्राप्त करके अपने मनोजगत् में एक प्रबन्ध बना लेता है और उसके माध्यम से रसात्मक आस्वाद प्राप्त करता है ।

तीसरा वर्ग उन मुक्तकों का है, जिनमें कवि बौद्धिक या आनुभूतिक धरातल पर स्थित अपने संवेदनों, अनुभवों आदि की अभिव्यक्ति करता है ।

---

1. "या तु मुक्तकादौ पृथक्तया भावेऽपि रस संवित् तत्रोत्तमत्वे तदनुसंधानाच्चमत्कारः । यत्रत्वनुत्तमादि विषये ऽपरिपूर्णोद्दीपनत्वेन चमत्कारो दृश्यते तत्रैकांगतुपसौभाग्यस्य प्राधान्याच्चमत्कारोदय इति तात्पर्यं न तु तदभाव कृता चमत्कृतिः ।" — हिन्दी अभिनव भारती, पृ० 548.

2. वही, पृ० 549.

यहाँ कवि द्वारा संप्रेषित भाव या विचार कुछ काल के लिए सहृदय हृदय के आवर्जन में पूर्ण समर्थ होते हैं । इनमें जीवन का कोई एक क्षण, संवेदन का कोई एक स्पन्दन और अनुभूति का कोई एक फलक ही प्रस्तुत होता है । दृष्टा के मनोराज्य के प्रतिनिधि में मुक्तक इतिवृत्त या [redacted] संदर्भ के सर्वथा अभाव में भी कुछ ऐसी शिराओं को छू लेते हैं जिनसे भावक अभिभूत एवं विभोर हुए बिना नहीं रह सकता ।

चौथी स्थिति वहाँ होती है, जहाँ कवि की दृष्टि कथ्य पर न होकर अभिव्यक्ति कौशल पर होती है । यहाँ वैदग्ध्य कथ्य को अपूर्व भंगिमा से भर देता है । वाणी का कुशल शिल्प उक्ति को वैचित्र्य एवं आलंकारिकता से दीप्त कर देता है । ऐसे मुक्तकों में कवि का कौशलजन्य आनन्द अनायास ही उच्छलित होकर विलक्षण मनः प्रसाद की सृष्टि करता है । इसके अतिरिक्त पाँचवाँ वर्ग तथ्य एवं विचार के पदार्थ व्यापार एवं प्रभाव आदि को ध्यान में रखकर भी किया जा सकता है जिसके अनेक उपवर्ग संभव हैं ।

अतः यह वर्गीकरण आत्यन्तिक न होकर सांकेतिक है क्योंकि मुक्तकों की विधाओं को ध्यान में रखते हुए अनेक वर्गीकरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं । मुक्तकों में रस की स्थापना के लिए एक ओर तो रस की परिधि का विस्तार किया गया और वह आस्वाद्य के स्थान पर आस्वाद रूप बन गया । वह वस्तु का धर्म न होकर चेतना का धर्म बन बैठा । इस फलक विस्तार का परिणाम यह हुआ कि विभावादि विनिर्मुक्त आस्वाद की स्वयमानता सिद्ध की जा सकी और दूसरी ओर आस्वाद के सौंदर्यबोध को भी अभिहित करने के अनेक प्रयत्न हुए ।

इन आस्वाद के क्षणों में चेतना के तीन आयाम उभरते हैं, जिनमें प्रथम आयाम है, उच्छलन एवं औदात्य का जिसे आनन्द कहा गया, क्योंकि आनन्द शब्द का अर्थ ही है सर्वात्मना समृद्धि (आसमन्तात् नन्दयति संवर्धयति इति आनन्दः) होना । दूसरा आयाम अभिभूति या विसंज्ञ विभोरता का है,

जिसे आह्लाद शब्द से व्यक्त किया गया । तीसरा और प्रमुख आयाम है स्फूर्ति या स्पन्दन का जिसमें योगावेश चेतना का विस्तार करता है उसे चमत्कार कहते हैं । इस प्रकार चमत्कार सौंदर्य तात्त्विक दृष्टि से सौंदर्य बोध का सर्वोत्तम औपनिषदिक अभिधान है । इसके माध्यम से आस्वाद की प्रकृति, उसके अनुभूत रूप तथा अन्य सुखात्मक या प्रीतिरूपात्मक संवेदनों से इसके पार्थक्य बोध का प्रश्न भी हल हो सकता है ।

यहीं इस मर्मज्ञ सहृदयों एवं आचार्यों से क्षमा माँगते हुए हम अपनी इस धारणा को दुहरा देना आवश्यक समझते हैं कि भरत निरूपित अथवा अन्य आचार्यों द्वारा पोषित 'रस' सभी प्रकार के काव्यों में नहीं होता जबकि आस्वाद सर्वानुभूत सत्य है अतः यह आवश्यक है कि हम एक ऐसे तत्त्व का अनुसंधान करें जिसमें रसात्मक रचनाएँ भी समाहित हो जायें और रसेतर (शुद्ध सांप्रदायिक अर्थ में) रचनाओं के साथ भी न्याय हो सके । इस सम्बन्ध में मेरा मत है कि चमत्कार की अवधारणा को स्वीकार कर लेने पर सारी विसंगतियों का स्वतः शमन हो जायेगा और सभी प्रकार के काव्यों की आस्वाद्यता के लिए एक परिनिष्ठित आलोचनात्मक मानदण्ड प्राप्त हो सकेगा । यही एक ऐसा मानदंड होगा, जिसमें रसध्वनि से लेकर चित्रकाव्य तक का समाहार हो सकेगा ।

हाँ एक कठिनाई यह है कि पिछले सैकड़ों के आचार्यों ने 'चमत्कार' शब्द की बड़ी दुर्दशा की है अतः या तो विवेचना तथा अभिनव प्रयोगों द्वारा उसके मूल अर्थ में उसकी पुनः प्रतिष्ठा करनी होगी अथवा भ्रान्तियों से बचने के लिए विश्वनाथ द्वारा स्वीकृत 'विस्मय' को मान्यता देनी होगी । इसीलिए मैंने भी विस्मयतत्त्व को ही मूल रूप में स्वीकार किया है किन्तु चमत्कार को स्वीकार करने में भी मुझे कोई आपत्ति नहीं दीखती ।

यों तो आनन्द, चमत्कार एवं रस के समीकरण के रूप में चमत्कार का प्रयोग अग्निपुराण में भी प्राप्त होता है, किन्तु न तो उसकी प्राचीनता एवं प्रामाणिकता प्रतिष्ठित हो सकी है और न मूल रूप में वह साहित्यशास्त्रीय ग्रन्थ है ।

अतः आ० आनन्दवर्द्धन ही वे प्रथम आचार्य हैं, जिन्होंने ध्वन्यालोक में चमत्कार शब्द का काव्यशास्त्रीय सौंदर्य तात्विक निकष के रूप में प्रयोग किया है । वे प्रत्यभिज्ञा शैव संप्रदाय के अनुयायी हैं और उनकी ध्वनि प्रस्थापना सांयोगिक न होकर सोद्देश्य है ।

शैवाद्वैत की दृष्टि से परम शिव ही एकमात्र परमतत्व है । वे अद्वैत, निर्विकार, शुद्ध सच्चिदानन्दस्वरूप हैं । जगत की सृजनेच्छा से प्रेरित होने पर शिवशक्ति का उन्मेष होता है । शिवप्रकाश रूप हैं और शक्ति विमर्श-रूपिणी है । विमर्श का अर्थ है पूर्ण अकृत्रिम अहं की स्फूर्ति । अहमंश के ग्राहक शिव हैं और इदमंश ग्राह्य स्वरूप शक्ति का स्वरूप है । अतः जिस प्रकार समस्त जागतिक प्रपंचों में (इदमंश में) अहमंश की उपलब्धि काम्य है, उसी प्रकार समस्त वैचित्र्य वलित साहित्य में से अर्थ रूप शम्भु की प्राप्ति आवश्यक है । ध्वन्यालोक के अध्यायों का नाम 'उन्मेष' तथा अर्थ तत्व की प्रकाश रूपता के लिए 'ध्वन्यालोक' के नामकरण ही इस कथन के साक्षी हैं । यदि अभिधा विधात्मक रूप है तो व्यंजना परमशिव का विधोत्तीर्ण रूप है । अतः शब्द ब्रह्म की उपासना करने वाले आचार्य आनन्दवर्द्धन ने ध्वनितत्व की प्रतिष्ठा की किन्तु समीक्षा के धरातल पर परंपरा से स्वीकृत शब्दों का पूर्वग्रह-मुक्त प्रयोग करते रहे । परिणामतः हम देखते हैं कि सौंदर्य के लिए उन्होंने ध्वन्यालोक में शोभा, छाया, रमणीयता, कामनीयक, अतिशयता, लावण्य, छवि आदि शब्दों का प्रयोग किया है । अलंकार संप्रदाय द्वारा गृहीत चारुत्व का तो लगभग पचास बार प्रयोग हुआ है । इसी प्रकार मनः प्रीति और आह्लाद जैसे सौंदर्य बोधात्मक शब्दों का प्रयोग भी परंपरा के अनुसार ही हुआ है । उन्होंने चमत्कार शब्द का प्रयोग केवल दो बार किया है —

(।) इति काव्यार्थ विवेको यो यं चेतश्चमत्कृति विधायी ।
सूरिभिरनुसृत सारै स्मदुपज्ञो न किमार्यः ।।[1]

---

1. ध्वन्यालोक :

(2) 'यदपि तदपि रम्यं यत्नलोक्ष्य किंचित्
स्फुरितमिदमितीयं बुद्धि रभ्युज्जिहीते ।
स्फुरणेयं काचिदतिसहृदयानां चमत्कृतिमुत्पादयते ।।'[1]

इनमें से प्रथम अंश की प्रामाणिकता के विषय में विद्वानों में मतभेद है यद्यपि वह कारिका का अंश है । दूसरा वृत्ति अंश है जो लगभग ग्रन्थ की समाप्ति के पास लिखा गया है । ऊपर जैसा विश्लेषण किया गया है, उससे यह सिद्ध हो चुका है, कि आनन्दवर्द्धन साहित्यशास्त्रीय निर्वचन में यथासंभव दार्शनिक संप्रदायवादी पारिभाषिकों को बचाते रहे हैं । ऐसी स्थिति में यह भी संभव है कि उक्त कारिका में 'स्फुरितम्' जैसे स्पन्दशास्त्रीय शब्द के विवेचन के लिए यह टिप्पणी भी किसी अन्य आचार्य की हो और यह अंश भी प्रक्षिप्त हो परन्तु ऐसा मानने का कोई कारण नहीं दिखाई पड़ता जबकि अभिनवगुप्त अपने 'लोचन' में इस अंश की भी व्याख्या करते हैं । अतः आनन्दवर्द्धन ही साहित्य-शास्त्र में चमत्कार की अवधारणा के प्रयोक्ता हैं । हां, यह तो स्पष्ट ही है कि दोनों ही अंश ग्रन्थ के उत्तरार्द्ध या अन्त में आये हैं । अतः लगता है कि विदग्ध गोष्ठियों में चमत्कार की चर्चा ध्वन्यालोक की समाप्ति के लगभग प्रारंभ हुई होगी ।

वामन ने यद्यपि काव्यालंकार सूत्र में काव्यानन्द के उपलक्षक तत्त्व के रूप में 'चमत्कार' का प्रत्यक्षतः उल्लेख नहीं किया है, किन्तु काश्मीरक होने के कारण वे चमत्कार शब्द से एवं उसकी सौन्दर्य बोधात्मक अवधारणा से अपरिचित नहीं है । तृतीय अधिकरण के प्रथम अध्याय में वाग्देवी की वन्दना करते हुए उन्होंने लिखा है कि (काव्य) कृतियों में विलास को प्राप्त होती हुई वैचित्र्य से संवलित एवं मनोहर चमत्कार से परिपूर्ण काव्यतत्त्व के गुणों का विस्तार प्रस्तुत कर रहा हूँ (स्तुति कर रहा हूँ)।[2] यहां चेतोहर का संकेत मनःसंवाद,

---

1. ध्व०लो० : कारिका 4/16 और उसकी वृत्ति ।
2. 'देव्याः कृतिषु दीव्यन्त्या वाचां वैचित्र्य कारिणीम् ।
चेतोहरचमत्कारं प्रस्तौमि गुणविस्तृतिम् ।।' —अधि03, अ0-1, मंगलाचरण ।

तादात्म्य, लय, समापत्ति की स्थिति से है और चमत्कार का उस दशाविशेष से प्राप्त होनेवाले आह्लाद से । उनकी उपास्यादेवी वास्तव में चन्द्रमा की भाँति आगामयी 'उक्षित ज्योति'[1] स्वरूपा है, जिनके नैसर्गिक सौंदर्य के सम्मुख चमकते हुए मौक्तिक आभूषण फीके पड़ जाते हैं[2] और अमृतरस के निष्यन्द सा जिनका सौंदर्य प्रवाह मणियों के वैचित्र्य से संवलित होकर तारकित ज्योत्स्ना के समान प्रतीत हो रहा है ।[3]

कहने की आवश्यकता नहीं है कि वामन की दृष्टि में 'उक्षित ज्योति' का प्रधान स्वरूप है अमृत-रस-निष्यन्दी-नैसर्गिक-सौन्दर्य-प्रवाह जो 'चेतोहर चमत्कार स्वरूप है और दूसरा स्वरूप है वैचित्र्यधारिणी का, जो मौक्तिक एवं मणियों से संवलित है, तथा ज्योत्स्ना में तारागणों का विभ्रम उत्पन्न करने वाला है । अतः रूपमानता को स्वीकार करते हुए भी वामन उक्षित को चमत्कार से मंडित करने के पक्षपाती हैं इसमें संदेह नहीं, ।

कालक्रम की दृष्टि से आचार्य कुन्तक चमत्कार तत्त्व के प्रथम समर्थ प्रवक्ता हैं जिन्होंने चमत्कार को काव्य निकष के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया । मैं तो इन्हें ध्वनि प्रस्थापन परमाचार्य की भाँति साहित्यार्थ सुधासिन्धु के सार समुन्मीलक[4] अथवा चमत्कार प्रस्थापन परमाचार्य की उपाधि से विभूषित करना चाहता हूँ ।

---

1. 'उत्खेडितनमस्तोममुपेयमुपरिश्रुतेः ।
उदीचीरूपमाभिन्दोरुक्षितज्योतिमुपास्महे ।।'—अधि04, अ02, मंगलाचरण ।

2. 'निज सौंदर्यनिर्धौत स्फुरन् मौक्तिक भूषणा ।
प्रसाद विशदालोका शारदावरदास्तु मे ।।' — अधि04, अ0-1, मंगलाचरण ।

3. 'सुधास्रोते सुषमा प्रवाहे मुक्तायमानैर्मणिभिर्वीचित्रैः ।
ज्योत्स्नेव तारागिरलंकृतामे सा शारदा वेतसि सन्निधत्ताम् ।।—अधि04, अ03, मंगलाचरण ।

4. 'साहित्यार्थसुधासिन्धोः सारमुन्मीलयाम्यहम् ।
— हिन्दी वक्रोक्ति जीवित : वृत्तिकारिका 1/4, पृ0 4.

यह कुछ विचित्र संयोग ही है कि समान दार्शनिक पृष्ठभूमि में लगभग समानान्तर ही साहित्य शास्त्र के दो सिद्धान्तों का उदय हुआ। आनन्दवर्द्धन ने शक्ति के परिस्पन्द स्वरूप काव्य में प्रतीयमान रूप से व्याप्त अर्थतत्त्व की व्यक्ष्यमानता का उन्मीलन किया तो कुन्तल ने शक्ति और शक्तिमान में अभेद[1] की मान्यता के आधार पर शक्ति के परिस्पन्द में सौष्ठित्यपूर्ण साहित्य के समतोल (अन्यून-अनतिरिक्त)[2] मनोहर अवस्थान में किसी अनिर्वचनीय शोभा का आकलन किया जो शिव शक्ति सामरस्य की ही गति 'तत्त्व' और 'निर्मिति' के साहित्य का आनन्दमय अधिष्ठान है। उन्होंने स्वयं कहा है कि यह साहित्य काव्यतत्त्वज्ञों को आनन्दित करनेवाला स्वभाव से ही रमणीय कोई विलक्षण[3] अवस्थान है जो पदादि रूप में प्रस्पन्दशीला वाग्देवी के विलास का सारतत्त्व है।[4] उन्होंने अनुभव किया कि जिस प्रकार अनन्त वैचित्र्य वलित जागतिक प्रपंच में 'मयूरण्ड रस न्यायेन' शक्तिमान शिव के परिस्पन्द का समाकलन सामरस्य एवं तज्जन्य आनन्द की सृष्टि करता है, उसीप्रकार साहित्य जगत में भी अमृत रस निष्यन्दी काव्य के आस्वाद-परामर्श के क्षणों में रसास्वादजन्य चमत्कार (एवं तज्जन्य भोगावेश) अपनी परिपूर्णता में चित्त विस्तारकारी होता है[5] क्योंकि समस्त वाङ्मय में काव्य ही एक ऐसी विधा है जिससे अध्ययन के समकाल में ही कमनीय चमत्कृति प्राप्त होती है।[6] अतः सिद्ध है कि काव्य की साधना

---

1. 'शक्तिशक्तिमतोरभेदात्' वि०व०जी०, पृ० 99.
2. 'साहित्यमनयोः शोभाशालितां प्रतिकाप्यसौ।
   अन्यूनानतिरिक्तत्व मनोहारिण्यवस्थितिः।।'—वही, 1/17, पृ० 57.
3. 'परस्परस्पर्धीत्स्वरमणीय' —वही, पृ० 57 अथवा 'परस्परस्पर्धि सुभगावस्थान' वही, पृ० 58.
4. 'सा काव्यस्थितिरेतद्विदानन्ददस्पन्दसुन्दरा।
   पदादिवाक् परिस्पन्द सारः साहित्यमुच्यते।।'—वि०व०जी०, वृत्तिश्लोक। /36, पृ० 59.
5. ××× ××× तद्विदाम्।
   काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो विधीयते।'—वही 1/5 तथा 'चमत्कारो विधीयते चमत्कृतिः विस्तार्यते। हृलादः पुनः पुनः क्रियते।— वही, वृत्ति, पृ० 14.
6. ××× तत्कालकल्पित कमनीय चमत्कृतेः काव्यस्य ×××। वही, वृत्ति, पृ० 15.

भी चमत्कारजनक है उपासना भी और परिणति भी । उन्होंने अपने ग्रन्थ का प्रयोजन भी लोकोत्तर चमत्कार ही बतलाया है क्योंकि वक्रोक्ति से वैचित्र्य की सिद्धि होती है, जो लोकोत्तर चमत्कार का जनक है[1] यह चमत्कार गंभीर-परिपूर्ण आनन्द का बोधक है, जिसमें चेतना को पूर्णतः निमग्न करने की क्षमता है ।

यह तो सर्वविदित है कि – कुन्तक वक्रोक्ति को काव्य का जीवित-जीवनाधायक तत्त्व-मानते हैं किन्तु वह स्वयं में साध्य न होकर उस आनन्द का साधन है, जिसका तात्त्विक रूप चमत्कार है । अतः उन्होंने वैचित्र्य, चारुत्व, शोभा, विच्छित्ति जैसी परंपरा से प्रतिष्ठित सौंदर्य तात्त्विक अवधारणाओं के साथ ही चमत्कार का भी उन्मुक्त प्रयोग किया है और सबसे विचित्र बात यह है कि उन्होंने चमत्कार और अद्भुत को पर्याय के रूप में स्वीकार किया है ।[2] यहां स्मरण दिलाने की आवश्यकता नहीं है कि धर्मदत्त द्वारा उल्लिखित तथा नारायण पंडित सम्मत 'अद्भुत' यही 'अद्भुत तत्त्व' है न कि 'अद्भुत रस', जैसा कि भ्रमवश मान लिया गया है और प्रतिभा के संरंभ से 'अद्भुत' को रसराज सिद्ध करने का व्यर्थ प्रयत्न किया गया है ।

---

1. 'लोकोत्तर चमत्कारकारि वैचित्र्य सिद्धये'
   –हि०व०जी०, 1/2, पृ० 7.

2. (क) यथानर्त्थं विवेच्यन्ते भावास्त्रैलोक्य वर्तिनः ।
   यदितत्राद्भुतं नाम दैवस्वनाहि किंशुकाः ।। वही, वृत्तिश्लोक 2, पृ० 3.
   (ख) तद्विदामद्भुतामोद चमत्कारं विधास्यति । –वही, ,, 15, पृ० 4.
   (ग) ऊनूनुतनोल्लेख रसालंकरणोज्ज्वलः ।
   वहनाति वक्रतोद्भेदवर्गगीभुत्पादितादभुताम् ।।–वही 4/8, पृ० 421.
   उत्पादितादभुताम् कन्दलितकुतूहलाम् – वही वृत्ति
   (यहां प्रथम में वैचित्र्य अर्थ में, दूसरे में लोकोत्तर चमत्कार के लिए तथा तीसरे में कुतूहल या विस्मय के लिए अद्भुत का प्रयोग है) ।

आनन्दवर्द्धन ने ध्वनि के माध्यम से रस को नाट्य के समानान्तर काव्य में प्रतिष्ठित कर दिया किन्तु कुन्तक ने विचार किया कि जब तक नाट्य एवं काव्य का समीकरण नहीं होता तब तक नाट्यरस के काव्यरस में रूपान्तरण की सम्यक् प्रतिपत्ति संभव नहीं । एतदर्थ उन्होंने सरस्वती की वन्दना के रूप में नाट्य एवं काव्य का समीकरण किया । उन्होंने कहा कि "मैं कवीन्द्रों के मुखरूपी लास्य मन्दिर (नाट्यशाला) में नृत्य करनेवाली तथा सूक्तियों के विलास रूप अभिनय के कारण विकासमान धवलिमा से सुशोभित वाग्देवता की वंदना करता हूँ ।"[1] स्पष्ट है कि जिस प्रकार नाट्य में लास्य एवं अभिनय के द्वारा अनुभावादि की अभिव्यक्ति तथा रस की निष्पत्ति होती है, उसी प्रकार वक्रोक्ति द्वारा काव्य में भी नृत्य एवं अभिनय जैसी विच्छित्तिपूर्ण भंगिमा होती है, जिसके कारण काव्य रूयमान होता है । नाटक में रसास्वाद सहृदय का अंश है किन्तु उसे नट का अभिनय ही सांगोपांग पूर्ण करता है उसी प्रकार काव्य में भी रसास्वाद भावक का अंश है किन्तु कवीन्द्रों की उक्तिवक्रता अपने लास्य एवं अभिनय से रसात्माओं को तृप्त करती है ।

दूसरी बात नाट्य के विभावादि के समानान्तर ही काव्य के तत्त्वों के उन्मीलन की है । एतदर्थ उन्होंने 'साहित्यसुधा सिन्धु' का मंथन करके 'सारतत्त्व का उन्मीलन' किया और वह था 'तत्त्व' और 'निर्मिति' । ये दोनों तत्त्व स्पन्दशास्त्रीय शिव और शक्ति के ही प्रतिरूप थे ।

---

१. वन्दे कवीन्द्रवक्त्रेन्दु लास्यमन्दिरनर्तकीम् ।
देवीं सूक्ति परिस्पन्दसुन्दराभिनयोज्ज्वलाम् ।। — कि०व०जी० १/१, पृ० ५.
(इसका शैव सांप्रदायिक अर्थ इस प्रकार होगा । कवीन्द्र (परमशिव के वक्त्रेन्दु रूप (विश्वात्मक शिव) की नाट्यशाला (जगत) में अपने परिस्पन्दों के सुन्दर अभिनय से शृंगारिणी (वैखरी रूप) अनन्त विच्छित्ति शोभिता) वाग्देवी की वन्दना करता हूँ ।)

अतः उन्होंने स्थापना की कि 'तत्त्व' और 'निर्मिति' का द्वैताद्वैत विलक्षण साहित्य कवि की प्रतिभा के विलास से अनन्त सूक्ति परिस्पन्दों के रूप में अभिजात सहृदयों को अद्भुत आमोद (रंजकत्व धर्म)[1] के चमत्कार से परिपूर्ण करने वाला है ।[2] कारण यह है कि तत्त्व की विच्छित्ति से निर्मिति का वैचित्र्य एवं निर्मिति के वैचित्र्य से तत्त्व की चारुत्वमयी अभिव्यक्ति दोनों ही अपनी आत्माद्वयता से सहृदय हृदय में अलौकिक चित्त चमत्कार उत्पन्न करते हैं । रस की आह्लाद जनकता को पूरी तरह से स्वीकार करते हुए भी मैं ऐसा विश्वास करता हूँ कि कुन्तक द्वारा प्रदिष्ट तत्त्व-निर्मिति जन्य आह्लाद की अवधारणा काव्य आस्वाद की समस्या को सुलझाने में कहीं अधिक व्यापक समर्थ एवं संगत आधार है । इस अवधारणा में काव्य के सभी पक्षों का आस्वाद समा जाता है और नाट्यरस की तुलना में काव्य रस का व्यावर्तक धर्म भी सुलभ हो जाता है क्योंकि काव्य रस (विशेषतः मुक्तक) विभावादि पर आश्रित न होकर तत्त्व और निर्मिति पर ही प्रतिष्ठित है ।

कुन्तक का दर्शन द्वैत के लोलीभाव में ही अद्वैत की सिद्धि मानता है । अतः उनके शास्त्रीय विवेचन में दृक्-दृश्यों के 'परस्पर स्पर्द्धित्व रमणीय' सह अस्तित्व के दर्शन होते हैं । यहाँ शिव और शक्ति, शब्द और अर्थ, तत्त्व और निर्मिति, वैचित्र्य और चमत्कार, कवि और सहृदय आदि का सह अस्तित्व है । वैचित्र्य का अर्थ है रमणीयता से विशिष्ट होना ।[3] और चमत्कार का

---

1. 'आमोदः सुकुमार कवि धर्मो रंजकत्वं नाम'
   — वि०व०जी०, वृत्ति, पृ० 95.
2. 'येनाद्वितयमप्येततत्त्वनिर्मिति लक्षणम्।
   तद्विदामद्भुतामोद चमत्कार विधास्यति ।।'
   — अन्तर श्लोक 1/5, वि०व०जी०, पृ० 4.
3. 'रामणीयक विशिष्टो विचित्र इत्युच्यते'
   — वही, वृत्ति पृ० 100.

आस्वाद एवं आह्लादजनकता है ।[1] चूंकि वैचित्र्य कवि व्यापार की उपलब्धि है और चमत्कार सहृदय की उपलब्धि है, अतः कवि एवं सहृदय की समतोल महिमा ही कुन्तक के आचार्यत्व का रहस्य है । अतः वक्रोक्ति जीवित को केवल कविमुख से काव्य-विवेचक ग्रन्थ माननेवालों को अपनी सम्मति में संशोधन कर लेना चाहिए ।

हाँ तो कुन्तक ने तत्त्व एवं निर्मिति के सौंदर्य को कवि एवं सहृदय दोनों से समन्वित करके देखा है । एतदर्थ उन्हें प्रत्येक स्तर पर अपने मौलिक चिंतन द्वारा संस्कार एवं परिष्कार करना पड़ा है । फल यह हुआ कि उन्होंने रीतियों(मार्गों) को देश के अंश से मुक्त करके कवि के स्वभाव के अंश से जोड़ दिया । कवियों के स्वभाव की प्रमुखता की दृष्टि से उन्होंने सुकुमार विचित्र और मध्यम नामक तीन मार्गों की स्थापना की ।[2] इन तीनों की दृष्टि से जिन चार सामान्य गुणों की उन्होंने स्थापना की उनके नाम तो समान हैं, किन्तु प्रत्येक मार्ग में उनकी प्रवर्तना का स्वरूप बदल जाता है । परंपरा प्रसिद्ध ओज माधुर्य एवं प्रसाद में से उन्होंने प्रसाद एवं माधुर्य को स्वीकार किया । ओज का परित्याग कर दिया । लावण्य एवं आभिजात्य नामक दो नूतन गुणों की उद्भावना की ।[3]

---

1. (क) 'सस्सः सास्वादः स चमत्कृतिः ।
   (ख) 'चमत्कारो विस्तार्यते, ह्लादः पुनः पुनः क्रियते इत्यर्थः । — हिन्दी वक्रोक्ति जीवित, वृत्ति, पृ० 14.
2. 'संप्रतितत्र ये मार्गाः कवि प्रस्थान हेतवः ।
   सुकुमारो विचित्रश्च मध्यमश्चोभयात्मकः ।।'
   — वही, 1/24, पृ० 96.
3. वही, उन्मेष 1, कारिका 30–52 तक ।

नाट्यशास्त्र में लावण्य माधुर्य आदि नायिकाओं के अयत्नज अलंकार के रूप में प्रयुक्त हुए थे, अतः उनका काव्यगुण में रूपान्तरण एक आवश्यक प्रतिक्रिया थी । जब आनन्दवर्द्धन ने प्रतीयमान अर्थ के लिए अंगना (कल्याणमय अंगों वाली) के 'प्रसिद्धावयववातिरिक्त'[1] लावण्य बात की तो अनायास ही काव्यास्वाद के विवेचन के लिए नारी सौंदर्य का रूपक उभर आया । परिणामतः रमणी में ओज को अनपेक्षित मानकर उसके स्थान पर लावण्य को स्वीकार कर लिया गया । आभिजात्य उस युग की दरबारी संस्कृति से प्राप्त हुआ । प्रसाद स्वभावगत प्रसन्नता का बोधक है । माधुर्य एवं लावण्य में शारीरिक संघटना से लेकर व्यक्तित्व के आकर्षक पक्ष तक का उद्घाटन हो जाता है साथ ही आभिजात्य गुण उन्हें कुलटा एवं गणिका होने से बचा कर ऊपर उठा देता है ।

इसके अतिरिक्त दो विशेष गुण और कल्पित किये गये हैं — (1) औचित्य, (2) सौभाग्य ।[2] औचित्य का महत्व कालान्तर में इतना बढ़ा कि वह एक स्वतंत्र प्रस्थान बन गया अतः उसके चमत्कार की चर्चा क्षेमेन्द्र के साथ की जायेगी । यहाँ इतना ही संकेत पर्याप्त है कि यदि वह नारी में आचार और संतुलित व्यवहार का बोधक है तो काव्य में तत्व एवं निर्मिति के उचित विन्यास का ।

जहाँ तक सौभाग्य गुण का प्रश्न है, मैं इसे कुन्तक की महत्तम उपलब्धि मानता हूँ । उनका सौभाग्य गुण सहृदय की दृष्टि से अत्यन्त महत्व-पूर्ण है । वे जानते थे कि समस्त गुणों से युक्त नारी का शृंगारित रूप तभी सार्थक

---

1. 'प्रतीयमानं पुनरन्यदेवास्त्यवस्तु वाणीषु महाकवीनाम् ।
यत्तत्प्रसिद्धावयववातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवांगनासु ।।
— ध्वन्यालोक, 1/4.

2. हिन्दी वक्रोक्ति जीवित, उन्मेष-1, कारिका 53–56 तक ।

और सौंदर्य मंडित होता है जब वह सुहागिन हो क्योंकि सौभाग्यवती नारी का ही सौंदर्य सार्थक है । 'प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता'[1] । इसी प्रकार काव्य के सारे प्रसाद, माधुर्य आदि गुण तब तक व्यर्थ हैं, जब तक सहृदय उन्हें अपना कंठहार नहीं बनाते । जब तक विदुषानों (सहृदयों) का परितोष नहीं होता तब तक रचना का कोई मूल्य नहीं,[2] चूंकि उनके सहृदय अभिजात हैं अतः सौभाग्य को वे औचित्य के अनुकूल ही स्वीकार करेंगे । आभिजात्य समस्त दोषों से रहित होता है । अतः काव्य में यह गुण दोषों के निराकरण की ओर भी संकेत करता है । न तो वे 'दुर्भगाभरण' को उचित मानते हैं न 'अर्थालंकाररहितताविधवैव सरस्वती' की बात स्वीकार कर सकते हैं ।

सौभाग्य उनकी दृष्टि में कवि की प्रतिभा के संग के परिणामस्वरूप उत्पन्न चित्त को चमत्कृत करनेवाला तत्व है[3] वह (काव्य सर्जनानुकूल) समस्त सम्पत्ति के परिस्पन्द से सिद्ध किये जाने योग्य सरस हृदयवालों के अलौकिक चमत्कार का जनक सौभाग्य नामक गुण काव्य का एकमात्र प्राणतत्व है ।[4] यही तत्व नाना प्रकार के मनोहर कारण समुदाय से उत्पन्न सौन्दर्य वाला पद, वाक्य, प्रकरण एवं प्रबन्धों में पृथक्-पृथक् विद्यमान केवल सहृदयों द्वारा अनुभव किया जाने वाला काव्य का एकमात्र जीवन अलौकिक चमत्कारकारी आनन्द से संवलित अनेक रसों के आस्वाद से रमणीय सौभाग्य नाम का कोई अनिर्वचनीय गुण है, जो काव्य के समस्त अंगों में व्यापक रूप से प्रकाशित होता है ।[5] काव्य बन्ध

---

1. कुमार संभव : कालिदास ।
2. 'आपरितोषाद् विदुषाम् न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्'—अभिज्ञान शाकुन्तलम् 1/2.
3. 'सौभाग्यं प्रतिभा संग फल भूतं चेतन चमत्कारित्व लक्षणम्'-हि०व०जी०, पृ०93.
4. सर्वसंपत्परिस्पन्दसंपाद्यं सरसात्मनाम् ।
   अलौकिकचमत्कारकारि काव्यैकजीवितम् ।।—वही, 1/56, पृ० 161.
5. 'सौभाग्यमपि पद-वाक्य-प्रकरण-प्रबन्धानां प्रत्येकमनेकाकार कमनीय-काव्य-कलाप-कलित-रामणीयकानां किमपि सहृदय-हृदय-संवेद्यं काव्यैकजीवितमलौकिकचमत्कार कारि, संवलितानेक रसास्वाद सुन्दरं सकलावयवव्यापकत्वेन काव्यस्य गुणान्तरं परिस्फुरति ।'
   — हि०व०जी० वृत्ति, पृ० 167.

में सौभाग्य एवं लावण्य गुण का सम्यक् परिपोष होता है,[1] जिससे सहृदय आह्लादित होते हैं ।[2]

कुन्तक अर्थतत्व की महिमा से भी पूर्ण परिचित है और उसकी आस्वाद्यता एवं तज्जन्य चमत्कार के पक्षपाती हैं । वे अर्थ को 'सहृदय श्लाघ्य' न मानकर अपने ही उच्छलन में सुन्दर सहृदय हृदयाह्लादकारी तत्व मानते हैं। उस अनुभवैक गम्य अद्वैततत्व में भेद प्रतिपादन भी अनुचित है क्योंकि जिस प्रकार जगत शिव की सिसृक्षा का परिणाम है, उसी प्रकार काव्य कवि की विवक्षा का । दोनों में इच्छाशक्ति का चमत्कार दृष्टिगत होता है । अनन्त पर्यायवाची शब्दों के रहते हुए भी वक्तृप्रतिभा से अनुप्रेरित विशिष्ट शब्द ही काव्य है और उसमें रहनेवाला सहृदयाह्लादकारी तत्व अपने स्वभाव से ही सुन्दर होता है ।[3] कवि की विवक्षा के आधीन होकर अभिधेयता को प्राप्त अर्थ विशेष प्रतिपादक शब्द द्वारा अभिधीयमान होकर चमत्कारकारी होता है[4] किन्तु अर्थ की पर्यालोचना किये बिना भी वाक्य विन्यास जन्य सौंदर्य रूप संपदा के द्वारा काव्य संगीत की भाँति सहृदयों को आह्लादित करता है ।[5] तात्पर्य यह है कि जैसे शर्करा

---

1. वाक्यवाचक सौभाग्यलावण्य परिपोषकः ।
   व्यापारशाली वाक्यस्य विन्यासो वक्र उच्यते ।।—वि०व०जी० 1/22, पृ० 93.
2. 'काव्यवक्रोऽभिजातानां हृदयाह्लादकारकः' — वही, 1/3, पृ० 10.
3. 'शब्दो विवक्षितैकार्थवाचकोऽन्येषु सत्स्वपि ।
   अर्थः सहृदयाह्लादकारि स्वस्पन्दसुन्दरः ।।'—वही, 1/9, पृ० 34.
4. 'विवक्षा विधेयत्वेनाभिधेयता पदवीमवतरन्तत्तथाविधविशेषप्रतिपादन समर्थै-
   नाभिधाने नाभिधीयमानाश्चेतन-चमत्कारितामापद्यन्ते ।'
   — वही, पृ० 38.
5. 'अपर्यालोचितेऽप्यर्थे वक्र सौन्दर्य सम्पदा ।
   गीतवद् हृदयाह्लादं तद्विदां विदधाति यत् ।।'
   — वही, अन्तरश्लोक, पृ० 61.

परिस्पन्द रूप जगत में शिवतत्व के जाने बिना भी लोग आह्लादित होते हैं, उसीप्रकार काव्य में भी कवियों की अपूर्व साहित्यिक उक्तियों का रसास्वाद न कर सकने वाले भी केवल उक्ति चमत्कार से चमत्कृत होते हैं।[1] मृग की भाँति केवल मूर्च्छना मात्र से विभोर हो जाने वाले अर्थतत्व की चिंता ही कब करते हैं।[2] इसका कारण है अभिनव ग्रन्थ-सौन्दर्य जो अनुभूयमान महत्त्वपूर्ण अभिव्यक्ति के कारण चमत्कारकारी हो जाता है।[3] इसमें जो सहृदयों को चमत्कारी अर्थतत्व प्राप्त होता है वह प्रतिभा देवी की कृपा से।[4]

अन्त में इतना कह देना अत्यन्त आवश्यक है कि कुन्तक का यह लोकोत्तर चमत्कार रूप तद्विदाह्लादकारित्व अर्थ शब्द एवं वक्रोक्ति इन तीनों के उत्कर्ष से प्राप्य होकर भी इनसे भिन्न कोई अनुभवैकगम्य अनिर्वचनीय तत्त्व है, जो अपने आमोद(ऋतु का सुकुमार रंजकत्व धर्म) से रमणीय होता है।[5] अतः कुन्तक चमत्कार प्रस्थापन के प्रथम आचार्य हैं इसमें संदेह नहीं।

---

1. 'ते केचिद् स्खलित ग्रन्थनव ग्रन्थ संधान बन्धुरगिरः कवयो जयन्ति।
येषामचर्वितरसापि चमत्करोति कर्णे कृतापि मणितिर्मधुरा सुधेव ।।
— स्तुति कुसुमांजलि, जगद्धर भट्ट 5/5.

2. शब्दार्थ मात्रमपि येन विदन्ति तेऽपि यां मूर्छनामिव मृगाः श्रवणैः पिबन्तः । — वही, 5/17.

3. कविनानूतनत्वेन यदुल्लिखितं तदतीवप्रतीयमानमहत्त्वव्यक्तिपरत्वेन चमत्कारिता-मापद्यते । — हिन्दी वक्रोक्ति जीवित, पृ० 137.

4. प्रतिभादैचित्र्य वशेन किमपि तद्विदाह्लाद कारित्वमुन्मीलितम् —
— हिन्दी वक्रोक्ति जीवित, पृ० 95.

5. वाच्यवाचक वक्रोक्ति त्रितयातिशयोत्तरम् ।
तद्विदाह्लादकारित्वं किमप्यामोदसुन्दरम् ।।
— वही, 1/23, पृ० 94.

परम माहेश्वर अभिनवगुप्त प्रत्यभिज्ञा शैव सम्प्रदाय के शंकराचार्य हैं । उन्होंने अपनी सांप्रदायिक दृष्टि से काव्य नाट्य के आस्वाद से उत्पन्न आनन्द (रस) की विवेचना करके यदि दर्शन को साहित्य की माधुरी से मंडित किया तो साहित्य को एक अभिनव दर्शन (दृष्टि) प्रदान कर प्रतिष्ठित बना दिया । चमत्कार तत्व के आख्याता एवं भाष्यकार के रूप में अभिनव का महत्त्व अक्षुण्ण है । कुन्तक ने चमत्कार के महत्त्व को समझ कर उसका निकष के रूप में प्रयोग तो किया किन्तु अनुभूति के विभिन्न धरातलों पर चमत्कार की सौन्दर्य तात्त्विक अन्वीक्षा अभिनव की देन है ।

यों तो प्रथम अध्याय में हम अभिनव सम्मत चमत्कार का विस्तृत विवेचन कर चुके हैं, किन्तु उसे यहां नयी उपपत्ति के साथ पुनः प्रस्तुत करना अपेक्षित है । हम जानते हैं कि परमशिव का विश्वात्मक स्वरूप 'प्रकाश-विमर्श-मय' है । यह प्रकाश ही चित्त शक्ति है ।[1] यही आत्मा का 'स्वभाव' या 'स्वरूप' है ।[2] यह स्वभाव ही परम उपादेय है जो स्वतंत्र है ।[3] यही 'स्वातंत्र्य' 'आनन्दशक्ति' है ।[4] इसे यों भी कह सकते हैं कि प्रकाशरूपिणी चित्शक्ति की अनुत्तर विमर्श रूप चित् शक्ति में विश्रान्ति ही आनन्द शक्ति है ।[5]

---

1. 'प्रकाशरूपता चिच्छक्तेः' — तंत्रसार, अ०1, पृ० 6.
2. 'अनवच्छिन्नान्तः प्रकाशोनिजानन्द विश्रान्तः शैवरूपः' — वही, पृ० 6.
3. 'तत्र इह स्वभाव एव परमोपादेयः' — वही, आ० 1, पृ० 5.
4. 'तस्य च स्वातन्त्र्यम् आनन्दशक्तिः'— वही, आ० 1/6.
5. (अ) अनुत्तर एव विश्रान्तिरानन्दः — वही, आ० 3, पृ० 12.
   (ब) परशक्ति रूपा चितिरेव भगवती स्वतंत्रा अनुत्तर विमर्शमयी - - - - । प्रत्यभिज्ञा हृदय वृत्ति पृ० 20-21.
   (स) स्वरूपस्य स्वात्मनः परिपूर्णनिजस्वभाव प्रकाशनमेव परामर्शमयता सच्चदानन्द इत्युच्यते । ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी — भाग2, पृ० 177.

चूंकि सभी भावों का 'स्वभाव' प्रकाश है और प्रकाश मूलतः एक है अतः प्रकाश ही संवित् है।[1] इसी प्रकाश में विमर्श आत्म परामर्श द्वारा विश्रान्ति 'संविद् विश्रान्ति' है। इस स्थिति का एक पक्ष प्रकाशरूपिणी चित् है तो दूसरा स्वातंत्र्यरूपिणी आनन्दशक्ति। अतएव संवित् का स्वरूप 'प्रकाशानंद मय संवित् विश्रान्ति है। यही विश्रान्ति 'निर्वृत्ति' है[2] और यही चमत्कार है।

अभिनव के अनुसार विषयों के संस्पर्श तथा विषयजन्य संस्कारों के संस्पर्श से सर्वथा शून्य निर्विघ्न तथा अपने स्वरूप में अवस्थित स्वातंत्र्य रूप एक घन का रसनात्मक परामर्श ही परमानन्द है, वही निर्वृत्ति है, और वही चमत्कार है।[3] चूंकि इस संवित् की अनेक भूमिकायें होती हैं अतः भूमिका भेद से विश्रान्ति के स्तर में भी भेद हो जाता है।[4] अतः विषयानन्द, काव्यानन्द तथा

---

1. 'सच सर्वभावानां प्रकाश रूप एव ××× एक एव प्रकाशः सच संवित्' — तंत्रसार, आ० 1, पृ० 6.
2. (क) 'आत्मैव सर्वभावेषु स्फुरन् निर्वृतचिद् विभुः' शिवदृष्टि प्र०आ० 2 की व्याख्या में — उत्पलाचार्य निर्वृता वेद्यानिराकांक्षापूर्णा चिद्यस्य सः निर्वृतचिद् विभुः शिवः। — वही प्र०।
   (ख) 'कर्मावच्छिन्ना निर्वृतिरौन्मुख्यम्। शिव दृष्टि उत्पलवृत्ति प्र०आ० पृ० 5–6.
   (ग) 'अनवच्छिन्ना निर्वृतिमात्रमानन्द शक्तिरिति यावत्।' वही, पृ० 17.
3. तत्स्वभावनुपचरितस्य संवेदनरूपतानान्तरीयत्वेन अनवस्थितस्वस्वातंत्र्यस्यैव रसनैकघनतया परामर्शः परमानन्दो निर्वृतिश्चमत्कार उच्यते। ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी — भाग–2, पृ० 179 संदर्भः आर०ओली द एस्थे०एक्स०एका० टू अभिनवगुप्त, पृ० 87 से 90 तक।
4. एवं एकस्यैव चिदात्मनो भगवतः स्वातंत्र्यावभासिताः सर्वाएव ~~सर्वात्मन~~ भूमिकाः स्वातंत्र्य प्रच्छावनोन्मीलन तारतम्य भेदिताः। — प्रत्यभिज्ञा हृदयम्, पृ० 44.

परमानन्द आदि में जो भेद दिखाई पड़ता है वह आनन्द का स्वरूपगत भेद न होकर आत्म परामर्श की अवस्था का है । विषयानन्द में चेतना में विषय के संस्पर्श का व्यवधान होता है तो काव्यानन्द में विषय की व्यवधान शून्यता के होते हुए भी उसमें वैषयिक संस्कारों का अनुवेध रहता है । चूंकि इस अनुभूति में विषय उपार्जन आदि की संभावित बाधा नहीं होती अतएव उसे 'वीत विघ्ना' प्रतीति कहते हैं । इसी स्थिति के रसना, चर्वणा, निर्वृत्ति, प्रतीति प्रमातृपद विश्रान्ति या संविद् विश्रान्ति जैसे अभिधान हैं, इस अनुभूति के दो भाग हैं :— पहला संविद् विश्रान्ति का एवं दूसरा वैषयिक संस्कारानुविद्ध चित्तवृत्तियों का । इन चित्तवृत्तियों में हृदय तत्व की प्रधानता होती है अतः उसीकी प्रधानता को ध्यान में रखकर वेद्य विश्रान्त एवं पूर्ण व्यवस्थित 'प्रकाशभाव' की उपेक्षा करके संविद् विश्रान्ति को सहृदयता कहा जाता है।[1] यही सहृदयता काव्यानन्द की चमत्कारमय प्रतीति का प्रधान केन्द्र है । यही सहृदयता आत्म-परामर्श के रूप में 'स्वहृदय संवाद भाजकता' है तो वर्णनीय के साथ तन्मयी भवन योग्यता[2] और कवि के साथ 'तादात्म्यापत्ति योग्यता' है ।[3]

ऐसे क्षण में स्वगत या परगत भेद से रहित आस्वाद के चमत्कार के कारण उपार्जन आदि अनेक प्रकार के विघ्नों से युक्त लौकिक (प्रत्यक्षादि प्रमाणों से

---

1. यत्रापि अत्यन्तमन्यथाभावमतिक्रम्य सुखमात्रत्वादृश्यते अर्जनादि संभाव्यमान विघ्नान्तर-निरासाद् वैषयिकानन्दविलक्षणशृंगारादौ नाट्यकाव्यादिविषये, तत्रापीत विघ्नत्वादेव असौ रसना चर्वणा निर्वृतिः प्रतीतिः प्रमातृता विश्रान्तिरेव, तत एव हृदयेन परामर्श लक्षणेन प्राधान्यात् व्यपदेश्यस्य व्यवस्थितस्य अपि प्रकाश भागस्य वेद्य विश्रान्तस्य अनादरणात् सहृदयता उच्यते । —ई०प्र०वि०वि०, पृ० 77-79.

2. येषां काव्यानुशीलनाभ्यास वशाद्विशदीभूते मनो मुकुरेवर्णनीयतन्मयी भवन योग्यता ते स्वहृदय संवादभाजः सहृदयाः । — लोचन, पृ० 38.

3. सहृदयत्वं हृदयस्य हि कवि हृदय तादात्म्य समापत्तियोग्यतैव उत्कर्षः—
— अभिनव भारती, भाग-2, पृ० 339.

उत्पन्न) ज्ञान से (भिन्न) और विषय के आस्वाद से शून्य होने से शुष्क (परुष) योगि प्रत्यक्ष से भिन्न विलक्षण प्रकार के सुख-दुःख आदि की भिन्न भिन्न प्रकार की वासनाओं के सम्पर्क से प्राप्त होने वाली अत्यन्त आह्लादात्मक चर्वणा का सहृदय पुरुष भोग करते हैं ।[1]

उपर्युक्त विवेचन में काव्यानन्दजन्य चमत्कार के जिस स्वरूप का उल्लेख हुआ है, उसकी प्रतिपत्ति अभिनवगुप्त के निम्नांकित उद्धरण में पूर्णतः स्पष्ट है । "चमत्कारो हि इति स्वात्मन्यन्यापेक्षे विश्रमणम् । एवं भुंजानतारूपं चमत्वम् । तदेव करोति संरंभे, विभूशति नान्यत्रानुधावति । चमदिति क्रिया विशेषणम् । अखण्ड एव वा शब्दो निर्विघ्ना स्वादन वृत्तिः । चमदिति वा आन्तरस्पन्दान्दोलनोदित परामर्शमयाशब्देनाव्यक्तानुकरणम् । काव्यनाट्य-रसादवपि भावितचित्तवृत्त्यन्तरोदये नियामक विघ्नविरहित आस्वादो रसनात्मा चमत्कार इत्युक्तमन्यत्र ।"[2]

यहाँ अभिनव ने 'चमत्कार' के दो पक्षों को उद्घाटित करने के लिए दो प्रकार की व्युत्पत्तियाँ प्रस्तुत की है । पहली व्युत्पत्ति के अनुसार 'चमत्' भोग स्वरूप है । इस भोग व्यापार में अभिनिवेशपूर्वक अन्य निरपेक्ष होकर आत्म-स्वरूप का परामर्श होता है । वृत्तियों का बहिर्मुखी अनुधावन समाप्त हो जाता है । इस अर्थ में विश्रान्ति का तात्पर्य है बाह्य स्पन्दन शून्य लयावस्था । दूसरी व्याख्या में बाह्य स्पन्दनशून्य क्षण में प्रकाशमयी आत्मचेतना में आनन्द का

---

1. 'स्वपरविवेक शून्यास्वाद चमत्कार परवशतया लौकिकात् प्रत्ययात् उपार्जनादि विघ्न बहुलात् योगिप्रत्ययाच्च विषयास्वादशून्यतापरुषात् विलक्षणाकार सुख-दुःखादि विचित्र वासनानुवेधोपनत हृद्यतातिशय संविच्चर्वणात्मनाउच्यते ।
— हिन्दी अभिनव भारती, पृ० 503.

2. ईश्वर प्रत्यभिज्ञा वृत्ति विमर्शिनी, अभिनवगुप्त, 2, उ० 4 वि०, पृ० 251.

आंदोलित प्रस्पन्दन तरंगायित होता है, उसके लिए अव्यक्तानुकरण 'चमत्' माना गया है ।

ऊपर जिन दो व्युत्पत्तियों द्वारा 'आत्मविश्रान्ति' एवं 'आन्तर-स्पन्दान्दोलन' जैसी चमत्कार सम्बन्धी दो स्थितियां प्रस्तुत की गयी हैं, उनका विरोधाभास ही चमत्कार कालीन आत्मस्थिति का आभास दे सकता है । बात यह है कि पूर्णानन्द में विमर्श का उदय बिल्कुल नहीं होता अतः वहां स्पंदन शून्यता हो जाती है किन्तु काव्यानन्द में चित्तवृत्ति में विषयों के सूक्ष्म संस्कारानुवेद्य के कारण आत्मा की प्रकाश रूपता में विमर्श का उदय या परिस्फुरण होता है । बाह्य एवं व्यक्तरूप से भिन्न आन्तरान्दोलन का स्वरूप प्रकाश में विमर्श के विद्युत स्पन्दन सा आनन्दमय (रसात्मक) होता है ।

इसी सहसा कौंध जाने वाले प्रकाश के स्पन्द को ध्यान में रखकर रुय्यक ने चमत्कार की व्याख्या इस प्रकार की है — "अन्धकार से आच्छन्न चित्र आदि जब प्रदीपादि के प्रकाश से प्रकाशित होते हैं तो अद्भुत अर्थ के सहसा प्रकाशित हो जाने से चमत्कार उत्पन्न होता है । उसी प्रकार रस आदि में (भी सहसा विभावादि के उन्मीलन से आस्वादजन्य चमत्कार होता है)"।[1]

अतएव अभिनव ने भी काव्य-नाट्य रस में चित्त वृत्ति में भावना के उदय से वीतविघ्न रसनात्मक आस्वाद को चमत्कार कहा है । अतः विमर्श के प्रस्पन्दन में जब चेतना का लय या समापत्ति हो जाती है तो उसे चमत्कार, रस या भोग कहते हैं ।

---

1. 'आलेख्य लेखादौ सन्तमसावस्थिते प्रदीपादिना प्रकाशिते सहसेति अद्भुतार्थ प्रकाशनाच्चमत्कारो जायते । तद्वद्रसादौ ।
— रुय्यक, महिमभट्ट कृत व्यक्ति विवेक की टीका, पृ० 53.

इस रसात्मक अनुभूति के सम्बन्ध में अभिनव का विचार है कि जीव जन्म से ही विशिष्ट चित्तवृत्तियों से संयुक्त होता है।[1] यही चेतना को आवृत कर आलोड़ित करती रहती है जिसके कारण निर्विघ्न आत्म परामर्श नहीं हो पाता। जब काव्य नाटकादि के अनुशीलन के क्षण में इन चित्तवृत्तियों का बहिर्मुख व्यापार रुद्ध हो जाता है, उस समय अनुपहत चेतना (अविघ्नासंवित्) के आनन्द स्वरूप का उन्मीलन हो जाता है, यही 'प्रकाशानन्दमय संविद् विश्रान्ति' रस है जिसमें आनन्दशक्ति की तरंगें उठती रहती हैं। इसके आस्वाद का नाम 'भोग' है और भोग की अनुभूति चमत्कार है।[2]

अभिनव भारती में इसकी प्रक्रिया इस प्रकार प्रस्तुत है कि —"काव्य-वस्तु में निबद्ध देशकाल प्रमाता आदि को वास्तविक देशकाल आदि के नियामक कारणों के पारस्परिक बन्धनों से पृथक कर देने पर साधारणीकरण व्यापार अत्यन्त पुष्ट हो जाता है। अतः अनादि वासना से चित्रित चित्तवाले समस्त सामाजिक हृदयों की समान वासना के हो जाने के कारण समान रस प्रतीति होती है। यह विघ्नों से रहित संवित् चमत्कार है। उपचारतः इस आनन्दात्मक चमत्कार प्रतीति से उत्पन्न होने वाले कम्प, रोमांच तथा खुशी में उछलकूद आदि अनुभावात्मक विकार भी चमत्कार कहलाते हैं जैसे 'प्रतीत होता है कि अपने स्पर्श से श्रीविष्णु के शरीर में चमत्कार उत्पन्न करने वाले लक्ष्मीजी के चन्द्रमा की कला जैसे सुकुमार अंगों को मंदराचल आज भी नहीं पहचान सका है।" यहाँ 'चमत्कार' शब्द का

---

1. 'ज्ञात एव हि जन्तरियतीभिः संविद्गः परीतो भवति।
— अभिनव भारती (चौखम्भा 1972), पृ० 265.

2. 'रूयमानतोदितचमत्कारानतिक्रान्तत्वाद् भोगस्य।'
— ध्वन्यालोक लोचन द्वितीय उद्योत, पृ० 200.

प्रयोग पुलकादि के लिए हुआ है ।[1]

इस अविघ्ना संवित् को पूर्ण तृप्ति रूप (भोगावेश) कहते हैं, इस प्रकार के भोगात्मक व्यापार में संलग्न मन का (पात्र का) तथा इस प्रकार के अद्भुत (अभूतपूर्व) भोगात्मक व्यापार से आविष्ट मन का (सहृदय का) चमत्कृत हो उठना ही चमत्कार है । चमत्कृत मानस की यह साक्षात्कारात्मक अनुभूति मानस अध्यवसाय (उसी प्रकार के भोग को प्राप्त करने का मानस प्रयत्न) संकल्प (ऐसे ही भोग करूंगा ऐसा निश्चय) तथा स्मृति (प्रतिभ साक्षात्कारात्मक स्वभाव) के रूप में प्रतीत होती है ।[2]

---

1. यस्यां खलु सतां काव्यार्पितानां देश-काल-प्रमात्रादीनां निमयनहेतूनामन्योन्य प्रतिबन्ध बलादत्यन्तमपसरणे स एव साधारणीभावः सुतरां पुष्यति । अतएव सर्वसामाजिकानामेकघनतैव प्रतिपत्तेः सुतरां रस परिपोषाय सर्वेषामनादि वासनाचिचीकृत चेतसां वासना संवादात् । सा चाविघ्ना संवित् चमत्कार रूपोऽपि रूप पुलकोत्फुल्लतादिर्वीकारश्चमत्कारः । यथा—

'अद्यापि हरेश्चमत्कृति कराणिनमन्दरेण कलितानि ।
चन्द्रकला कन्दलसच्छायानि लक्ष्म्या अंगानि ।।

— अभिनवभारती (चौखम्बा, 1972), पृ० 254.

2. (क) तथाहि स चातृप्ति व्यतिरेकेणाविछिन्नो भोगावेश इत्युच्यते । भुंजानस्याद्भुत-भोगात्मरूपन्दाविष्टस्य च मनः कर्ण चमत्कार इति । स च साक्षात्कार भावो मनः साध्यवसायो वा संकल्पो वा स्मृतिर्वा तथात्वेन स्फुरन्नास्ति ।

— वही, पृ० 255.

(ख) उपर्युक्त उद्धरण को ही काव्यानुशासन में इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है :—

'अद्भुत भोगात्मरूपन्दावेश रूपो हि चमत्कारः । स च साक्षात्कार स्वभावो ---- इत्यादि ।' — हेमचन्द्र : काव्यानुशासन 2/1.

किन्तु वस्तुस्थिति यह है कि अलौकिक चमत्कारस्वरूप रसास्वाद स्मृति, अनुमान तथा लौकिक वैयक्तिक (प्रत्यक्ष) संवेदन से विलक्षण ही होता है।[1]

विभावादि के द्वारा विघ्नों के अपसरण के अनन्तर विघ्नों से विनिर्मुक्त संवित् को ही चमत्कार निर्वेश, रसन, आस्वादन, भोग, समापत्ति, लय, विश्रान्ति आदि शब्दों से कहते हैं।[2]

ध्वन्यालोक लोचन में भी चमत्कार का अनेक बार प्रयोग किया गया है। डा० राघवन के साक्ष्य पर कहा जा सकता है कि लगभग 14 बार प्रयोग हुआ है। एक उद्धरण से प्रमाणित होता है (निर्णय सागर संस्करण, पृ० 63) की कि भट्टनायक ने भी काव्यास्वाद के सम्बन्ध में चमत्कार का प्रयोग किया है। अन्यत्र (वही, पृ० 65) अभिनव ने रस को चमत्कारात्मा कहा है।[3]

कुमारसंभव में शिव-पार्वती के संयोग वर्णन की समीक्षा करते हुए उन्होंने कहा है कि जहां रस के आस्वाद लेने वाले सहृदयों के चमत्कार का विघात

---

1. तथा हि लौकिक चित्तवृत्त्यनुमाने का रसता। तेनालौकिक चमत्कारात्मा रसास्वादः स्मृत्यनुमान लौकिक स्वसंवेदन विलक्षण एव।

   — अभिनव भारती, वही, पृ० 271.

2. तत्र विघ्नापसारका विभावादयः। तथा हि लोके सकल विघ्न विनिर्मुक्ता संवित्तिः एव चमत्कार-निर्वेश रसना-स्वादन-भोग-समापत्ति-लय-विश्रान्त्यादि शब्दैरभिधीयते।

   — वही, पृ० 257.

3. यद्यपि च रसनैव सर्वं जीवति काव्यम्, तथापि तस्य रसस्य एक घन चमत्कारात्मनोऽपि कुतश्चिदंशात् प्रयोजकी भूतादीधकोऽसौ चमत्कारोऽपि भवति।

   —ध्वन्यालोक लोचन, पृ० 65.

नहीं होता वही रस का सर्वस्व है क्योंकि रस्यमानता स्वाद के आधीन है । उत्तम देवता के संभोग की वर्णना में पिता के संभोग के समान लज्जा आतंक आदि आदि की उपस्थिति से चमत्कार का अवसर ही कहां है । क्योंकि चमत्कार तो 'वीतविघ्ना संवित्' है और यहां विघ्नों से विश्रान्ति नहीं होगी[1] ।

अतः उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है अभिनव ने चमत्कार को अंतरंग रूप में संविद् विश्रान्ति तथा बहिरंग रूप से पुलकादि अनुभाव तक विस्तृत करके स्पष्ट कर दिया है कि आस्वाद की सारी प्रक्रिया में चमत्कार अन्तर्ग्रथित है । यह बात अलग है कि विवेचन व्यावहारिक न होकर दार्शनिक है ।

प्रतिभा के धनी आचार्य क्षेमेन्द्र जहां एक ओर साहित्यशास्त्र में परम शैव अभिनव गुप्त के अन्तेवासी थे, वहीं वे अपनी आस्था में परम वैष्णव थे । परिणामतः उन्होंने गुरु परंपरा से प्राप्त तत्वों का संप्रदाय निर्मुक्त शुद्ध साहित्य शास्त्रीय विवेचन एवं पुनरीक्षण किया । शैवाद्वैती आनन्दवाद ने जहां रसध्वनि को काव्य का प्राणतत्व घोषित किया वहीं उनकी अन्वीक्षा मुख्यतः सहृदय को केन्द्र मानकर चलती रही । क्षेमेन्द्र ने काव्य की कमनीयता का श्रेय कवि को दिया । जिस प्रकार परमात्मा जगत की सृष्टि करके उसीमें समाया हुआ है, उसी प्रकार कवि भी अपनी काव्य सृष्टि में सर्वतोभावेन वर्तमान है । इसलिए जबतक कवि स्वयं चमत्कार की सृष्टि में समर्थ नहीं है तब तक सहृदय उसका आस्वाद कैसे ले सकता है ? अतः उन्होंने 'कवि कंठाभरण' में कवि कर्म की चरम

---

1. आस्वादयितृणां हि यत्र चमत्कारविघातः तदेव रस सर्वस्वं रस्यमानत्वात् ।
उत्तम देवता संभोग परिमर्शे तु पितृ संभोगइव लज्जा तंकादिना कः चमत्कारावकाशः ।

— ध्वन्यालोक लोचन, पृ० 137-38.

सफलता के रहस्य के रूप में चमत्कार की शिक्षा दी । कवि शिक्षापरक इस ग्रन्थ का उद्देश्य ही यह बतलाया गया कि उचित कवि कर्म की शिक्षा सम्पन्न होने पर चमत्कार की सिद्धि हो जाती है ।[1] चमत्कार की साधना के लिए आवश्यक है कि कवि नये-नये अर्थों (पदार्थों) की चर्चा (अनुचिंतना या उद्भावना) में लगे जिससे उसमें चमत्कार का विधान हो सके ।[2] उनकी दृष्टि में यह चमत्कार केवल बौद्धिक या कल्पनात्मक नहीं है । इसके लिए कवि में 'वर्णनीय-तन्मयी-भवन-योग्यता' होनी चाहिए । कवि की मनोभूमि में काव्य का चमत्कारकारी अंकुर तभी फूटेगा जब वह स्वयं प्रत्येक रस की भावना में तन्मय हो सके । प्रत्येक गुण का आस्वाद उसे पुलक पल्लवित कर सके और उसे परिपक्व विवेक का आसिंचन प्राप्त हो जाय ।[3]

उन्होंने स्पष्ट ही यहाँ भावतत्व, बुद्धितत्व एवं कला तत्व के साथ कवि की समापत्ति को ही चमत्कार की सृष्टि का मूल माना है । इसीलिए उन्होंने 'कविकंठाभरण' की तृतीय सन्धि में कवियों को चमत्कार योजना की शिक्षा दी है । उन्होंने पूर्ण आस्था के साथ इस बात की घोषणा की है कि चमत्कार ही काव्य का मुख्य तत्व है जिसके बिना न तो कवि के कवित्व का मूल्य है और न काव्य में कवित्व का ।[4] सुन्दर पद विन्यास की शय्या से सुसज्जित तथा दोषरहित काव्य में किसी एक बहुमूल्य मणि की प्रभा से भासमान शब्द-चमत्कार का सन्निवेश मणि कांचन संयोग उपस्थित करता है यदि ऐसा न

---

1. 'चमत्कृतिश्च शिक्षाप्त्यै ।' – क्षेमेन्द्र, कवि कंठाभरण, सन्धि-1 श्लो० 3.
2. 'चर्चा चमत्कारविधायिनीनां नवार्थ चर्चासुलभं विदध्यात्' –वही, 1/7.
3. 'रसे रसे तन्मयतां गतस्य गुणे गुणे दर्व वशी कृतस्य ।
   विवेक सेकस्त्वकपाकभिन्नं मनः प्रसूतेऽङ्कुरवत् कवित्वम् ।।–वही, 1/8.
4. 'नहि चमत्कार विरहितस्य कवेः कवित्वम् काव्यस्य वा काव्यत्वम्'
   – 3/1 की वृत्ति ।

हो तो जिस प्रकार अंगना का लावण्यहीन यौवन किसी के चित्त पर नहीं चढ़ता उसी प्रकार निर्दुष्ट एवं सुन्दर पद विशिष्ट काव्य भी चमत्कारहीन होने पर सहृदयों को आकृष्ट नहीं कर सकता । अतः चमत्कार ही काव्य का सर्वस्व है ।[1]

यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि अभिनव ने ध्वनि की प्रतिष्ठा में अंगना के लावण्य का रूपक उपस्थित किया था । कुन्तक ने संशोधन करके उसमें लावण्य के साथ सौभाग्य का योग कराया था तो क्षेमेन्द्र ने अंगना के यौवन को संभवतः रस और लावण्य को चमत्कार कहा । अतः यह समीकरण अनायास ही बन जाता है कि यदि काव्य की ध्वनि रस है तो रस की ध्वनि चमत्कार है ।

अतः उन्होंने कवि को शिक्षा दी कि जिस प्रकार नूतन कुसुमों के अपूर्व गंध के आस्वादन के प्रति लोलुप भ्रमर सुमन समृद्धि से मंडित वसन्त के वनों की ओर चल पड़ता है, उसी प्रकार अपने काव्य में अतिशयता लाने के लिए तथा वाणी में उत्कर्षजन्य चमत्कार पैदा करने के लोभ से मनोरम वस्तु एवं सुन्दर शब्द और अर्थ की ओर उन्मुख हो जाना चाहिए ।[2]

---

1. एकेन केनचिदनर्घमणिप्रभेण,
काव्यं चमत्कृतिपदेन विना सुवर्णम् ।
निर्दोषलेशमपि रोहति कस्यचित्ते,
लावण्यहीनमिव यौवनमंगनायाः ।।
— वही, 3/2.

2. सुकविरतिशयार्थी वाक् चमत्कार लोभा-
दनुसरति मनोज्ञे वस्तु शब्दार्थ सार्थे ।
भ्रमर इव वसन्ते पुष्पकान्ते वनान्ते,
नवकुसुमविशेषामोदमास्वादलोलः ।।
— वही, 3/1.

उपर्युक्त चर्चा से क्षेमेन्द्र की चमत्कारपरक दृष्टि का आकलन इस प्रकार किया जा सकता है :—

(1) चमत्कार काव्य का सर्वस्व है,

(2) कवि को शिक्षा के द्वारा उचित को चमत्कारपूर्ण बनाने का प्रयत्न करना चाहिए,

(3) भावावेश, गुणश्लेष एवं विवेक-सन्निवेश से ही कविगण वस्तु एवं शब्द-अर्थ में अभिनवता का संपादन करते हैं, जिससे वाणी में (उक्ति में) चमत्कार आता है ।

(4) सर्वातिशायी काव्य की रचना के लिए कवि को चमत्कारजनक वस्तु एवं शैली के तत्वों का उसीप्रकार आकलन करना चाहिए जैसे वसन्त में भ्रमर कणशः कुसुम पराग संचित कर मधु तैयार करता है । अन्ततः उसे भी तो बाह्य मधु तैयार करना होता है,

(5) लावण्य यौवन का निष्यन्द है उसी प्रकार चमत्कार काव्य का निष्यन्द है ।

उन्होंने चमत्कार के दस प्रकार बताये हैं, जो निम्नांकित हैं :—

(1) अविचारित रमणीय, (2) विचार्यमाण रमणीय,
(3) समस्त सूक्तव्यापी, (4) सूक्तैक देश दृश्य, (5) शब्दगत,
(6) अर्थगत, (7) शब्दार्थगत, (8) अलंकारगत, (9) रसगत,
(10) प्रत्याख्यातवृत्तिगत ।

---

1. तत्र दशविधश्चमत्कारः — अविचारितरमणीयः, विचार्यमाणरमणीयः, समस्तसूक्तव्यापी, सूक्तैकदेशदृश्यः, शब्दगतः, अर्थगतः, शब्दार्थगतः अलंकारगतः, रसगतः, प्रत्याख्यातवृत्तिगतश्च ।

— कवि कण्ठाभरण 3/2 की वृत्ति ।

इन दश भेदों को विभिन्न तत्वों के साथ इस प्रकार सम्बद्ध किया जा सकता है —

(1) आस्वादगत : (क) अविचारित रमणीय

(ख) विचार्यमाण रमणीय । इसे ध्वनि की भाँति क्रमशः असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य एवं संलक्ष्यक्रमव्यंग्य समझना चाहिए ।

(2) रचनागत : (क) समस्त सूक्तव्यापी (उत्तमोत्तम ध्वनिकाव्य) तथा

(ख) सूक्तैक देश दृश्य (पदादि ध्वनि 'एकेन केन-चिदनर्घमणिप्रभेण' विचारणीय)

(3) अनुभूतिगत : रसगत

(4) शरीरघटकतत्वगत : (क) शब्दगत (जो शब्द पर्याय सहन न कर सके)

(ख) अर्थगत (जहाँ अर्थ अपनी ध्वन्यमानता में क्षयमान हो) ।

(ग) शब्दार्थगत (दोनों समकोटि के हों)

(5) शोभाघटक तत्वगत : (क) अलंकारगत (अलंकार में वक्रोक्ति आदि का समाहार है) ।

(ख) प्रच्छात वृत्तिगत (वृत्तियाँ रीतियाँ एवं गुणादि का भी समाहार कर लेंगी)

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि क्षेमेन्द्र ने ध्वनि संप्रदाय के समानान्तर ही चमत्कार संप्रदाय की स्थापना का वैसा ही प्रयत्न किया है, जैसा कुन्तल ने वक्रोक्ति संप्रदाय की स्थापना का ।

आनन्दवर्धन एवं अभिनव ने जहाँ जागतिक प्रपंचों में अनुस्यूत उस अनिर्वचनीय तत्त्व की भाँति काव्य में व्याप्त अर्थतत्त्व की व्यन्यमानता का आकलन किया तो कुन्तक ने समस्त प्रपंचों में (काव्य जगत में) उसी एक तत्त्व के लीलाविलास की विवेचना की । दोनों का दृष्टिभेद केवल व्यावहारिक है, सैद्धान्तिक नहीं । किन्तु व्यवहार में लाभ यह हुआ कि अभिनव जहाँ चमत्कार की अनिर्वचनीयता की शुद्ध दार्शनिक अन्वीक्षा में संलग्न रहे, वहीं कुन्तक ने उक्ति एवं सूक्ति पर बल देकर चमत्कार को वचनीय एवं अनुभवगम्य बनाने का प्रयास किया ।

क्षेमेन्द्र ने भी कुन्तक की भाँति वैखरी के प्रसार में चमत्कार का दर्शन किया किन्तु उसे कविकर्म से सम्बद्ध करके व्यापक धरातल पर प्रस्तुत किया । यों तो 'वाङ् मधु' की सृष्टि कवि भ्रमर का मुख्य कर्म है तथा कुसुमों में सूक्ष्म रूप से अनुप्रविष्ट रस का संचय मधु निर्माण की पहली भूमिका है, किन्तु यदि चमत्कार तत्त्व की खंडशः (सूक्तैक देश दृश्य) या पूर्णशः (समस्त सूक्तव्यापी) स्थापना की जा सके तो उक्ति रूपी वाङ्मधु के गंध में कर्पूर का अनुवेध हो जाता है जैसे मानों वासन्ती मादकता में रसाल का सौरभ भर गया हो ।[1]

उन्होंने औचित्य विचारचर्चा में भी (जिसके कारण उन्हें औचित्य संप्रदाय का प्रवर्तक माना जाता है) मूलतः चमत्कार तत्त्व का ही उद्घाटन किया है ।

---

1. इत्युक्त एव सविशेष चमत्कृतीनां
   सारः प्रकार परमार्गविभाव्यमानः ।
   कर्पूरवेध इव वाङ्मधुगंधयुक्तेश्चैत्रासवस्य सहकारसमाधिवासः ।।
   — वही, 3/3.

क्षेमेन्द्र का औचित्य केवल आचार या रीति नहीं है । उनका तो मुख्य उद्देश्य था केवल काव्य की कमनीयता के रहस्य का उन्मीलन, उस अदृश्य मूल अन्तस्तत्त्व का साक्षात्कार जिसके कारण कलाकृति में एक नूतन सजीवता सी, हृदय में एक अनिर्वचनीय चमत्कृति-सी एवं अनुभूति में एक आत्म-विभोरता सी सहसा संचरित हो जाया करती है । अतः उन्होंने औचित्य को रस जीवित-रस की जीवन्तता-का प्रधान कारण माना । यह औचित्य स्वयं में साध्य न होकर मात्र साधन है जबकि साध्य चमत्कार है ।[1]

पदौचित्य (सूक्तैकदेश दृश्य) में चमत्कार का निरूपण उन्होंने इस प्रकार किया है कि जिस प्रकार श्यामा के मुख पर चंदन एवं चन्द्र वदनी के माथे पर कस्तूरी का तिलक शोभित होता है उसी प्रकार औचित्य के अनुकूल एक ही उचित पद को तिलक की भाँति धारण करती हुई सूक्ति अपनी अपूर्व शोभा के कारण सचेतन धारण करती है । जैसे 'मग्नानि दिवसतां' आदि सूक्ति में (मुग्धा मुग्धैर राज पट्टमाहिषी) 'मुग्धा' इस पद से अर्थौचित्यजन्य चमत्कार उत्पन्न करनेवाली सूक्ति कवि कुल ललामभूता शोभा को धारण करती है ।[2]

काव्य में भव्यता प्रायः किसी नूतन उद्भावना द्वारा ही प्रस्फुटित होती है एतदर्थ आवश्यकता होती है कवि में अम्लान प्रतिभा के प्रकर्ष की, जिससे

---

1. औचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चारु चर्वणे ।
   रसजीवितभूतस्य विचारं क्रियते धुना ।। — औ० वि०च०, 3.
2. तिलकं बिभ्रती सूक्तिर्मास्येकमुचितं पदम् ।
   चन्द्राननेव कस्तूरी कृतं श्यामेव चन्दनम् ।।— वही, श्लोक ।।.
   एकमेव उचितं पदौचित्यकायमानं बिभ्राणामुक्तिः समुचित पद भाग शोभातिशयेन सचेतनामावहति । ××× 'मग्नानि दिवसतां' इत्यादि श्लोके 'मुग्धापदेन अर्थौचित्य चमत्कारकारिणाबमुचिता सूक्तिः सकलकवि ललानभूतां विच्छित्तिमातनोति । — वही, श्लोक ।। की वृत्ति ।

महाकाव्य स्फूर्तिमन्त चमत्कार से पूर्ण हो जाता है ।[1] कुन्तक ने सौभाग्यगुण में दो प्रधान तत्त्व बतलाये थे – (1) कवि की प्रतिभा का प्रकर्ष तथा (2) समुचित काव्य सम्पदा की उपस्थिति ।[2] क्षेमेन्द्र ने भी सौभाग्यगुण की विशेषता प्रदर्शित करते हुए उसके सहृदयानन्दकारी स्वरूप का विशेष रूप से उल्लेख किया तथा प्रतिभा एवं प्रस्तुत अर्थ के अनुकूल गुणाधान का महत्त्व स्वीकार किया ।[3] अलंकार को बहिरंग और अर्थ की शोभा बढ़ाने का तत्त्व ही मानते हैं किन्तु है वह अनिवार्य क्योंकि हृदय संवादी अर्थ को अलंकार अतिशय चमत्कारी बना देता है ।[4] रसौचित्य में भी उन्होंने चमत्कार के दर्शन किये हैं । उनका विचार है कि मधुमास से सर्वात्मना प्रभावित अशोक जैसे अंकुरित होता है, उसी प्रकार समस्त सूक्तव्यापी औचित्य रुचिर रस भावक के मन में

---

1. 'अम्लान प्रतिभाप्रकर्षोत्प्रेक्षितेन समुचितार्थविशेषेण महाकाव्यं स्फुरदिव चमत्कारकारितामापद्यते ।' – वही, श्लोक 13 की वृत्ति ।

2. 'तदेवमेतस्मिन् प्रतिभासंरंभजनित सकलसामग्री समुन्मीलितम् सरसहृदयाह्लादकारि किमपि सौभाग्यं समुद्भासते ।'

   – हिन्दी वक्रोक्ति जीवित, पृ० 162, श्लोक 56 की वृत्ति ।

3. 'प्रस्तुतार्थोचितः काव्ये भव्यः सौभाग्यवान् गुणः ।
   स्यन्दतीन्दुरिवानन्दं संयोगावसरोदितः ।।" औ०वि०च०, श्लोक 14.
   प्रस्तुतार्थस्य औचित्ये (ओजः प्रसाद माधुर्यादि लक्षणो) गुणः काव्ये भव्यः सौभाग्यवत्तामवाप्तः सहृदयानन्द - - - - (इन्दुरिव) स्पन्दति ।

   – वही, वृत्ति

4. 'अर्थौचित्यवत्तासूक्तिरलंकारेण शोभते ।
   पीनस्तनस्थितेनेव हारेण हरिणेक्षणा ।।" – वही, श्लोक 15.
   प्रस्तुतार्थस्य औचित्येन उपमा, उत्प्रेक्षा रूपकादिना अलंकारेण सूक्तिश्चकास्ति ।××× यस्तु अर्थो हृदयसंवादी स अधिकतरामलंकार शोभां पुष्णाति ।"

   – वही, वृत्ति श्लोक 15.

औचित्यकन्य सैचर चमत्कारकारिणी दीप्ति को उत्पन्न करने में सहायक होता है ।[1] उदाहरणों द्वारा उन्होंने पुष्ट किया है कि किस प्रकार औचित्य रस चमत्कार का जनक होता है ।[2] सम्प्रदानौचित्य की चर्चा करते हुए क्षेमेन्द्र का कथन है कि अतिशय औदार्य एवं आश्चर्यजनक चमत्कारकारी औचित्य की चर्चा से हम क्षेमोचित हैं[3] (यहाँ चमत्कार अनुभावमूलक है) वस्तुस्थिति यह है कि कमनीयता का जो मार्मिक स्पन्दन काव्य के विभिन्न अंगों से फूटता है, उसका उत्स है कवि का भावप्रवण हृदय । जब यह अन्तर्लीला अपने समस्त आवेग के साथ काव्य के रूप में अवतरित होती है, तो वाग्विलास वैभव अपनी समस्त मोहिनी मधुरिमा के साथ स्वतः अहमहमिकया उपस्थित हो जाता है । अतः कवि की सत्यौचित वाणी चमत्कार का कारण बनती है ।[4] इसी प्रकार स्वभाव प्रतिभा, विचार आदि के औचित्य में उन्होंने चमत्कार का दर्शन किया है ।[5]

---

1. 'कुर्वन् सर्वांगये व्याप्तं औचित्यं सैचरो रसः ।
मधुमास इवा शोकं करोत्यंकुरितं मनः ।।' औ०वि०च० 16.
'उद्दामोत्कलिका' इत्यादौ नवमालिका लतायां विरहावेषेण नितरामौचित्यं सैचरचमत्कारकारिणी दीप्तिरूपापादिता।' वही, वृत्ति

2. (क) काव्यस्य – (1) अंगभूत शृंगारस्याभासरूपेण काव्यरसस्य सचमत्कारमौचित्यमातनोति ।
(2) अत्रापि काव्यरसस्य सचमत्कारः परः परिपोषः समुन्मिषति ।
(ख) भयानक रस– सैचरमौचित्यमाचकाशित । – वही, 16 की वृत्ति ।

3. 'निरतिशयौदार्यश्चर्यचमत्कारकारि औचित्यचर्चणया वयं क्षेमोचिताः ।
– वही, कारिका 20 की वृत्ति ।

4. 'चमत्कारं करोत्येव वचः सत्यौचितं कवेः' – औ०वि०च० 31.
सत्यौचितं कवेर्वचश्चमत्कारं करोति – वही वृत्ति ।

5. 'द्रष्टव्य– औचित्य विचार चर्चा कारिका 33, 35 तथा 37 एवं इनकी वृत्ति ।

अन्त में हम यह कहना चाहेंगे कि क्षेमेन्द्र उन आचार्यों में से हैं जो औचित्य के माध्यम से कमनीयता के रहस्य का उन्मीलन कर सके हैं । उनका औचित्य विचार वस्तुतः कमनीयता की भूमियों का अन्वेषण है । इस कमनीयता से जो आह्लाद उत्पन्न होता है, वही चमत्कार है । दूसरी उपलब्धि यह है कि इन्होंने काव्य में बौद्धिकता को महत्त्व दिया है, क्योंकि औचित्य निर्धारण एक बौद्धिक प्रक्रिया है । तीसरी बात यह है कि इन्होंने चमत्कार को केवल रस एवं सहृदय की सीमा से मुक्त करके सर्जन एवं आस्वाद दोनों पक्षों से समान रूप से जोड़ा । इस प्रकार इन्होंने चमत्कार संप्रदाय की निश्चित स्थापना की जिसकी परंपरा बराबर चलती रही । अतः चमत्कार संप्रदाय के इतिहास में क्षेमेन्द्र का अविस्मरणीय महत्त्व है ।

अब तक की परिचर्चा से यह स्पष्ट हो जाता है कि क्षेमेन्द्र तक आते-आते चमत्कार की अवधारणा पर्याप्त विस्तार पा चुकी थी । इसके अन्तर्गत काव्यगत सौन्दर्य, तज्जन्य आस्वाद, आस्वादात्मक अनुभूति सबका समाहार कर लिया गया था। इसीलिए परवर्ती आचार्यों में सौन्दर्य, विचित्रता, वैचित्र्य चारुत्व, वक्रता, आह्लाद, आनन्द आदि के पर्याय के रूप में चमत्कार का स्वच्छन्द प्रयोग, प्रचुरमात्रा में मिलता है जो इस बात का प्रमाण है कि चमत्कार की अवधारणा से सभी परिचित हैं । और किसी न किसी स्तर पर सभी इसकी महत्ता स्वीकार करते हैं किन्तु चमत्कार को केन्द्र मान कर काव्य-शास्त्रीय विवेचन सम्बन्धी किसी प्रामाणिक ग्रन्थ के अभाव में अन्य आचार्यों में केवल चमत्कार शब्द के प्रयोग का अन्वेषण अनावश्यक समझ कर छोड़ दिया गया है । भोज आदि आचार्यों में जो चमत्कार का प्रयोग मिलता है उसका इतना ही अर्थ है कि ये आचार्य उस प्रवाह में बिना जोड़े घटाये चलते रहे हैं । अतः क्षेमेन्द्र के बाद एक लम्बे अन्तराल तक मौन रह कर हम विश्वनाथ पर आ पहुँचते हैं ।

विश्वनाथ अपनी आनुवंशिकता एवं आस्था दोनों से ही चमत्कारवादी आचार्य रहे हैं। उन्होंने रस के स्वरूप एवं आस्वाद के विवेचन क्रम में जिस शब्दावली का प्रयोग किया है, वह वस्तुतः पूर्ववर्ती विद्वानों का सार संगृह है।[1] भट्टनायक एवं अभिनवगुप्त की रस विवेचना सम्बन्धी शब्दावली को अविकल रूप से विश्वनाथ में देखा जा सकता है[2] और देखा गया है। यह बात और है कि उनका विवेचन शैवाद्वैती चेतना के प्रकाश में न होकर वेदान्ती चेतना के प्रकाश में है। निःसंदेह उपर्युक्त कथन पूर्णतः तथ्यसंगत है।

किन्तु मुझे तो ऐसा लगता है कि विश्वनाथ की उक्त शब्दावली का स्रोत तंत्र एवं नाथपंथ भी है और उन्होंने इन दोनों के समन्वित शब्दकोश से रस के व्यवच्छेदक तत्वों को ग्रहण किया है और उनकी व्याख्या भी तत्तत् संप्रदाय से प्रभावित होकर की है। इसका मुख्य कारण उन दिनों उड़ीसा आदि में फैले हुए तांत्रिकों आदि का प्रभाव है। यह एक विचित्र संयोग है कि अभिनवगुप्त आदि की शब्दावली और उक्त तंत्र आदि की शब्दावली मूलतः एक जैसी है।

---

1. 'सत्वोद्रेकादखण्ड स्वप्रकाशानन्द चिन्मयः।
वेद्यान्तर स्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वाद सहोदरः॥
लोकोत्तर चमत्कारप्राणः कैश्चित् प्रमातृभिः।
स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः॥ — साहित्य दर्पण, 3/2,3.

2. (क) 'सत्वोद्रेक प्रकाशानन्दमय निज संविद् विश्रान्तिलक्षणेन परब्रह्मास्वादसवि[illegible]न भोगेन परं भुज्यते। — अभिनव भारती।
(ख) सत्वोद्रेकप्रकाशानन्द मय संविद् विश्रान्ति सत्त्वेन भोगेन परं भुज्यते।'
— हिन्दी काव्यप्रकाश, उल्लास 4, पृ० 106-7.

तंत्रालोक में सुरा की प्रशंसा करते हुए उसे सत्स्वरूप शुद्ध प्रकाशमय आनन्दमय एवं चिन्मय कहा गया है, वहाँ प्रयुक्त 'प्रकाशानन्द चिन्मयः'[1] विश्वनाथ द्वारा अविकल रूप से स्वीकार किया गया है । इसी प्रकार 'सिद्ध सिद्धान्त संग्रह' नामक ग्रन्थ में 'सुख चमत्कारगमकः प्रकाशप्रोद्बोधः'[2] आदि के द्वारा जिस स्थिति का उद्बोध है, वह भी विश्वनाथ में यथावत् गृहीत है । स्पष्ट ही यहाँ 'प्रकाशप्रोद्बोधः' में प्रकाश का अर्थ ज्ञान है अतएव उनमें जो वेदान्ती दृष्टिदेखी जाती है, साथ ही यह भी अनुभव किया जाता है कि ये वेदान्ती सिद्धान्त के सर्वांङ्गीण निर्वाह में सफल नहीं रहे उसका कारण मुझे तो यही लगता है कि जहाँ ये तंत्र एवं गौरव सिद्धान्त के अनुकूल विचार करने लगते हैं वहाँ वेदान्त से किंचित् विचलित हो जाते हैं । अस्तु इस विषय को विद्वानों के विचार-विमर्श हेतु छोड़कर हम पुनः मूल विषय पर लौटते हैं ।

विश्वनाथ ने अपनी परिभाषा में विशेष रूप से दो शब्दों का प्रयोग किया है । उसमें पहला है 'अखण्ड' और दूसरा है लोकोत्तर चमत्कार प्राण' । अखण्ड[3] शब्द के बारे में उनकी धारणा है कि जब रसानुभूति में विभावादि, रत्यादि (स्थायी भाव) प्रकाश (ज्ञान) सुख (अनुकूल वेदनीय आनन्द) एवं चमत्कार पाँचों तत्त्व मिलकर एकाकार प्रतीत होते हैं तो वह अनुभूति (रूयमानता) अखण्ड कहलाती है । यहाँ यद्यपि इन तत्त्वों का उल्लेख किया गया है किन्तु

---

1. 'रतलक्ष्यं रसः शुद्धः प्रकाशानन्द चिन्मयः ।
   देवतानां प्रियं नित्यं तस्मादेतत् सदा पिबेत् ।।
   — तंत्रालोक 29, आगम पृ० 9.
2. देखिये, टिप्पणी संख्या— 2, पृ० 213
3. सामान्यतः यह शब्द अभिनय के 'एक घन' का रूपान्तर प्रतीत होता है ।

अनुभूति के क्षण में उनका आस्वाद समूढालंबनात्मक होता है, अतः विभावादि से चमत्कार पर्यन्त रूयमानता की उपलब्धि ही एक शब्द में 'रस' है ।

दूसरा विशेष शब्द लोकोत्तरचमत्कारप्राण है, जिसका अर्थ है कि रसानुभूति लोकोत्तर होती है और उसकी परिणति चमत्कार प्रागता में होती है, इसे यों भी कह सकते हैं कि रसास्वाद चमत्कार प्राण है और यह चमत्कृति लोकोत्तर कोटि की है । एक तीसरी व्याख्या इस प्रकार हो सकती है कि लोकोत्तरता अथवा लोकविलक्षणता (असामान्यता) से उत्पन्न चमत्कार ही रस का प्राण है । पहले अर्थ में रस की अनुभूति को लौकिक अनुभूति से भिन्न स्वीकार किया गया है और उसमें अन्तर्निहित चमत्कृति को रस का प्राणतत्त्व माना गया है । दूसरी व्याख्या में रसास्वादजन्य चमत्कार को लौकिक वस्तुओं से उत्पन्न आश्चर्य कुतूहल आदि से भिन्न लोकोत्तर माना गया है । तीसरी व्याख्या में लोकोत्तर एवं चमत्कार के बीच कार्य-कारण सम्बन्ध की कल्पना की गई है । कहना न होगा कि विश्वनाथ इन तीनों व्याख्याओं से परिचित रहे हैं । अनुभूति की अलौकिकता एवं सौन्दर्यानुभूति के अर्थ में चमत्कार का प्रयोग उन्हें अच्छी तरह विदित है । इसीलिए उन्होंने लिखा है कि 'आस्वादन रूप व्यापार एक सर्वथा विलक्षण अलौकिक अनिर्वचनीय व्यापार है । यह व्यापार जैसे कारक हेतु के कृत्तिरूप व्यापार से विलक्षण है, वैसे ही ज्ञापक (व्यंजक) हेतु के ज्ञप्ति(व्यंजक) रूप व्यापार से भी विलक्षण है । वस्तुतः इसीलिए इस आस्वादात्मक व्यापार को (जिससे रस अथवा आस्वाद संभव है) रसन, आस्वादन, चमत्करण आदि-आदि अलौकिक शब्दों द्वारा सूचित किया जाया करता है ।[1]

---

1. 'अत एवाहुः—'विलक्षण एवायं कृतिज्ञप्ति भेदेभ्यः स्वादनाख्यः कश्चिदव्यापारः । अतएव हि रसनास्वादनचमत्करणादयो विलक्षणा एव व्यपदेशाः इति ।

— साहित्यदर्पण : डा० सत्यव्रत सिंह, तृतीय परिच्छेद, पृ० 111-112.

अभिनवगुप्त के ध्वन्यालोक से उद्धृत यह कथन इतना स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त है कि वे शैवाद्वैती चमत्कार से पूर्ण परिचित हैं । अतः डा० नगेन्द्र का यह कथन जिसमें डा० प्रेमस्वरूप गुप्त भी सम्मिलित है कि 'विश्वनाथ ने अभिनवगुप्त की शैव शब्दावली को एकदम छोड़ दिया है । (कदाचित उसके साथ, जैसा डा०प्रेमस्वरूप गुप्त ने लिखा है, उनका सीधा परिचय भी न रहा हो)"[1] स्वीकार करते नहीं बनता ।

तीसरी व्याख्या में रस की उद्दीपक सामग्री (नाट्यरस में) और कवि व्यापार की विलक्षणता (काव्यरस में) का समाहार हो जाता है, जो स्पष्ट ही कुन्तक एवं क्षेमेन्द्र की परंपरा से सिद्ध है।

अभिनवगुप्त ने रस के 'एक घन' परामर्श रूप परमानन्दरूप निर्वृत्ति को चमत्कार कहा था जिसमें केवल अनुभूति के क्षणों की संवेदनीयता का अन्तर्मुखी आकलन था किन्तु विश्वनाथ ने चमत्कार को चित्त विस्तार रूप बतलाया था और उसके पर्याय के रूप में 'विस्मय' का प्रयोग किया । इस संदर्भ में उन्होंने धर्मदत्त द्वारा अपने अलंकार ग्रन्थ में उद्धृत अपने वृद्ध प्रपितामह, रसिक समाज के अग्रणी कवि पंडित शिरोमणि- 'नारायण पंडित' का मत सादर स्मरण किया है । उनका कथन है कि रस का सारतत्त्व चमत्कार है, जिसका सर्वत्र अनुभव होता है इस चमत्कार के सारतत्त्व होने के कारण रस सर्वत्र अद्भुत (अभूतपूर्व लोकोत्तर) होता है । अतः नारायण के मत में रस अद्भुत ही होता है ।[2]

---

1. रससिद्धान्त : डा० नगेन्द्र : पृ० 180.
2. 'चमत्कारश्चित्त विस्तार रूपो विस्मयापरपर्यायः । तत्प्राणत्वेचास्मद्वृद्ध प्रपितामह सहृदयगोष्ठीशिरोरत्नकवि पंडितमुख्य श्रीमन्नारायण पादैरुक्तम् । तदाह धर्मदत्तः स्वग्रन्थे —

'रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्रा प्यनुभूयते ।
तच्चमत्कार सारत्वे सर्वत्रा प्यद्भुतो रसः
तस्मादद्भुतमेवाह कृती नारायणो रसम् ।। इति
साहित्यदर्पणः विश्वनाथ(सत्यव्रतसिंह), पृ० 106.

वस्तुस्थिति यह है कि यद्यपि आचार्यों ने रसास्वाद के क्षण में द्रुति दीप्ति विस्तार आदि मानसिक अवस्थाओं की चर्चा की है, किन्तु चेतना अभिनवता एवं विलक्षणता के साथ समायोजन के क्षण में अपना विस्तार करती है (इसका विस्तृत विवेचन चेतना प्रवाह के प्रसंग में किया जा चुका है) और इस विस्तार के कारण अद्भुत एवं विस्मय की अनुभूति अनिवार्यतः होती है। अतः मुझे यह कहने में कोई आपत्ति नहीं प्रतीत होती कि विश्वनाथ या उनके पूर्वजों ने अद्भुत अथवा विस्मय से चमत्कार को जोड़कर केवल आलंकारिक दृष्टि का परिचय नहीं दिया है अतः डा० नगेन्द्र ने जब इन्हें मात्र अलंकारवाद का समर्थक स्वीकार किया एवं कल्पनाजन्य चमत्कार को विस्मय-जनक मानकर अद्भुत रस से जोड़ा तो संभवतः उनका ध्यान इस ओर नहीं था कि विश्वनाथ एवं उनके पूर्वज चमत्कार की व्याख्या न करके चमत्कार दशा में चेतना प्रवाह का स्वरूप निरूपित कर रहे हैं। रसवादी आचार्य रस की आनन्द-परक व्याख्या की उपेक्षा कैसे कर सकते हैं। विश्वनाथ ने तो धर्मदत्त एवं नारायण पंडित का उद्धरण ही रस के स्वरूप एवं आस्वाद के विवेचन में दिया है, फिर अलंकार से उसका सम्बन्ध क्यों माना जाय ?

अस्तु, जहाँ तक विश्वनाथ ने चमत्कार का सम्बन्ध रस से जोड़ा, वहाँ तक तो वे अभिनवगुप्त के ऋणी हैं किन्तु आस्वाद के क्षणों में विस्तृत चेतना के स्वरूप का विवेचन उनकी मौलिक देन है। ऐसा भी अनुभव होता है कि

---

1. उन्होंने (नारायण पंडित और उनका अनुसरण करनेवाले धर्मदत्त ने)— चमत्कार का आनन्दवाचक अर्थ ग्रहण न कर वैचित्र्यपरक अर्थ ही ग्रहण किया है और यह वैचित्र्यपरक चमत्कार कल्पना का ही चमत्कार है जो अलंकारवाद का प्राणतत्त्व है।

— रस सिद्धान्त : डा० नगेन्द्र,
पृ० 265.

संभवतः चमत्कार शब्द की अर्थविकृति उन दिनों आरंभ हो गई थी और उसके स्थान पर ये आचार्य नये पर्यायवाची शब्दों को प्रचलित करने के लिए विवश हो रहे थे । जो भी हो नारायण पंडित धर्मदत्त एवं विश्वनाथ ये तीनों ही चमत्कारवादी आचार्य हैं । तीनों ही आलंकारिक कल्पनाकल्प चमत्कार के पक्षपाती न होकर रसवादी आचार्य हैं और रस चमत्कार के व्याख्याता हैं, इसमें संदेह नहीं ।

चमत्कार को केन्द्र मानकर एक नवीन दृष्टिकोण से काव्य के सभी तत्वों का आह्लादगत मूल्यांकन तथा एक ही बिन्दु पर सभी तत्वों के समाहार का प्रयत्न सिंगभूपाल (1330 ई०) के दरबारी विश्वेश्वर कविचन्द्र ने किया । इनके काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ का नाम 'चमत्कार चन्द्रिका' है । हम जानते हैं कि विश्वेश्वर से पूर्व चमत्कार को काव्याह्लाद के पर्याय के रूप में स्वीकार किया जा चुका था और सहृदय के साथ कवि भी चमत्कार से जुड़ गया था । दूसरी बात यह थी कि नाटक में सर्वस्व माना जाने वाला रसतत्व अब काव्य में विशेषतः मुक्तक में — गौण हो चला था । ध्वनि संप्रदाय ने यद्यपि रसध्वनि को ही ध्वनि का उत्कृष्ट रूप स्वीकार किया था किन्तु वस्तु एवं अलंकार प्रधान रचनाओं की भी उपेक्षा नहीं की जा सकी थी । यहां तक कि रस ध्वनि में भी सौंदर्यायिक एवं आह्लादजनक तत्वों की उपादेयता को मुक्त कंठ से स्वीकार किया गया था, जिनका मूलतः सम्बन्ध अभिव्यक्ति से है । अतः विश्वेश्वर ने एक पूर्ण किन्तु सर्वसामान्य तत्व का अनुसंधान किया, जिसमें काव्य के प्रधान एवं गौण सभी तत्वों का अन्तर्भाव हो सके और उन्हें यथायोग्य उचित महत्व मिल सके ।

उन्होंने चमत्कार की परिभाषा देते हुए लिखा है कि चमत्कार विद्वानों के हृदय में आनन्द का प्रवाह उत्पन्न करने वाला है । यह आनन्द काव्य में किसी भी-प्रधान या अप्रधान तत्व से प्राप्त हो सकता है । इसके लिए उन्होंने उन सात चमत्कार के आलंबनों का उल्लेख किया है, जो चमत्कार या काव्यास्वाद हैं ।

उनके नाम हैं — गुण, रीति, रस, वृत्ति, पाक शय्या एवं अलंकार ।[1] यदि इन तत्वों में विद्यमान चमत्कार का आकलन किया जाय तो कहना होगा कि पहलीबार विश्वेश्वर ने चमत्कार की इतनी व्यापक परिभाषा प्रस्तुत की । यदि यह कहा जाय तो इससे रस के समानान्तर सौन्दर्य तत्व को भी उचित महत्व मिला तो अनुचित नहीं होगा । किन्तु इससे यह न समझ लेना चाहिए कि विश्वेश्वर ने सभी तत्वों के तुलनात्मक महत्व की उपेक्षा की है । उन्होंने काव्य का चमत्कारी, चमत्कारितर एवं चमत्कारितम रूप से विभाग किया तथा ध्वनि काव्य को सर्वश्रेष्ठ घोषित किया ।[2] उन्होंने काव्य की परिभाषा में भी चमत्कार को ही अवच्छेदक धर्म माना और 'वागर्थौ सचमत्कारौ काव्यं काव्यविदो विदुः' यह परिभाषा प्रस्तुत की ।[3] काव्य के प्रयोजन में उन्होंने विधि-निषेधपरक शिक्षा को महत्व दिया और घोषित किया कि शिक्षा चमत्कारपूर्ण होने पर ही स्थायी हो सकती है ।[4]

---

1. 'चमत्कारस्तु विदुषामानन्दपरिवाहकृत् ।
   गुणं रीतिं रसं वृत्तिं पाकं शय्यामलंकृतिम् ।।
   सप्तैतानि चमत्कारकारणं ब्रुवते बुधाः ।।—चमत्कारचन्द्रिका, विश्वेश्वर, पृ० 2.
2. 'शब्दार्थरूपं तदिदं काव्यं शब्दार्थकोविदैः ।
   त्रैविध्येन चमत्कारि चमत्कारितरं तथा
   चमत्कारितमं चेति प्रविभिद्य निदर्शितम् ।
   शब्दचारुत्वतात्पर्यं चमत्कारीति कथ्यते ।
   वाच्यचारुत्वतात्पर्यं चमत्कारितरं मतम् ।
   व्यंग्यस्य च गुणीभावे तदेवाहुर्मनीषिणः ।। वही, पृ० 73-74.
   प्रत्येयार्थस्य चारुत्वे चमत्कारितमं मतम् ।। वही, पृ० 77.
3. वही, पृ० 3.
4. नृणां विधौ निषेधे च शिक्षा काव्य प्रयोजनम् ।
   शिक्षा च स (न) चमत्कारचोदिता स्थिरतां व्रजेत् ।।—वही, पृ० 2.

ऊपर चमत्कार के जिन सात आलंबनों की चर्चा की गयी है, उनका सुश्लिष्ट चित्र कविता कामिनी के रूप में प्रस्तुत करते हुए विश्वेश्वर ने लिखा है कि – रूयउक्ति एवं रूयअर्थ ही जिसके उज्ज्वल शरीर हैं, रस जिसका प्राण है, जो गुणों के कारण उल्लसित है, जो मनोरंजक रीति एवं वृत्ति से युक्त है, जो परिपक्व अवस्था को प्राप्त करती है, जो अनेक प्रकार के आभूषणों से सुसज्जित है और जो हर प्रकार से निर्दोष है, ऐसी कविता किसी पुण्यकर्मा के हृदय में उसी प्रकार आसीन होती है, जैसे किसी भाग्यवान् की शय्या को पूर्वोक्त प्रकार की कामिनी अलंकृत करती है ।[1] उक्त श्लोक में उज्ज्वल शब्द का दो बार प्रयोग हुआ है जिनका क्रमशः अर्थ है – चमत्कार की स्पष्ट प्रतीति[2] तथा अलंकार का प्रांजल प्रयोग ।[3]

अतः विश्वेश्वर की दृष्टि में चमत्कार काव्य का मुख्य अवच्छेदक तत्त्व है ।

विश्वेश्वर कविचन्द्र के बाद चमत्कार सम्प्रदाय के प्रौढ़ व्याख्याता पंडितराज जगन्नाथ का नाम विशेष उल्लेखनीय है । उन्होंने अपने काव्य लक्षण के परिष्कार में 'चमत्कार' पद का सन्निवेश करते हुए पहलीबार 'चमत्कारत्व रूप जातिविशेष' उल्लेख किया । चूंकि जाति पदार्थ की प्राणप्रद विशेषता होती है, अतः उसका आह्लाद की सत्ता से स्वरूपगत सम्बन्ध स्थापित हो जाता है । विवेचन की

---

1. 'रूयोक्तिरर्थो तनूज्ज्वला रसमयप्राणा गुणोल्लासिनी ।
चेतोरंजकरीतिवृत्तिकलिता पाकं क्रमो बिभ्रती ।।
नानालंकरणोज्ज्वलागतवती(रसवती)सर्वत्र निर्दोषिता ।
शय्यामंचतिकामिनीव कविता कस्यापि पुण्यात्मनः ।।–
– चमत्कारचन्द्रिका, श्लोक 2, पृ० 1.

2. 'भातिस्फुट चमत्कारमनुज्ज्वलामितीरितम्' – वही, पृ० 65.

3. '××× विवक्षितस्यापि चमत्कारस्यातिक्लेशेन प्रतीतेः अस्फुटालंकारत्वाच्चानुज्ज्वलत्वम् ।' – वही, वृत्ति पृ० 66.

सुविधा को ध्यान में रखकर उनके काव्यलक्षण एवं उसके नैयायिक परिष्कार का हिन्दी भाष्य निम्नलिखित है ।

पं० राज के मत में 'रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करनेवाला शब्द काव्य है । यहाँ रमणीयता का अर्थ है ज्ञानगोचरता (सहृदय के ज्ञान का विषय बनना) जो लोकोत्तर आह्लाद को जन्म देती है । (यहाँ लोकोत्तर आह्लाद का विशेषण नहीं है, अपितु) आह्लादगत (आनन्दनिष्ठ) लोकोत्तर एक प्रकार का 'जातिविशेष' है । इसकी सत्ता का प्रमाण सहृदयों का अनुभव है । इसी 'लोकोत्तरत्व' का दूसरा नाम 'चमत्कारत्व' है । इसका कारण है 'चमत्कारत्व' रूप लोकोत्तरत्व जाति से विशिष्ट काव्यार्थ का पुनः पुनः अनुसंधान । इसके लिए आवश्यक है चेतना के धरातल पर धारावाहिक शाब्द-बोधात्मक अनुभवरूप एक भावना-विशेष । इसीलिए 'तुम्हारे घर लड़का पैदा हुआ है, मैं तुम्हें धन दूँगा' जैसे वाक्यों से होने वाली भावना आनन्ददायिनी तो होती है, किन्तु उक्त वाक्य काव्य की परिधि में नहीं आता क्योंकि उसमें लोकोत्तरता (चमत्कारत्व) नहीं है । इस लक्षण का नैयायिक परिष्कार शैली में अनुकथन इस प्रकार है — 'चमत्कारजनक इस प्रकार की भावना का विषय बननेवाले अर्थ के प्रतिपादक शब्द को काव्य कहते हैं । अथवा ऐसे शब्द को काव्य कहते हैं, जिससे प्रतिपादित अर्थ विषयक भावना (पुनः पुनरनुसंधान) का अवच्छेदक (परिचायक) तत्व है चमत्कारजनकता । फलितार्थ के रूप में उन्होंने कहा कि स्वविशिष्टता (समवाय सम्बन्ध से चमत्कार विशिष्टता) से निरूपित जो जनकता (चमत्कार जनकता) उस जनकता के परिचायक (अवच्छेदक) अर्थ को (भावना की ज्ञानधारा द्वारा) विषय सम्बन्ध से काव्यार्थी की भावना से युक्त करने पर जो प्रतिपादकता सम्बन्ध से चमत्कारत्ववत्ता (चमत्कार जातित्व) होती है, वही काव्यत्व है ।"[1]

---

1. "रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम् । रमणीयतायाश्चलोकोत्तराह्लादजनक ज्ञान गोचरता । लोकोत्तरत्वं चाह्लादगतश्चमत्कारत्वापरपर्यायोऽनुभव साक्षिको

इस प्रकार पण्डितराज अपने काव्य लक्षण के फलित रूप में चमत्कारत्व को ही काव्य स्वीकार करते हैं । प्रसंगानुरोध से अपने विवेचन को केवल चमत्कार तक ही सीमित करने पर हमें निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त होते हैं :—

(१) यद्यपि चित्त की क्रमागत अवस्थाओं के अनुरूप ही पंडितराज भी आह्लाद और चमत्कार में अभेद सम्बन्ध स्वीकार करते हैं तथापि वे शैव दार्शनिकों के इस मत से सहमत नहीं हैं कि आनन्द चाहे किसी माध्यम से हो अथवा चेतना के किसी धरातल पर हो (विषयानन्द हो, काव्यानन्द हो या ब्रह्मानन्द) एक सी ही संविद् विश्रान्ति को जन्म देता है । वे आनन्द की सभी कोटियों में स्तरगत एवं अनुभूतिगत भेद को स्वीकार करते हैं और इस भेद का निर्णायक तत्व मानते हैं चमत्कार को । अतः उनके मत में इसीके द्वारा अन्य अनुकूल वेदनीय लौकिक आनन्द की अपेक्षा काव्याह्लाद को पृथक् किया जा सकता है । पुत्र एवं धन की प्राप्ति में आह्लाद है किन्तु लोकोत्तर (चमत्कारजनक) नहीं । संगीत में रमणीयता है किन्तु रमणीय अर्थ नहीं । जिन कलाओं में रमणीय पदार्थ की उपस्थिति होती है, वहाँ शब्द नहीं होता । अतः काव्यानन्द चमत्कारकारी आह्लाद के समर्थक रमणीय अर्थ प्रतिपादक शब्दरूप काव्य से उत्पन्न होने के कारण अन्य प्रकार के आह्लादों से भिन्न हो जाता है ।

जातिविशेषः कारणं च तदवच्छिन्ने भावनाविशेषः पुनः पुनरनुसंधानात्मा । 'पुत्रस्तेजातः' 'धनंते दास्यामि' इति वाक्यार्थ धी जन्यस्याह्लादस्य न लोकोत्तरत्वम् । अतो न तत्रिमन् वाक्ये काव्यत्व-प्रसक्तिः । इत्थं च चमत्कारजनक भावना विषयार्थ प्रतिपादक शब्दत्वम्, यत्प्रतिपादितार्थ विषयक भावनात्वं चमत्कारजनकतावच्छेदकं तत्त्वम् स्वविशिष्टजनकतावच्छेदक अर्थ-प्रतिपादकता संसर्गेण चमत्कारत्व वत्त्वमेव काव्यत्वमिति फलितम् ।

— रसगंगाधरः जगन्नाथ (चौखम्बा),

पृ० १०-१२.

(2) वे काव्यानन्द में भी स्वजातीय विलक्षणता को स्वीकार करते हैं, इसीलिए रसात्मक काव्य के अतिरिक्त वस्तु अलंकार प्रधान काव्य में भी काव्यता की सिद्धि हो पाती है।[1] काव्य के प्रभेदों की कल्पना भी इसी चमत्कार के तारतमिक भेद पर निर्भर है।[2] इन सबके लिए उन्होंने चमत्कार के जातिगत विशेषरूप – चमत्कारत्व की कल्पना की।

यह जाति नैयायिकों द्वारा स्वीकृत एक पदार्थ विशेष है जिसके तीन अवच्छेदक हैं – नित्य, एक और अनेकानुगत। जो एक ही तत्व समान जातीय अनेक पदार्थों में नित्य रूप से अनुगत हो, उस सामान्य तत्व को जाति कहते हैं।[3]

इस प्रकार चमत्कारत्व रूप जातिविशेष के स्वीकार कर लेने पर जहाँ एक ओर काव्यानन्द अन्य प्रकार के आनन्दों से भिन्न प्रतिपादित हो जाता है, वहीं वस्तु अलंकार आदि के चमत्कार से युक्त रचना को भी काव्यत्व की परिधि में बैठने का अधिकार मिल जाता है। अतः चमत्कार को अवच्छेदक तत्व मान लेने पर काव्य का फलक विस्तृत हो जाता है और काव्य के उस बहुत बड़े भाग को जिसे रसवादियों ने काव्य जाति से बहिष्कृत कर दिया था, पुनः स्वीकृति मिल जाती है।

(3) विश्वनाथ ने लौकिक चमत्कार से भेद करने के लिए लोकोत्तर को चमत्कार का विशेषण बनाया था, किन्तु पंडितराज ने लोकोत्तरता को ही

---

1. 'यत्तु रसवदेव काव्यमिति साहित्यदर्पणे निर्णीतम्, तन्न, वस्त्वलंकार प्रधानानाम् काव्यत्वापत्तेः।' इत्यादि। – रसगंगाधर, पृ० 25-26.
2. 'तच्चोत्तमोत्तमोत्तम मध्यमाधम भेदाच्चतुर्धा' आदि। – वही, पृ० 36 से आगे।
3. 'नित्यमेकमनेकानुगतं सामान्यम्'। सामान्यं जातिः' – तर्कसंग्रह, पृ० २७

चमत्कारत्व की संज्ञा दी क्योंकि उनके मत में लौकिक एवं आध्यात्मिक दोनों धरातलों पर अनुभूय मान आनन्द का व्यावर्तक 'गतिविशेष' से हो जाता है । लोकोत्तर को ही चमत्कार स्वीकार कर लेने पर नूतनता, अतिशयता, अपूर्वता आदि समस्त विस्मयोद्रेकी तत्वों का समाहार स्वतः हो जाता है क्योंकि वे सामान्य लोकानुभव की अपेक्षा भिन्न कोटिक (लोकोत्तर) अनुभव के बोधक हैं । अतः इनकी लोकोत्तरता मानसशास्त्रीय अवधान के आकर्षक तत्वों को आत्मसात् करने में समर्थ है । (देखिये – 'चेतना प्रवाह एवं विस्मयतत्व') ।

(4) इनके चमत्कार में अनुभूति ज्ञान एवं भावना का त्रिकोण चमत्कार के वृत्त से आवृत है । रमणीयता चमत्कारि... आह्लाद को उत्पन्न करती है । इस रमणीयता की अनुभूति दो छोरों से जुड़ी हुई है, एक है रमणीयता का बोधात्मक रूप जो ज्ञानगोचरताजन्य है तथा दूसरा है आह्लादजनकता जिसका सम्बन्ध अनुभूति से है । इस ज्ञानगोचरता तथा आह्लादजनकता को जोड़नेवाला तत्व है भावना । इस प्रकार जगन्नाथ पहले आचार्य हैं, जो काव्य में बौद्धिकता और भावुकता का सुन्दर समन्वय स्वीकार करते हैं । अतः सौंदर्यशास्त्रीय शब्दावली में सौंदर्यबोध और सौन्दर्यानुभूति के समानान्तर वस्तुपक्ष तथा अनुभूतिपक्ष का उचित समन्वय हो जाता है । फिर भी चमत्कार भावना का विषय है अतः उसकी सहृदय-निष्ठता सुरक्षित ही रहती है ।

(5) काव्य के फलित लक्षण को चमत्कार से आरम्भ करके चमत्कार पर ही समाप्त किया गया है, जिसके कारण काव्य में अनुभूयमान चमत्कार ही काव्य का एकमात्र भेदक तत्व बन जाता है । अतः उनकी दृष्टि में काव्यमात्र रसात्मक न होकर चमत्कारात्मा है । इस बात को काव्य लक्षण में तो 'चमत्कारत्व सत्त्वमेव' में 'एव' पद के सन्निवेश द्वारा व्यक्त किया है तो अन्यत्र उन्होंने स्पष्ट ही कहा है, कि काव्य का प्राणतत्व चमत्कार है ।[1]

---

1. 'काव्यजीवितञ्चमत्कारित्वं चावशिष्टमेव' – रसगंगाधर, आनन-1, पृ० 23.

(6) काव्य के भेदोपभेदों का भी विनिगमक तत्त्व उन्होंने चमत्कार को ही माना, इसका विवेचन अन्यत्र किया जा चुका है ।

इस प्रकार पण्डितराज ने चमत्कार को काव्य का प्राणतत्त्व स्वीकार करके संप्रदाय की परिनिष्ठित स्थापना कर दी । अतः जब 1729 ई० में मथुरामिश्र गंगेश के पुत्र हरिप्रसाद ने अपने ग्रन्थ काव्यालोक (पिटर्सन सीज रिपोर्ट-III, पृ० 356)[1] में स्पष्ट रूप से चमत्कार को काव्यात्मा[2] स्वीकार किया तो हमें आश्चर्यान्वित होने की कोई आवश्यकता नहीं । ये जगन्नाथ से तो पूरी तरह प्रभावित हैं ही क्योंकि काव्य लक्षण में 'शब्दार्थ-साहित्य के स्थान पर 'विशिष्ट शब्दरूप' कहते हैं । काव्य की आत्मा चमत्कार को मानते हैं तथा प्रतिभा को काव्य का कारण मानते हैं । जगन्नाथ ने भी 'केवला प्रतिभा'[3] को काव्य का कारण माना है । हरिप्रसाद ने अपने ग्रन्थ का सात खण्डों में जो विभाजन किया है, उससे यह अनुमान भी लगाया जा सकता है कि वे स्यात् विश्वेश्वर की भाँति चमत्कार के सात आलंबनों को स्वीकार करते रहे हों । अस्तु, ग्रन्थ के अभाव में अनुमान के सहारे अधिक कहना उचित नहीं ।

इसी क्रम में कुछ अन्य आधुनिक संस्कृत साहित्य शास्त्रीय ग्रन्थों का भी उल्लेख कर देना उचित है । यद्यपि इन ग्रंथों में चमत्कार सम्बन्धी कोई मौलिक तत्त्वान्वेषण नहीं है फिर भी सांप्रदायिक परंपरा के विकास में तो इनका योगदान है ही । विद्याराम ने रसदीपिका नामक ग्रन्थ में काव्य का लक्षण

---

1. डा० राघवन् : सम कन्सेप्टस् आफ दि अलंकार शास्त्राज : पृ० के आधार पर ।
2. 'विशिष्ट शब्द रूपस्य काव्यस्यात्मा चमत्कृतिः ।
   उत्पत्ति भूमिः प्रतिभा मनागत्रोपपादितम् ।।' वही, पृ०
3. 'तस्य च कारणं केवला कविगता प्रतिभा' —रसगंगाधर, प्रथम आनन, पृ० 27.

करते हुए चमत्कार को एक विशेष तत्त्व के रूप में स्वीकार किया है ।[1] उनकी दृष्टि में रस और अलंकार से मुक्त काव्य ही चमत्कारकारी हो सकता है ।[2] यह उल्लेखनीय है कि चमत्कार की व्याख्या में रस एवं अलंकार दोनों की समान स्वीकृति काव्य में कलातत्त्व एवं भावतत्त्व के समान मूल्य को प्रतिष्ठित करती है । एक विशेषता यह भी है कि उन्होंने काव्य का विभाजन चमत्कार के आधार पर न करके ध्वनि या व्यंग्यार्थ के आधार पर किया है और उसके उत्तम, मध्यम, अधम – तीन भेद स्वीकार किये हैं ।[3]

इसके विपरीत शिशु प्रबोध काव्यालंकार के लेखक पुंजराज ने काव्यलक्षण में तो 'चारुत्व'[4] पद का सन्निवेश किया है, और शब्द चारुत्व तथा अर्थचारुत्व का दृष्टान्तपूर्वक विवेचन किया है[5] किन्तु उत्तम काव्य उसे माना है जो चमत्कारकारी हो ।[6]

अलंकार में भी उन्होंने अवच्छेदक विशिष्ट धर्म के रूप में चमत्कार को स्वीकार किया है[7] और इसी दृष्टि से अतिशयोक्ति को सभी अलंकारों का मूल

---

1. 'यस्तु शब्दार्थसम्बन्धश्चमत्कार करोऽनघः ।
   काव्यं तद्गुण वत् xxx ४ ।'—रसदीर्घिका विद्यारम, 5/2, पृ० 55.
2. 'अत्र चमत्कारत्वम् रसालंकार युक्तत्वम्' — वही, पृ० 55.
3. 'उत्कृष्टो यस्य व्यंग्योऽर्थो वाच्यस्तत्काव्यमुत्तमम्, वही 5/7 पृ० 56.
4. 'चारुत्वेनमिथः स्पर्धामादधानाविव स्फुटम् ।
   शब्दार्थौ गुणसम्पन्नावदोषौ काव्यमुच्यते ।।'
   —शिशुप्रबोध काव्यालंकारः पुंजराज, 1/9, पृ० 2.
5. वही, 1/10 तथा 1/11, पृ० 2.
6. रसभाव तदाभास गुणादीनां प्रदृश्यते ।
   यस्मिन् पोषश्चमत्कारकारी काव्यं तदुत्तमम् ।।— वही, 1/19.
7. 'जातिः समाधिः (धि)सयोगाच्चमत्कारत्वमुपेयुषी
   पुष्णात्यर्थस्य सौभाग्यं सामुख्यालंकृतिर्मता ।' — वही, 8/1.

माना है ।[1] अतिशयोक्ति के भी उन्होंने लौकिक और अलौकिक दो भेद किये हैं ।[2] रसवदलंकार में भी उन्होंने चमत्कार का प्रमुख रूप से उल्लेख किया है ।[3] इस प्रकार यद्यपि परवर्ती संस्कृत साहित्य शास्त्र चमत्कार का उल्लेख प्रायः सौन्दर्यवर्द्धक तत्त्व के रूप में (केवल कलात्मक चमत्कार को मूल कारण के रूप में) स्वीकार कर लेता है फिर भी संप्रदाय के विकासात्मक इतिहास की कड़ी के रूप में इसका महत्त्व अक्षुण्ण है ।

संस्कृत साहित्यशास्त्र के आकर ग्रन्थों में चमत्कार संप्रदाय की अन्वीक्षा के उपरान्त उन लक्ष्य ग्रन्थों का भी उल्लेख आवश्यक प्रतीत होता है, जिनमें कवि ने चमत्कार को ही आधार बनाकर काव्य रचना की । इससे एक ओर चमत्कार के स्वरूप की अवधारणा सुगम हो सकेगी और दूसरी ओर चमत्कार संप्रदाय के व्यापक महत्व की चर्चा हो सकेगी । जहां तक मेरी जानकारी है, इस प्रकार की रचनाओं में 'जगद्द्धर भट्ट' की 'स्तुति-कुसुमांजलि' का महत्त्वपूर्ण स्थान है ।

जगद्द्धर भट्ट सिद्धसरस्वतीक महाशैव कवि हैं । काश्मीरक शैव संप्रदाय से आलोकित उनकी विलक्षण कवित्व शक्ति पाठकों को द्रवित चमत्कृत एवं विसंज्ञ विभोरता प्रदान करने में पर्याप्त सक्षम है । आचार्य क्षेमेन्द्र तो इतने से ही संतुष्ट हो गये थे कि यदि काव्य में एक भी चमत्कारिक पद होता है, तो वह मुद्रिका में मणि की भांति चमक उठता है किन्तु कवि चक्रवर्ती जगद्द्धरभट्ट ने अपनी अपूर्व प्रतिभा के द्वारा यह सिद्ध कर दिया कि उनकी रचना में

---

1. 'सौन्दर्यपुष्टिकृद्भूषातिशयोक्तिर्हि वस्तुनः ।
धर्ममात्रमलंकार्य स्थितमुत्कृष्यते यया ।।' — वही, 8/1.

2. 'वही, 8/4.

3. 'आभासमान रसवद् वर्णनीय चमत्कृतिः ।
अर्थस्य दृश्यते यत्र रसवत्तद्विभूषणम् ।।'
— वही, 8/173.

प्रत्येक शब्द अपने स्थान पर बहुमूल्य मणि की भाँति जगमगा रहा है । इसीलिए वे सरस्वती की वन्दना करते हुए कहते हैं कि श्रेष्ठ कवियों की वाणी के उस परिपाक की जय हो जिसका मनन करने के पश्चात् सहृदयों के सम्मुख कोई विलक्षण सौन्दर्य सम्भृत अनुपम चमत्कार का लोक खुल पड़ता है । उसके रस से आसिंचित भावुकों के हृदय में बस यही अमृत है, यही कैवल्य है, यही परमप्रेमास्पद धाम है, यही उच्चपद है, इस प्रकार की मतियाँ उत्पन्न होती हैं —

'चमत्कारोत्कर्षं कमपि कमनीयं विभृशतां
दिशन्ती सा काचिज्जयति कवि वाचां परिणतिः ।
यदा सूते चेतस्यमृतमिति निःश्रेयसमिति
प्रियं धाम्नेत्युच्चैः पदमिति समुद्यन्ति मतयः ।।
(सूक्ति कुसुमाञ्जलिः, श्लोक 25, पृ० 99)

उपर्युक्त श्रेष्ठ सहृदयों के अतिरिक्त ऐसे लोग जो अर्थ का मनन नहीं कर सकते, रस चर्वणा में भी जिनकी गति नहीं है, वे भी यथार्थ क्रम और रचनाओं से परिपूर्ण नवीन साहित्यिक उक्तियों के श्रवणमात्र से ही अलौकिक चमत्कार प्राप्त करते हैं, जैसे अमृत को जिह्वा भाग में रखते ही अतीव चमत्कार पैदा होता है, वैसे ही महाकवि की श्लोक-उक्ति के सुनने मात्र से ही भावुकों के हृदय में विलक्षण चमत्कार पैदा होता है ।[1] अतः जो लोग शब्द का अर्थ मात्र भी नहीं जानते वे भी जिन मूर्छनाओं को कानों से हरिणों के समान पान करते हुए चित्र लिखे से हो जाते हैं, उन महाकवियों की वाणी वस्तुतः वन्दनीय है ।[2] इसके लिए आवश्यक है अविच्छिन्न रूप से

---

1. येषामचर्वितरसापि चमत्कृतीति वर्णैः कृतैव भणितिर्मधुरा सुधेव —
—सूक्तिकुसुमाञ्जलिः 5/5, पृ० 86.

2. शब्दार्थमात्रमपि ये न विदन्ति तेऽपि
यां मूर्छनामिव मृगाः श्रवणैः पिबन्तः ।
संजातसंकरणप्रसरा भवन्ति
चित्रीयिता इव कवीन्द्रगिरं नुमस्ताम् ।।—वही, 5/17, पृ० 94.

टपकते हुए मधुबिन्दुओं से गर्भित ग्रन्थ में अतिसुन्दर, निरौंध पदों की रचना। उनका अनुभव है कि जब महाकवि की जिह्वा रूपी रंगभूमि में प्रौढ़ उक्ति विलास रूपी क्रीड़ा में अनुराग रखने वाली वाक् देवी का नर्तन होता है, तो चमत्कृत सहृदयों की भृकुटि, उनके कानों के कुंडल एवं मस्तक आदि मानों नृत्य करने लगते हैं। इतना ही नहीं पुण्यात्मा कवियों के नेत्र अपने काव्य का विचार कर (उसके अलौकिक रसास्वाद से चमत्कृत होकर) अर्द्धनिमीलित हो जाते हैं तथा अपनी स्वाभाविक चंचलता छोड़ देते हैं। दूसरी ओर उनकी भृकुटियाँ आलस्य त्यागकर उन नेत्रों की चंचलता ग्रहण कर लेती है।[2] यहाँ चमत्कार के अनुभावों का सुन्दर निरूपण है। जहाँ सामान्य अद्भुत दर्शन आदि में नेत्र विकास मुख खुल जाने आदि का उल्लेख है वहीं कविवर जगद्धरभट्ट ने रस के आस्वादजन्य चमत्कार में स्थिर एवं अर्द्धनिमीलित दृष्टि को महत्त्व दिया। भाव विभोरता के उस शान्त क्षण का अनुभव कभी-कभी फड़क उठने वाली भौहों से होता है। वस्तुतः कवियों की वाणी के शब्द सरस्वती के चरणों में बँधे हुए उस नूपुर के नाद हैं, जो कवि के मुख पंकज रूपी नाट्यस्थल में नृत्य करते समय गूँज उठते हैं।[3] इस बात से तो सभी सम्मत हैं यदि कवि की उक्ति देवी निश्चय ही अतिमधुर रस बरसाती हो तो संसार की अन्य सभी उत्तम वस्तुएँ फीकी पड़ जाती हैं।[4]

---

1. स्तुतिकुसुमांजलि, 5/4, पृ० 86.
2. वही, 5/7, पृ० 88, 5/14 पृ० 93 तथा 5/27, पृ० 100.
3. वही, 5/13, पृ० 92.
4. वही, 5/19, पृष्ठ 92 और
   वही, 5/26, पृष्ठ 100.

चमत्कारवादी कवि जगद्धर भट्ट ने चमत्कारितम काव्य के घटक तत्वों का उल्लेख करते हुए कहा है कि सत्कवि का ओजस्वी (ओजगुण सम्पन्न), मधुर (माधुर्य गुण युक्त), प्रसाद विशद (प्रसाद गुण से सम्पन्न), संस्कार से युक्त लोकशास्त्र और काव्यादिकों के परिशीलन से उत्पन्न हुई व्युत्पत्ति के द्वारा विशुद्ध अभिधा, लक्षणा और व्यंजना से विशिष्ट वैदर्भी रीति से संयुक्त उचित अर्थों द्वारा अलंकारों से अलंकृत, सुन्दर वृत्तों में स्थित, मृद्वीका आदि पाकों से परिपाकवान, निस्तर रस गर्भ, कैशिकी आदि सुन्दर वृत्तियों से संवलित और अप्राकृत संस्कारवती वाणी में प्रस्तुत सूक्ति क्रम काव्यजगत में प्रशंसनीय होता है।[1] ऐसी वाणी किसी भाग्यशाली को पूर्व जन्म के अनन्त पुण्यों के परिणामस्वरूप कल्पलता की भांति प्राप्त हो जाया करती है।[2]

जगद्धर भट्ट का दृढ़ विश्वास है कि भाव और कला दोनों से सम्पन्न कवि की वाणी सहृदय को वश में कर लेती है और वह थोड़ी देर के लिए विशुद्ध भाव से काव्यार्थ साधना में तन्मय हो जाता है। वैदर्भी रीति से सम्पन्न, पद एवं अर्थ दोषों से रहित, प्रसाद माधुर्य आदि गुणों से रहित, सुन्दर छन्दों वाली, रस से संवलित, अलंकारों से अलंकृत, वाणी भगवान शंकर को भी उसी प्रकार वशीभूत कर लेती है, जैसे कोई गुणवती सदाचारिणी स्त्री अपने प्रियतम पति को वश में कर लेती है।[3]

---

1. 'ओजस्वी मधुरः प्रसादविशदः संस्कारशुद्धो गिरा—
भक्ति-व्यक्तिविशिष्टरीतिसुचितैर्युक्तालंकृतिः।
वृत्तस्थः परिपाकवानविरसः सद्वृत्तिरप्राकृतः
शस्यः कस्यन सत्कवेर्भुवि यथा तस्यैव सूक्तिक्रमः।।' वही, 5/31, पृ0 102.

2. 'प्राप्ता कल्पलतेव चेद्भगवती वागीश्वरी कैरपि।
प्राक्पुण्यैः स्व परोपकारकरण प्रौढा पुनर्दुर्लभा।।'—वही, 5/32, पृ0 103.

3. 'रम्यरीतिरनद्या गुणोज्ज्वला, चारुवृत्तसुचिरा स्वान्विता,
रंजयत्यियमलंकृता मनः स्वामिनः प्रणयिनी सरस्वती।" वही, 1/3, पृ0 5.

काव्य में चमत्कार कवि की प्रतिभा और कला पर ही निर्भर है, इसलिए उन्होंने महाकवियों की वाणी में वर्ण नियोजना का शुद्ध शुद्ध होना ही चमत्कार का गमक माना है, जिसमें रसानुकूल सुन्दर अक्षरों का न्यास होता है, जिसमें काव्य परिपाटी की अभिव्यक्ति निर्दोष है, जिसकी सर्गबंध रचना प्रसिद्ध है[1]। ऐसे कवियों की वाणी पूर्णचन्द्रमा से भी अधिक सुन्दर, मनोहारिणी, बालांगना के अति सुमधुर, कथालाप रूप अमृत से भी अधिक प्रीतिकारिणी, मुक्ताहार से भी अधिक मनोहर एवं बाल मयूर के वचनों से भी अधिक कानों में अमृत टपकाने वाली होती है।[2] ज्यों ही सुकवियों की वाणी का रहस्य हृदय में प्रकाशित होता है, त्यों ही एक ऐसा अलौकिक आह्लाद मन को प्रसन्नता से भर देता है, जो केवल अपने अनुभव के द्वारा ही जानने योग्य है।[3] वे काव्य में जहां 'मधुरसार्द्रा भारती'[4] के अनन्यउपासक हैं वहीं उक्ति वैचित्र्य और कलात्मक चमत्कार के भी पोषक हैं।[5] अतएव काव्य में रस के महत्त्व को स्वीकार करतेहुए उनका कथन है कि भक्तों के मुखकमल में मधु के समान सुमधुर रस से आर्द्र सरस्वती नित्य ही विहार करती है तथा अलंकारों के विषय में वे कहते हैं कि वे धन्यात्मा पुरुष हैं, जिनकी पतिव्रता सरस्वती अभिनव उक्ति रूपी मुक्ताहार से पूर्ण अलंकृत होती है। उनका विश्वास है कि पवित्र और मनोहर क्रमवाली, अमृत रस से सिंचित अक्षरों वाली, शरत्काल के पूर्णचन्द्र की किरणों के समान कान्तिमयी, मालती पुष्प के विकसित कुड्मलों जैसी अतिशय कोमला सत्कवियों की प्रौढोक्तियां निश्चय ही सर्वोत्कृष्ट हुआ करती हैं[6]।

---

1. स्तुतिकुसुमांजलि, 3/57, पृ० 73.
2. वही, 3/58, पृ० 74.
3. वही, 7/2, पृ० 114.
4. वही, 26/35, पृ० 581.
5. 'अनन्यगायस्यनवोक्ति मौक्तिकैरलं करोति प्रचुरा सरस्वती'
   — वही, 19/23, पृ० 625.
6. वही, 10/85, पृ० 266.

यह काव्य ऐसे-वैसे कवि का नहीं है । क्योंकि अत्यन्त पवित्र, कानों में अमृत की वर्षा करनेवाली, औपचारिक वक्रता से युक्त एवं गुणों को धारण करनेवाली सूक्ति की अवतारणा केवल विशुद्ध वंश वाले एवं विशुद्ध विद्या सम्पन्न कवि ही कर सकते हैं ।[1]

यद्यपि वे काव्य के लिए प्रतिभा एवं अभ्यास[2] दोनों को समान महत्त्व देते हैं तथापि कवि प्रतिभा निश्चय ही अधिक चमत्कारिणी होती है ऐसा उनका स्पष्ट मत है, तभी तो वे कहते हैं कि यदि कवि में उक्तिवैचित्र्य है तथा कथन भंगिमा है तो बार-बार कही हुई बात जो स्वभावतः अत्यन्त नीरस हो जाती है, कवि प्रौढोक्ति के कारण नित्य नवीन रस प्रवाहित करती है ।[3] अतः जब सूक्ति के व्याज से कवि के मुख से वर्णप्रिया सुधा की भाँति कविता की लहरी प्रवाहित होती है तो वह सहृदयजनों[को] आश्चर्यमिश्रित मुस्कान से भर देती है ।[4]

जगद्धरभट्ट काश्मीरक शैव परंपरा के कवि हैं। जिस प्रकार परमात्मा की इच्छा शक्ति जगत में विलक्षण चमत्कार उत्पन्न करती है, जिसके लिए तुलसी को 'केशव कहि न जाइ का कहिए' कहना पड़ा उसी प्रकार कवि की इच्छा शक्ति काव्य में चमत्कार उत्पन्न करती है । फलतः काव्य में कवि की प्रतिभा से उत्पन्न चमत्कार ही काव्य है ।

अतः स्पष्ट है कि जगद्धरभट्ट चमत्कार को ही काव्य का निर्धारक तत्व स्वीकार करते हैं और भाव तथा शिल्प दूसरे शब्दों में कुन्तक की 'तत्व और निर्मिति'

---

1. (क) स्तुतिकुसुमांजलि, 8/26, पृ० 152.
2. (क) वही, 15/2, पृ० 413.
   (ख) वही, 15/1, पृ० 413.
3. वही, 16/26, पृ० 411.
4. वही, 17/2, पृ० 444.

दोनों को समान महत्त्व देते हैं । सत्य यह है कि निर्मिति के माध्यम से ही तत्व की उपलब्धि सुलभ हो पाती है । इसीलिए कवि की सूक्ति का ही उत्कर्ष चमत्कारजनक होता है ।

इस प्रसंग में कृष्णभक्त हरिवंश महाप्रभु का नाम भी सादर उल्लेखनीय है, जिन्होंने अद्भुत को महारस मानकर राधा-सुधा-निधिस्तव नामक ग्रंथ की रचना की है, उक्त ग्रंथ की रस कुल्या टीका के लेखक का विचार है कि इस ग्रन्थ में अद्भुत महारस का पूर्ण परिपाक है । श्री हरिवंश महाप्रभु ने उक्त ग्रंथ में राधा के रूप लावण्य और विलास सबको एक आश्चर्यपूर्ण चमत्कृति से युक्त करके देखा है ।[1] मूलतः उनकी दृष्टि आलंबनगत सौंदर्य एवं तज्जन्य चमत्कार से प्रभावित है अतः हरिलाल 'व्यास' ने जब सौंदर्य के प्रभाव के लिए 'नवनवत्वेन चमत्कृति युक्तम्'[2] का उल्लेख किया तो सौंदर्य के वास्तविक स्वरूप के साथ उनके चमत्कारकारी प्रभाव का भी विश्लेषण हो गया । इसी क्रम में हरिदेव मिश्र की 'शृंगार संजीवनी' का उल्लेख भी अप्रासंगिक न होगा जिसमें राधा की दृष्टि को चमत्कार के संस्पर्श से युक्त बताते हुए उसके अनुभावों का व्यापक चित्रण किया जिसमें विशेषतः कुतूहल, उत्कंठा स्तंभ आदि का उल्लेख है ।[3]

जहाँ तक हिन्दी साहित्य का प्रश्न है, हमें चमत्कार संप्रदाय का कोई स्पष्ट विकास दृष्टिगत नहीं होता, किन्तु यदि ध्यानपूर्वक देखें तो भक्तिकाल

---

1. 'सा लावण्यचमत्कृतिर्नववयो रूपंचतन्मोहनम् ।
   तत्तत् केलि कलाविलासलहरी चातुर्यमाश्चर्यभूः ।।
   — श्रीराधासुधानिधिस्तवः, हरिवंशमहाप्रभु, पृ० 30.
2. वही, रसकुल्या टीका, हरिलालव्यास, पृ० 268.
3. शृंगारसंजीवनी, हरिदेवमिश्र, श्लोक 5-6, पृ० 1-2.

से पूर्व सिद्धों और संतों में तथा भक्तिकाल में भी अनेक ऐसे संकेत मिलते हैं जिनसे तत्व एवं निर्मिति दोनों धरातलों पर चमत्कार को प्रकारान्तर से स्वीकृत किया गया है । जब भक्तों ने रस के आध्यात्मिक स्वरूप को उभारा तो उन्होंने ब्रह्म के रसात्मक स्वरूप के साक्षात्कार से चित्त के चमत्कृत होने का वर्णन भी । और जब वे निर्मिति के धरातल पर उतरे तो दृष्टिकूट जैसी शैली में कलात्मक चमत्कार की चरम परिणति कर दी । इन कवियों ने रस के अन्तश्चमत्काररात्मक अखण्ड आनन्द का स्वयं भी अनुभव किया और अनुभूति के उन सघन क्षणों में जब वे एक अनिर्वचनीय अभिव्यक्ति के माध्यम से उसे भी व्याप्त कर देते हैं तो 'नूतनम्-नूतनम् पदे-पदे' कहने के लिए विवश होना पड़ता है । सूरदास, नन्ददास, तुलसीदास आदि में इसीप्रकार के चमत्कार के दर्शन होते हैं ।

आचार्य केशव तो संस्कृत आचार्यों की परंपरा से पूर्ण प्रभावित हुए हैं, अतः उन्होंने काव्य की रमणीयता हेतु संस्कृत आचार्यों ने जिन तत्वों की महिमा बतायी है, उन सबका समावेश अपनी रचनाओं में कर लिया है । इसीलिए उनकी रचनाओं में भाव और कला दोनों की चमत्कारपूर्ण समायोजना दिखाई पड़ती है । रीतिकाल के अन्य आचार्य भी इसी प्रकार अपनी-अपनी दृष्टि से भावपक्ष और कलापक्ष की महिमा का उद्घोष करते रहे । उनके विवेचनों से स्पष्ट है कि वे चारुत्व, रमणीयता या चमत्कार का दर्शन सामान्यतः उक्ति सौन्दर्य में मानते रहे हैं क्योंकि रीतिसाहित्य में मौलिक तात्त्विक चिंतन प्रायः नगण्य रहा है । अतः एक लम्बे अन्तराल तक ऐसा कोई ग्रन्थ नहीं मिलता जिसे हम हिन्दी साहित्य के चमत्कार सम्प्रदाय की प्रवर्तक कड़ी के रूप में स्वीकार कर सकें ।

आधुनिक काल में सेठ कन्हैयालाल पोद्दार ने 'काव्य-प्रकाश' के आधार पर रस के सम्बन्ध में चर्चा करते हुए अनेक बार चमत्कार शब्द का प्रयोग किया

और उसे ही आस्वादनीय पदार्थ माना है ।[1]

श्री हरिऔध जी ने भी मम्मट का अनुवाद करते हुए लिखा है कि पानक रस के समान जिनका आस्वाद होता है, जो स्पष्ट झलक जाते हृदय में प्रवेश करके व्याप्त होकर सर्वांग को सुधारस सिंचित बनाते, अन्य वेद्य विषयों को ढँक लेते और ब्रह्मानन्द के समान अनुभूत होते हैं, वे ही अलौकिक चमत्कार सम्पन्न शृंगार आदि रस कहलाते हैं ।[2] इस प्रकार पोद्दार जी एवं हरिऔध जी ने रस के प्रसंग में प्रमाता के अन्तश्चमत्कार की चर्चा मम्मट के साक्ष्य पर की है, जिससे स्पष्ट है कि इनकी दृष्टि तत्त्वगत चमत्कार की ओर है ।

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी हिन्दी के उन समीक्षकों में से हैं जो रसानुभूति को काव्यानन्द एवं तज्जन्य चमत्कार का मूलाधार मानते हैं तथा वे उचित वैचित्र्यजन्य चमत्कार से उद्भूत आनन्द को कम महत्व नहीं देते । उनका कथन है कि "जिस पद्य में अर्थ चमत्कार नहीं वह कविता नहीं"[3] किन्तु एक दूसरे प्रसंग में वे कहते हैं यदि कविता में चमत्कार नहीं– कोई विलक्षणता नहीं तो उससे आनन्द की प्राप्ति नहीं हो सकती"।[4]

---

1. (क) काव्य में रस ही दुर्लभ और सर्वोत्तरि चमत्कार आस्वादनीय पदार्थ है ।
   – जगदीशलाला पोद्दार, कल्पद्रुम भाग-1, रस मंजरी, संशोधन संस्करण, पृ० 119.
   (ख) रस चमत्कार वास्तव में ही है – वही, पृ० 173.
2. रसकलश, द्वितीय संस्करण, पृ० 9.
3. रसज्ञ रंजन, पृ० 20.
4. संचयन (महावीर प्रसाद द्विवेदी, सम्पादक – प्रभातशास्त्री, पृ० 66.)

ऊपर लिखित उद्धरणों में काव्य का अर्थ चमत्कार जहां ध्वनि सिद्धांत के अर्थ सौन्दर्य की ओर संकेत करता है वहीं 'विलक्षणता के चमत्कार' से उनका आशय निर्मिति से उत्पन्न प्रमाता के अन्तश्चमत्कार से है । मेरे विचार में काव्य में शब्दार्थगत चमत्कार और उक्ति वैचित्र्यजन्य चमत्कार दोनों का समान महत्व स्वीकार करने के कारण द्विवेदी जी चमत्कारवादी आचार्यों की परंपरा में अपना एक विशिष्ट महत्व रखते हैं ।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल मुख्यतः काव्य के लोकमंगल विधायक तत्व के ही पक्षधर रहे हैं अतः मंगल शक्ति से सम्पन्न चरित्रों के लोकोत्तर शील के निरूपण का चमत्कार ही उन्हें विशेष प्रिय है । इसके अतिरिक्त वे रस के अलौकिक आह्लाद को भी निर्भ्रान्त रूप में स्वीकार करते हैं, किन्तु उक्ति वैचित्र्य को वे तभी महत्व देते हैं, जब वह भावानुकूल और भावपोषक हो । उनका कथन है कि "उक्ति की वहीं तक बचनभंगी या वक्रता के सम्बन्ध में हमसे कुन्तल का 'वक्रोक्ति काव्यजीवितम्' मानते बनता है, जहां तक कि वह भावानुमोदित हो या किसी मार्मिक अन्तर्वृत्ति से सम्बद्ध हो उससे आगे नहीं ।[1]" क्योंकि 'उभड़ते हुए भाव की प्रेरणा से अक्सर कथन के ढंग में वक्रता आ जाती है।[2]

इस प्रकार यद्यपि शुक्ल जी भावप्रेरणा के प्रतिबंध के साथ उक्ति चमत्कार को स्वीकार कर लेते हैं किन्तु चमत्कार या आनन्द शब्द के प्रति उनकी अवधारणा-हीनता से ही युक्त है ।

रस के सम्बन्ध में चमत्कार की चर्चा करते हुए वे कहते हैं –"चमत्कार शब्द ने उसके स्वरूप को बहुत कुछ बिगाड़ा है ।"[3] किन्तु वे जब प्रमाता को

---

1. समीक्षा : आ० रामचन्द्र शुक्ल, द्वितीय संस्करण, पृ० 40.
2. वही, पृ० 39.
3. वही, पृ० 101.

'स्वार्थ सम्बन्धों से ऊपर उठाकर लोक सामान्य भावभूमि' तक पहुँचाने की बात करते हैं अथवा हृदय की मुक्तावस्था का संकेत करते हैं तो वे अनायास ही चित्त विस्तार को स्वीकार कर लेते हैं, जिसे विश्वनाथ ने चमत्कार और विस्मय के नाम से पुकारा है ।

ऊपर जो कुछ कहा गया है, उससे स्पष्ट हो गया है कि शील वैचित्र्य और उक्तिवैचित्र्यजन्य चमत्कार तथा रसात्मक आह्लाद के अतिरिक्त शुक्लजी को कलात्मकता का चमत्कार प्रिय नहीं है । इसीलिए जायसी ग्रन्थावली की भूमिका में उन्होंने चमत्कार पद्धति और रस-पद्धति के भेद को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि "किसी वस्तु के वर्णन या किसी तथ्य के कथन में बुद्धि को दौड़ाकर यदि ऐसी वस्तु या प्रसंग की योजना की जाय जिसकी ओर प्रस्तुत वस्तु या प्रसंग के सम्बन्ध में श्रोता का ध्यान पहले कभी न गया हो, और जो इस कारण बिल्कुल नया या विलक्षण लगे तो एक प्रकार का कुतूहल उत्पन्न होगा । यही कुतूहल उत्पन्न करना चमत्कार का उद्देश्य है । रस-संचार के निमित्त जो कथन किया जाता है, उसमें भी कभी-कभी साधारण से कुछ और ढंग पकड़ना पड़ता है पर उसमें यह उद्देश्य मुख्य नहीं होता कि जिस वस्तु या प्रसंग की योजना की जाय वह श्रोता को नया, विलक्षण या अनूठा लगे बल्कि अपने मर्मस्पर्शी स्वरूप के कारण भाव की गहरी व्यंजना करे या श्रोता के हृदय में वासना रूप में स्थित किसी भाव को जाग्रत करे । इस प्रकार विचार करने से कवि की उक्ति तीन प्रकार की हो सकती है :—

(1) जिसमें केवल चमत्कार या वैलक्षण्य हो,
(2) जिसमें केवल रस या भावुकता हो, और
(3) जिसमें रस और चमत्कार दोनों हों ।

---

1. जायसी ग्रन्थावली, पृ० 162, भारतीय काव्यशास्त्र की परंपरा, डा० नगेन्द्र, पृ० 187 पर उद्धृत ।

उपर्युक्त वर्गीकरण में स्पष्ट ही कोरे चमत्कार को काव्य की जाति से बहिष्कृत कर दिया गया है, क्योंकि दूर की सूझ या अनूठेपन से युक्त उक्तियों को जिनकी 'तह में कुछ भाव निहित' है उन्हें वे चमत्कार प्रधान काव्य कहते हैं । उनके मत में इस प्रकार का काव्यरूप-प्रधान काव्य की कोटि तक तो नहीं पहुँच सकता पर काव्य कहला सकता है । किन्तु यदि केवल दूर की सूझ या शब्द साम्यमूलक विलक्षणता हो, वह उक्ति काव्याभास होगी । ××× दूर की सूझ दिखाने के लिए लोगों ने 'भानु मनो सनि अंकलिये' तक कह डाला है पर उनकी यह सूझ बहुतर में दूर की नहीं है— उन्हें पोथियों तक की है जिसमें अक्षरों का रंग लिखा रहता है ऐसी बद्दी उक्तियाँ भी सूक्ति कहलाती हैं तो सूक्ति कहलायें पर इनका उत्तम काव्य कहा जाना तो रोकना चाहिए ।

रहीम के 'ज्यों रहीम गति दीप की' वाले दोहे की आलोचना करते हुए वे लिखते हैं कि 'जारे' और 'जाई' शब्दों को श्लेष के आधार पर ही कवि ने दीपक का उल्लेख किया है, पर इस दीपक के व्यापार की योजना कपूत के प्रति विरक्ति आदि के अनुभव में कुछ जोर नहीं पहुँचाती । अतः इन दोहों में कोरा चमत्कार ही कहा जा सकता है इसी चमत्कार के कारण हम उक्ति को कोरा तथ्य कथन न कहकर काव्याभास कहेंगे । काव्य का बाहरी रूप रंग इसमें पूरा है, पर प्राण नहीं है ।[2]

इसीलिए वे चमत्कार शब्द से प्रायः बचते रहना चाहते हैं। अलंकार के संबंध में लिखते हुए उनका कथन है कि 'अलंकार में रमणीयता होनी चाहिए । चमत्कार न कहकर रमणीयता हम इसलिए कहते हैं कि चमत्कार के अन्तर्गत केवल शब्दरूप

---

1. जायसी ग्रन्थावली पृ० 162, भारतीय काव्यशास्त्र की परंपरा, डा०नगेन्द्र पृ० 488.
2. वही, पृ० 489.
3.

गुण या क्रिया का उत्कर्ष ही नहीं, शब्द कौतुक और अलंकार सामग्री की विलक्षणता भी ली जाती है ।"[1]

आ०शुक्ल के उपर्युक्त विवेचन से यह विदित होता है कि चमत्कार के एक तीसरे धरातल को ही प्रमुखता देकर चमत्कार का तिरस्कार करते हैं । जैसा पहले उल्लेख कर चुके हैं, चमत्कार शब्द का रीतिकाल और परवर्तीकाल में भी घोर अवमूल्यन हुआ है । कुछ फारसी, उर्दू साहित्य के सम्पर्क से कुछ दरबारों में प्रतिष्ठा पाने की इच्छा से कवियों द्वारा निर्मित भावहीन उक्ति वैचित्र्य और कोरी कलात्मकता के चमत्कार ने शुक्ल जी को इतना अभिभूत कर लिया कि वे अभिनव से विश्वनाथ तक निर्भ्रान्त रूप से स्वीकृत चमत्कार शब्द के प्रयोग से ही बचने लगे या उसका प्रयोग काव्याभास के लिए करने लगे । पर इससे यह न मान लेना चाहिए कि शुक्ल जी रसात्मक या कलात्मक अभिनवताजन्य चमत्कार के विपरीत हैं । आश्चर्यजनक बात तो यह है कि उन्होंने अलंकार के प्रसंग में चमत्कार के स्थान पर रमणीयता का सुझाव दिया है, और रमणीयता पंडितराज जगन्नाथ का पारिभाषिक शब्द है, जिसका अर्थ है लोकोत्तर आह्लाद और लोकोत्तर का अर्थ है चमत्कार । अतः रमणीयता भी प्रकारान्तर से चमत्कार ही है, किन्तु शुक्ल जी अधम एवं अधमाधम दोनों प्रकार के काव्यों को काव्याभास में परिगणित कर लेते हैं और इस प्रकार काव्य के क्षेत्र में भावप्रधान कृति का एकाधिपत्य हो जाता है ।

'रसमीमांसा' में चमत्कारवाद के सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल ने लिखा है कि – "चमत्कार मनोरंजन की सामग्री है, इसमें सन्देह नहीं । इससे जो लोग मनोरंजन को ही काव्य का लक्ष्य समझते हैं, वे यदि प्रतिभा में चमत्कार ढूंढा करें तो कोई आश्चर्य की बात नहीं । पर जो लोग इससे ऊँचा और गंभीर लक्ष्य समझते हैं वे चमत्कार को काव्य नहीं मान सकते । चमत्कार से हमारा तात्पर्य

---

1. भारतीय काव्यशास्त्र की परंपरा : डा० नगेन्द्र : पृ० 491.

यहाँ प्रस्तुत वस्तु के अद्भुत या वैलक्षण्य से नहीं है जो अद्भुत रस के आलम्बन में होता है । चमत्कार से हमारा तात्पर्य उक्ति के चमत्कार से है ।"[1] इससे स्पष्ट है कि शुक्लजी शैलीगत चमत्कार को हीन कोटि का मानते हैं । यहाँ तक कि उन्होंने रसानुभूति में भी उस कोटि को मध्यम कोटि स्वीकार किया है जहाँ काव्यगत आलम्बन के वैचित्र्य के कारण पाठक का आश्रय से तादात्म्य नहीं हो पाता । ऐसे स्थल में रसानुभूति न होकर उसका आभासमात्र होता है और पाठक के मन में आश्चर्यपूर्ण प्रसादन, आश्चर्यपूर्ण अवसादन अथवा कुतूहलमात्र की अनुभूति होती है ।[2] निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि शुक्ल जी के मत के अनुसार चमत्कार की गई कोटियाँ हैं – एक कोटि भावुक कवियों की है, जहाँ चमत्कार किसी भाव की अनुभूति को तीव्र करने के लिए आता है[3] किन्तु दूसरी ओर आश्चर्यपूर्ण प्रसादन, अवसादन आदि हैं जिनसे मानसिक वृत्तियों का रमण भले ही हो, हृदय की मुक्तावस्था नहीं प्राप्त होती । जो भी हो, शुक्ल जी काव्यगत अनिर्वचनीय सौन्दर्य का अनुभव करते हुए भी उसे चमत्कार कहना उचित नहीं समझते तथा चमत्कार को सर्वथा अस्वीकार करना भी उनके लिए सम्भव नहीं है।

डा० श्यामसुन्दरदास ने यद्यपि स्वयं स्वीकार किया है कि साहित्यालोचन की सामग्री उन्होंने दूसरों से प्राप्त की है,[4] किन्तु इतना स्वीकार करना ही पड़ेगा कि उन्होंने उन्हीं विचारों को यथास्थान महत्त्व दिया है, जिनके साथ

---

1. रसमीमांसा, द्वितीय संस्करण, पृ० 27.
2. चिन्तामणि भाग-1, साधारणीकरण और व्यक्ति वैचित्र्यवाद : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० 188-189 तथा रसमीमांसा पृ० 157-58.
3. रसमीमांसा, द्वितीय संस्करण, पृ० 27.
4. साहित्यालोचन (डा० श्यामसुन्दरदास) भूमिका, पृ० 7.

उनका स्वयं हृदय संवाद रहा है । इस दृष्टि से विचार करने पर डा०दास निश्चय ही चमत्कारवाद के समर्थक हैं । उनके कुछ कथन निम्नलिखित है :—

(क) मोटे तौर पर हम यह कह सकते हैं कि जिस वाक्य, पद या उक्ति को सुनकर चित्त चमत्कृत हो उठे — जिसमें कुछ अनोखापन हो वही काव्य है ।[1]

(ख) काव्य एक वाक्य या वाक्य समुदाय है, जिससे चित्त किसी रस या प्रबल मनोवेग से चमत्कृत हो जाता है ।[2]

(ग) काव्य वह है जो हृदय में अलौकिक आनन्द की सृष्टि करे[3] ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि दास जी ने परंपरा से प्राप्त चमत्कार सम्बन्धी सभी अवधारणाओं को उन्मुक्त रूप से स्वीकार किया है। एक ओर जहाँ वे रस या मनोवेग से चमत्कृत चित्त की आनन्दमयी अनुभूति को चमत्कार के रूप में स्वीकार किया है, वहीं अनोखेपन के चमत्कार को भी समान रूप से अपनाया है । उनकी दृष्टि में रसानुभूति काव्यानुशीलन से निष्पन्न प्रमाता के चित्त का चमत्कार है । अतएव उन्होंने आचार्य शुक्ल की भाँति सूक्ति और काव्य में भेद न करके सभी रचनाओं में चमत्कार की उपादेयता मानी है ।

रामदहिन मिश्र ने 'काव्यदर्पण' में विश्वनाथ के कथन का अनुवादमात्र कर दिया है ।[4] और उससे यह निष्कर्ष निकाला कि चमत्कार रूप यह काव्यास्वाद एक अलौकिक अनुभूति है । यह आनन्द साधारण आनन्द नहीं, लौकिक आनन्द

---

1. साहित्यालोचन, द्वितीय आवृत्ति, पृ० 19.
2. वही, पृ० 19.
3. वही, पृ० 44.
4. काव्यदर्पण, च०सं०, पृ० 45.

नहीं, अलौकिक आनन्द है ।[1] एक अन्य स्थान पर उन्होंने रसनिष्ठ चमत्कार की चर्चा करते हुए कहा है कि "केवल शब्दाडम्बर से किसी की रचना कविता नहीं कही जा सकती, इसके लिए उसमें हृदयस्पर्शी चमत्कार होना चाहिए, वह चमत्कार रस है ।[2]

स्पष्ट है कि मिश्रजी आनन्दवादी आचार्यों की परंपरा के अनुरूप रसास्वाद के क्षणों में लोकोत्तर चमत्कार की अनुभूति को महत्व देते हैं किन्तु मौलिकता के अभाव में इनके मत का कोई विशेष महत्व नहीं है ।

'जयशंकर प्रसाद' आनन्दवादी कवि हैं । इसलिए वे परंपरा से प्राप्त प्रत्यभिज्ञा शैव दर्शन के चमत्कार को ही स्वीकार करते हैं ।[3]

'सुमित्रानन्दन पंत' ने यद्यपि चमत्कार शब्द का प्रयोग नहीं किया है, फिर भी उन्होंने वैचित्र्य अथवा विस्मय तत्व के मूल प्रवर्तक भाव, 'नूतनता' को स्वीकार किया है । जिस बात को सरस्वती वन्दना के व्याज से निरालाजी ने पद्यबद्ध रूप में प्रस्तुत किया है, उसीको पंत ने आलोचना के क्रम में इस प्रकार प्रस्तुत किया है — "शब्दों से नये अर्थ, अर्थों से नयी चेतना, चेतना से नया कलाबोध और कलाबोध से नयी सौंदर्य भंगिमा हृदय को स्पर्श कर नये रस का संचार करने लगी ।"[4] उपर्युक्त कथन में 'शब्दों के नये अर्थ' से लेकर 'नये रस के संचार' तक जितने भी शब्द आये हैं, वे सब चमत्कार की आस्वादमयी परिणति की प्रक्रिया के अन्तर्वर्ती बिन्दु हैं । अर्थ से

---

1. काव्यदर्पण : भूमिका, पृ० 21.
2. वही, पृ० 44.
3. काव्य कला एवं अन्य निबन्ध, प्रसाद
4. सुमित्रानन्दन पंत : छायावाद : पुनर्मूल्यांकन, प्रथम संस्करण, पृ० 101.

चेतना, चेतना से कलाबोध, कलाबोध से सौंदर्य भंगिमा, वस्तुतः नवीन अर्थ की रमणीयता से निष्पन्न प्रमाता का अन्तश्चमत्कार ही है । अतः इनका विवेचन भी मात्र पुनराख्यान बन कर रह गया है ।

डा० नगेन्द्र का विचार है कि "कलानुभूति के स्वरूप का निर्णय करने के लिए कला के आस्वादन की सम्पूर्ण प्रक्रिया का विश्लेषण करना आवश्यक होगा ।" जब मैं उपर्युक्त छन्द (उत्तररामचरित का एक श्लोक) को पढ़ता हूँ तो इसकी शब्दावली और लय योजना का संगीत मेरी श्रवणेन्द्रिय को चमत्कृत करता है, तभी प्रायः अलक्ष्य क्रम से इसका अर्थ मेरे मन में व्यक्त हो जाता है । इसके बाद काव्य-भाषा अर्थात् भाषा के कल्पनात्मक प्रयोग– के चमत्कार से मेरी कल्पना सक्रिय हो जाती है, जिसके साथ अनेक प्रकार के मनोविकार अनायास ही लिपट जाते हैं । इसीक्रम में संचारीभावों के आघात से प्रेम की अन्तर्वृत्ति मेरी चेतना में उद्भूत हो जाती है जो उस समय व्यक्तिगत राग-द्वेष से इसलिए निर्लिप्त रहती है कि उसमें व्याप्त यह प्रेम की वृत्ति किसी आलम्बन विशेष के प्रति उन्मुख न होने के कारण अव्यक्तिगत तथा निःसंग होती है, और अंत में यह सम्पूर्ण ऐन्द्रिक मानसिक प्रक्रिया एक सुखद अनुभूति में परिणत हो जाती है ।"[1]

इससे स्पष्ट है कि कलात्मक चमत्कार से लेकर "एक सुखद अनुभूति में परिणत हुए रसास्वाद जन्य अन्तश्चमत्कार तक' के चमत्कार के सभी रूप डा०नगेन्द्र को स्वीकार्य हैं । यद्यपि 'रस-सिद्धान्त' में डा० साहब ने विश्वनाथ के साक्ष्य पर चमत्कार को कलात्मक चमत्कार से ही जोड़ने का प्रयास किया है पर चमत्कार की व्यापक अवधारणा से वे परिचित हैं और रसानुभूतिजन्य लोकोत्तर

---

1. भारतीय काव्यशास्त्र में सौन्दर्यानुभूति का स्वरूप : अभिभाषण : डा०नगेन्द्र, पृ० 12–13.

चमत्कार की महिमा से पूर्णतः प्रभावित है,[1] किन्तु उसके किसी एक ही पक्ष के प्रति आग्रह ग्रसित नहीं हैं। साथ ही यह भी कहना असंगत न होगा कि वे चमत्कार के पुनराख्याता हैं उद्भावक या व्याख्याता नहीं।

शुक्लजी की ही भाँति सुधांशु जी भी चमत्कार की अवधारणा को हीन कोटि का ही समझते हैं। यह मानते हुए भी कि 'काव्य में वैचित्र्य या चमत्कार को भी एक स्थान प्राप्त है।' वे इसे सत्य प्रतीति का द्राविडीप्राणायाम मानते हैं। उनकी दृष्टि में – काव्य और चमत्कार दोनों में अन्तर है और यह अन्तर इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है कि काव्य को एक प्रतीति के रूप में लेकर हम विमुग्ध रूप से मौन हो जाते हैं किन्तु वैचित्र्य या चमत्कार के समय अपना मौन भंग कर हम वाह-वाह कह उठते हैं।[2]

उनकी दृष्टि में 'चमत्कार क्षणिक मनोरंजन की अत्यन्त छिछली वृत्ति है'। काव्य में रस प्रधान रहता है, सूक्ति में चमत्कार। किसी वर्णन को पढ़कर जब हम साधारणतः आह! कह उठते हैं तब वह काव्य संयुक्त होता है और जब वाह! कहते हैं तब वह चमत्कार प्रधान रहता है। चमत्कार प्रकाशन के समय सहृदय की वृत्तियाँ गम्भीर नहीं छिछली रहती हैं। ऐसी वृत्तियों से रसोद्रेक

---

1. 'काव्य में असाधारणता होती है पर कुतूहल नहीं। काव्य का आनन्द वासनाओं को जागृत करने के कारण दूसरे शब्दों में भावों की संकृति से सम्बन्ध रखता है। इसमें संदेह नहीं कि उसके सारभूत प्रभाव में कवि की लोकोत्तरप्रतिभा के प्रति कौतूहल एवं विस्मय का भाव भी मिश्रित रहता है, परन्तु यह सर्वथा गौण है और रसानुभूति के समय उसकी पृथक् सत्ता नहीं होती। ××× इसलिए वही चमत्कारपूर्ण उक्ति काव्य हो सकती है, जिसका चमत्कारभाव रमणीयता, कोमलता, सूक्ष्मता अथवा तीव्रता के आश्रित हो। रीतिकाव्य की भूमिका, डा०नगेन्द्र, पृ०81-82.
2. जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धान्त : लक्ष्मीनारायण सुधांशु, पृ० 69-70.

नहीं होता । अच्छी या अनूठी उक्तियों से क्षणिक मनोरंजन भले ही हो जाय पर वे हृदय को निमग्न नहीं कर सकतीं ।[1]

चमत्कार की अवधारणा की एक अभिनव व्याख्या श्री रमेशकुन्तल मेघ ने भी की है । वे चमत्कार को एक धार्मिक अन्तः श्रेणी मानते हैं । चमत्कार की दशा में तन्मयता एवं चिन्मयता का उल्लेख करते हैं । उनके मत में चमत्कार दशा की बौद्धिक व्याख्या नहीं की जा सकती पर चमत्कारत्व में भाव तथा ज्ञान आदि द्वन्द्वों का सह-अस्तित्व उन्हें स्वीकार्य है । अज्ञेय जी ने भी विवेक तथा राग के सह-अस्तित्व का भावबोध किया है । इनके विचारों का पल्लवन प्रथम अध्याय में किया जा चुका है ।

प्रयोगवादी एवं परवर्ती समालोचकों में चमत्कार की स्वीकृति और अस्वीकृति दोनों के स्वर समान रूप से प्राप्त होते हैं । अज्ञेय जी ने 'हिन्दी साहित्य : एक आधुनिक परिदृश्य' में इस ओर संकेत किया है कि नये-नये अर्थों से ही शब्द में चमत्कार उत्पन्न होता है जो काव्य में चमत्कार उत्पन्न करने में सहायक होता है । उनका कथन है कि —"जब चमत्कारिक अर्थ मर जाता है और अभिधेय बन जाता है तब उस शब्द की रागोत्तेजक शक्ति भी क्षीण हो जाती है । उस अर्थ से रागात्मक सम्बन्ध नहीं स्थापित होता ।"[2] इससे स्पष्ट है कि नये प्रयोगों द्वारा सामान्य शब्दों में विशिष्ट अर्थों की स्थापना ही अज्ञेय की दृष्टि में चमत्कार है ।[3]

---

1. जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धान्त : लक्ष्मीनारायण सुधांशु, पृ० 33-34.
2. अज्ञेय : हिन्दी साहित्य : एक आधुनिक परिदृश्य (1967) : पृ० 138.
3. ' ××× यह क्रिया निरन्तर होती रहती है जो भाषाविकास की एक अनिवार्य क्रिया है । चमत्कार मरता रहता है और चमत्कारिक अर्थ अभिधेय बन जाता है । यों कहें कि कविता की भाषा निरन्तर गद्य की भाषा होती जाती है । इस प्रकार कवि के सामने हमेशा चमत्कार की सृष्टि की समस्या बनी रहती है ××× बासन अधिक घिसने से मुलम्मा छूट जाता है ।' —
   — द्वितीय तारसप्तक की भूमिका, अज्ञेय, पृ० 11-12.

इसके साथ ही वे रस के अन्तश्चमत्कार को भी स्वीकार करते हैं उनके मत में "कलाकार और रसिक दोनों की दृष्टि से एक कलाकृति की मूल कसौटी यही है कि वह चमत्कार युक्त हो, रसयुक्त या रसात्मक हो ।"[1] उनके विचार से काव्य में चमत्कार सृष्टि उक्तिवक्रता पर निर्भर है ।[2] वे विश्वनाथ की भाँति चमत्कार चित्त के लोकोत्तर विस्तार को मानते हैं किन्तु उनके मत में भाव तथा ज्ञान दोनों का सम्मिश्रण आवश्यक है । इस प्रकार 'काव्य में राग और विवेक दोनों एक नूतन चमत्कारिक रसायन बन कर ही रस की सृष्टि करते है ।" वे 'कवि प्रतिभा' के ताप से एक नया रसायन, एक चामत्कारिक योग उत्पन्न करना चाहते हैं । अतः कहा जा सकता है कि अज्ञेय जी के मत में– रसावयवों का चमत्कारिक संयोग प्रमाता के मन में रसजन्य अन्तश्चमत्कार उत्पन्न करता है, किन्तु उसमें उक्ति वक्रता (कला तत्व) का योग होना चाहिए। साथ ही चमत्कारिक तीव्रता के लिए विवेक तथा भाव दोनों का संश्लेष आवश्यक है ।

इसके विपरीत लक्ष्मीकांत वर्मा रस-सिद्धान्त में निरूपित प्रमाता के अन्तः-चमत्कार को सर्वथा अस्वीकार करते हैं । उनका कथन है कि 'नयी अभिरुचि मानव-यथार्थ को उतना ही सबल मानती है, जितना कि सौंदर्य को जीवन से सम्बद्ध समझ कर उसको ग्रहण करती है । ---- चमत्कार उसका ध्येय नहीं --

---

1. अज्ञेय : त्रिशंकु : पृ० 41.
2. 'परिणामतः चमत्कारिक सृष्टि के निमित्त वक्रता आवश्यक है/ यह उक्ति वक्रता काव्य में स्थायी और संचारी के चमत्कारिक योग से ही संयुक्त होकर कलात्मक सृष्टि कर सकती है ।" –अज्ञेय, दूसरा सप्तक, पृ० 12.
3. (क) अज्ञेय, त्रिशंकु, पृ० 13.

   (ख) 'जो पाता हूँ
   अपने को भट्ठी कर उसे गलाता चमकाता हूँ –
   अनिर्वच आह्लाद सा लुटाता हूँ ।'
   – अज्ञेय : इन्द्रधनु रौंदे हुए थे, पृ० 46-47.

अखंड अनन्त उसके लिए शब्दाडम्बर है ।'[1]

अकविता अन्तर्विरोधों की अन्वेषक कविता है, और इसलिए उसमें अभि-निवेशपूर्वक कविता की अस्वीकृति चमत्कारी प्रयोगों में परिणत हो जाती है । नयी कविता में जहां संवेदनशीलता और सौंदर्य दृष्टि के चमत्कारिक बिम्ब संपुजन की विशिष्टता है, वहां अकविता में स्वाभाविक संकट और प्रतिबद्धता से ऊपर उठकर एक नये क्षेत्र की खोज है । अतः नये समीक्षक चाहे चमत्कार को स्वीकार करें या अस्वीकार पर वे प्रकारान्तर से चमत्कार के महत्त्व का ही गान करते हैं । अन्तर्विरोध या विसंगति तो चमत्कार का मूलप्रेरक तत्त्व है ।

उपर्युक्त सर्वेक्षण से इतना निश्चित हो गया कि चमत्कार किसी न किसी रूप में सभी युगों और सभी प्रकार की काव्यशैलियों में एक सशक्त एवं जीवन्त तत्त्व के रूप में विद्यमान रहा है । शब्दों की क्रीड़ा से लेकर गम्भीर आनन्दानुभूति के क्षण तक को अपने आपमें समेटने वाला यह चमत्कार संप्रदाय निश्चयही महत्त्व-पूर्ण है । जिन्होंने चमत्कार के प्रयोग से बचने का प्रयत्न किया है, उन्होंने भी नूतनता, वैचित्र्य, चित्त-विस्तार आदि को स्वीकार करके प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से चमत्कार अथवा विस्मयतत्त्व के महत्त्व को प्रतिष्ठित किया है।

मेरा अपना विश्वास है कि चमत्कार सम्प्रदाय को स्वीकार कर लेने के बाद हमें एक ऐसे काव्य निकष की उपलब्धि हो जाती है जिसमें सभी प्रकार के काव्यों के आस्वादजन्य तारतम्यिक आनन्द की व्याख्या की जा सकती है और चमत्कारितम चमत्कारितर तथा चमत्कारी जैसा वर्गीकरण करके समस्या को सुलझाया जा सकता है । यदि इस स्थापना को विद्वज्जनों की स्वीकृति मिल गयी तो काव्य-मूल्यांकन के क्षेत्र में एक क्रान्तिकारी प्रतिमान की प्रतिष्ठा हो सकेगी इसमें संदेह नहीं ।

---

1. लक्ष्मीकान्त वर्मा : नयी कविता के प्रतिमान : पृ०सं० : पृ० 83.

षष्ठ अध्याय

अद्भुतरस के अंग, भेद एवं उसकी निष्पत्ति

अद्भुत रस के विभाव :

अद्भुत रस की उत्पत्ति, वर्ण एवं देवता आदि की परिचर्चा के उपरान्त रस सामग्री की चर्चा करते हुए विभाव की योजना प्रस्तुत है । प्रायः सभी आलंकारिकों ने विभाव को भावों के हेतु निमित्त या कारण के रूप में स्वीकार किया है । भरत ने इसे विभावन-व्यापार-भावबोध - का कारण माना है[1] तो धनंजय,[2] विश्वनाथ[3] और जगन्नाथ[4] आदि ने रति आदि स्थायीभावों के पोषण और उत्पत्ति का । क्योंकि यह विभाव मूलतः भावों के उद्बोधन, पोषण तथा अभिव्यंजन में सहायक होते हैं, इसलिए कहा जा सकता है कि लोक अथवा काव्य में जिन कारणों से भाव का उद्बोधन, उद्दीपन, अभिव्यंजन और पोषण हो उन्हें विभाव कहते हैं । ये विभाव केवल चित्तवृत्तियों का ज्ञापन करानेवाले नहीं हैं, अपितु वासना रूप में सूक्ष्म रूप से अवस्थित रति आदि स्थायीभावों को आस्वाद के योग्य भी बनाते हैं ।[5]

सामान्यतः विभाव के आलम्बन और उद्दीपन दो भेद माने गये हैं ।[6] यद्यपि साहित्य कौमुदीकार ने आलम्बन के भी दो भेद कर दिये हैं -

---

1. (क) विभावो विज्ञानार्थः-विभावः कारणं निमित्तं हेतुरिति पर्यायाः ।' - ना०शा०, चौ० 7/4.

   (ख) विभाव्यतेऽनेन वागंगसत्त्वाभिनय इति विभावः । - वही ।

2. जायमानतया तत्र विभावो भाव पोषकृत् । - दशरूपकः प्रकाश 4/2.

3. रत्यादयुद्बोधका लोके विभावाः काव्य नाट्ययोः । - सा०द० 3/28.

4. रस गंगाधर : प्रथम आनन : पृ० 134.

5. वासना रूपतयातिसूक्ष्मरूपेणावस्थितान् रत्यादीन् स्थायिनो विभावयन्ति रसास्वादाकुर योग्यतां नयन्ति इति विभावाः । -काव्यप्रदीप, पृ० 61.

6. आलम्बनोद्दीपनत्व प्रभेदेन स च द्विधा । - दशरूपक 4/2.

(।) विषयालम्बन, (॥) आश्रयालम्बन ।[1] किन्तु अनेक जटिल प्रश्नों के समाधान के बाद भी वैशिष्ट्य के अभाव में इस भेद की उपेक्षा कर दी गई है ।[2]

अस्तु, जिस व्यक्ति, वस्तु, विचार आदि के कारण भावों का उद्‌बोधन या अभिव्यंजन होता है उन्हें आलम्बन विभाव कहते हैं और जिन देश-काल आदि के द्‌वारा भावों की उद्दीप्ति, तीव्रता और आस्वाद योग्यता निष्पन्न होती है वे उद्‌दीपन विभाव है । यद्‌यपि गंभीर दृष्टि से विचार करने पर यह वर्गीकरण भी आत्यन्तिक नहीं ठहरता क्योंकि आलम्बन में उद्‌दीपकत्व और उद्‌दीपन में आलम्बनत्व भी देखा जाता है, किन्तु विवेचन की दृष्टि से इसे स्वीकार कर लेना असंगत नहीं है । वैचारिक और रोमानी रचनाओं में जहां कवि अपनी अनुभूति को अभिव्यक्ति करता है, वहां व्यक्ति अथवा वस्तु के अभाव में विचार लक्ष्य अथवा संवेदन आदि को आलम्बन में समाहित किया जा सकता है । इसी प्रकार उद्‌दीपन के अन्तर्गत देशकाल के अतिरिक्त अनेक प्रकार की स्थितियों, परिस्थितियों घटनाओं के साथ कल्पना, चिंतन आदि को समेटा जा सकता है ।

भरतमुनि के अनुसार दिव्य जनों के दर्शन, मनोवांछित की आकस्मिक प्राप्ति, मनोरथों की उपलब्धि, उपवन, देवमंदिर आदि में गमन, सभा, विमान,

---

1. आद्योऽपि द्विधा विषयाश्रय भेदात् । यमुद्दिश्य रत्यादिः प्रवर्तते सोऽस्य विषयः । आश्रयस्तु तदाधारः । विद्या भूषणः साहित्य कौमुदी 4 : पृष्ठ 29, रसविमर्श , पृष्ठ 132 से । डा० मनोहर काले द्‌वारा आधुनिक हिन्दी मराठी में काव्यशास्त्रीय अध्ययन में पृष्ठ 57 पर उद्‌धृत ।

2. देखिये– डा० मनोहर काले का उपर्युक्त ग्रन्थ : पृ० 57-63 तक ।

माया, इन्द्रजाल, संभावना आदि अद्भुत रस के विभाव हैं ।[1] उक्त अंश की व्याख्या करते हुए अभिनवगुप्त ने लिखा है कि दिव्य से तात्पर्य गन्धर्व इत्यादि से है । जिसकी प्राप्ति संभव हो उसको ईप्सित कहते हैं । उससे भिन्न (जिसकी प्राप्ति संभव न हो इस प्रकार का अर्थ) मनोरथ (कहलाता) है । इन दोनों की प्राप्ति का अर्थ है, समीप में आना या उपचित होना । देवकुल गमन उसके लिए अद्भुत रस का विभाव होता है, जिसने वहां के जैसे सुंदर भवन आदि नहीं देखे हैं । सभा विशेष प्रकार के भवन-राजभवन में सभागृह, जिनमें कलात्मकता होती है – को कहते हैं । विमान से तात्पर्य देवताओं के रथ से है । इन्द्रजाल का अर्थ मंत्र, द्रव्य, वस्तु तथा युक्ति के द्वारा असम्भव का प्रदर्शन करना है ।[2]

इस अद्भुत रस के विभाव के संदर्भ में भरत ने वंश-परंपरा से प्रसिद्ध एक आर्या उद्धृत की है, जिसका अर्थ है – जो वाक्य, कला अथवा उत्तम कार्य

---

1. अथाद्भुतोनाम विस्मय स्थायि-भावात्मकः । स च दिव्यजन दर्शन-ईप्सित मनोरथावाप्ति-उपवन देवकुलादिगमन सभा-विमान-मायेन्द्रजाल सम्भावनादि-भिर्विभावैरुत्पद्यते । – अभिनवभारती, अभिनवगुप्त, पृ० 603-605. (मनोरथावाप्त्युत्तमभवन देवकुलादिगमन सम्भाव्यमान मायेन्द्रजाल संसाधना इति पाठान्तरम् ।) –भरतमुनि, ना०शा०, पूना, भाग-1, पृ० 329.
2. दिव्याः गन्धर्वादयः । ईप्सितः शक्य प्राप्तिरर्थः । अन्यो मनोरथः । तयो प्राप्ति रुपचयनम् । देवकुले च गमनम् तस्याद्भुतविभावो येन तत्रत्यं सरस निवेशादि न क्वचिद् दृष्टम् । सभागृह-विशेष : । विमानादीनि दिव्य रथाः । माया रूप परिवर्तनादिका । इन्द्रजालं मन्त्र-द्रव्य-वस्तु-युक्त्यादिना असम्भवद्वस्तु प्रदर्शनम् ।
   – अभिनव भारती, पृ० 603-605.

अन्यों की अपेक्षा उत्कृष्ट होता है वह सब अद्भुत रस में विभाव रूप है — ऐसा समझना चाहिए ।[1] इसका भी स्पष्टीकरण करते हुए अभिनवगुप्त ने लिखा है कि जो दूसरों का अतिक्रमण कर जाये वह अतिशय कहलाता है । अर्थात् जो अर्थ अन्यों की अपेक्षा उत्कृष्ट हो उसका प्रतिपादक वाक्य तथा अतिशयता से युक्त शिल्प (कलात्मक संरचना) अथवा उत्तम कार्य, प्रशंसनीय कर्म ('कर्म रूप' — इस पद में प्रशंसा में 'रूपप्' प्रत्यय हुआ है) आदि सब अद्भुत रस का विभाव हुआ करता है — ऐसा जानना चाहिए ।[2]

भरत ने जिन विभावों की चर्चा की है, वे प्रायः नाटक में अभिनय की दृष्टि से ही विभाव रूप में माने गये हैं क्योंकि नाटक के अन्त में अद्भुत रस होना चाहिए — ऐसा भरत का निर्णय है । कहना न होगा कि भरत के व्यापक परिगणनात्मक विभाव निरूपण की अपेक्षा संक्षिप्त आनुवंशिकी आर्या में विभावों का बड़ा ही संतुलित एवं व्यवस्थित वर्णन है । क्योंकि अतिशयार्थ युक्त वाक्य — अतिशयोक्तिपूर्ण वाक्य— जिसे उक्ति वैचित्र्य, वाग्वैदग्ध्य या वक्रोक्ति कहा जाता है — साहित्य के सम्पूर्ण कलात्मक तत्वों को अपने में समेट लेता है ।

इसी प्रकार उत्कृष्ट कलात्मकता, जिसमें वास्तु कला, चित्रकला और मूर्ति-कला सबका समाहार हो जाता है, अपने-आप में आकर्षण एवं विस्मय का प्रमुख कारण है ।

---

1. यत्त्वतिशयार्थयुक्तं वाक्यं शिल्पं च कर्मरूपं वा ।
   तत्सर्वमद्भुत रसे विभाव रूपं हि विज्ञेयम् ।। भरतः ना०शा०, अभिनवभारती, पृ० 605.

2. अतिशेते इत्यतिशयः । अन्यापेक्षया योऽर्थः उत्कृष्टः तेन वाच्यगुणेन युक्तं यद्वाक्यं, यच्च शिल्पं, कर्मरूपं कर्मात्मकं प्रशंसायां 'रूपम्' ।
   सर्वमित्येवं प्रकारकम् इति यावत् ।
   — हिन्दी अभिनवभारती, पृ० 603-605.

प्रशंसनीय अथवा उत्तम कर्म के अन्तर्गत वीर पुरुषों के अथवा महापुरुषों के आलोकसामान्य चरित्र, कुशलता आदि सबका समाहार हो जाता है । यदि 'कर्मरूप' इसमें पदच्छेद करके 'कर्म' को पृथक् और 'रूप' को पृथक् मानें और उन सबके साथ 'अतिशयार्थ युक्त' इसको विशेषण बनायें तो लोकोत्तर सौंदर्य का सम्पूर्ण साम्राज्य भी 'रूप' के द्वारा अद्भुत का विभाव बन जाता है । अतः विभाव निरूपण की दृष्टि से उक्त आर्या सर्वाङ्गपूर्ण प्रतीत होती है ।

'शारदातनय' ने 'भावप्रकाशन' में भरत का ही अनुगमन करते हुए विभावों का और व्यापक संकलन किया – 'कर्म की अतिशयता से (विलक्षणता से) अभीष्ट अर्थ की प्राप्ति से, मनोवांछित फल की उपलब्धि से, दिव्य भावों के दर्शन से, परस्पर विरोधी पदार्थों के अविरोधी रूप में एकत्र होने से, असम्भाव्य (संभावना से परे) अर्थ के सम्भावित होने से, जो वस्तु जिस देश और काल में नहीं होती, उसके उस देश और काल में प्राप्त होने से और अचिन्तित रूप से अभीष्ट अर्थ की प्राप्ति होने से अद्भुत रस की सृष्टि होती है ।[1]

विश्वनाथ ने यद्यपि आलम्बन और उद्दीपन का पृथक् पृथक् संकेत किया है, किन्तु वर्णन अत्यन्त सांकेतिक है – इसका आलम्बन अलौकिक वस्तु है तथा अलौकिक वस्तु के गुण और उनका माहात्म्य उद्दीपन है ।[2] इसीप्रकार

---

1. कर्मणोतिशयान्नृणामीप्सितार्थोपसम्भवात् । मनोरथफलप्राप्तेर्दिव्यभावावलोकनैः । विरुद्धानां पदार्थानामविरुद्धैश्च समागमैः । असम्भाव्यस्य भावस्य संभवोत्पत्ति दर्शनैः । अदेशकाल सम्पत्तेरभीष्टादेरचिन्तितम् । इत्यादिभिर्विभावैस्तैरद् भुताख्यो रसो भवेत् । '' भावप्रकाशन, शारदातनय, अधि03, पृ० 61, पं० 13-18.

2. ××× वस्तु लोकातिगमालम्बनं मतम् ।
गुणानां तस्य महिमा भवेदुद्दीपनं पुनः ।।"
– सा०द० 3/243.

'भावप्रकाशन' के ही प्रथम अधिकरण में शारदातनय ने उन भावों को अद्भुत रस की सम्पदा का उद्भावक माना है, जिन्हें चित्रभाव कहते हैं। चूंकि विस्मय को भी उन्होंने चित्त-वैचित्र्य के रूप में ही स्वीकार किया है, अतः वे भाव, जो सदैव अनुभव काल में हृदय में वैचित्र्य उत्पन्न करते हैं, चित्रभाव हैं। एक दूसरे पाठान्तर के अनुसार वे विस्मयास्पद भाव, जिनका उन-उन विशेषताओं के आधार पर नाम परिगणित किया जाता है, जिनके रूपादि अनेक प्रकार के होते हैं, वे चित्र कहलाते हैं और ऐसे चित्रभाव अद्भुत रस के उत्पत्तिकारण अर्थात् विभाव हैं। जिनकी आकृति एवं वेश विलक्षण प्रकार के हैं, जिनका आचार एवं विभ्रम विचित्र है, जो माया (विचित्र रूप परिवर्तन) लीला अथवा विलास[1] की विचित्रता से मुक्त हैं; वे सब अद्भुत के आलम्बन हैं।[2] चूंकि भाव प्रकाशन की दृष्टि से मुख्यतः शृंगारपरक रही है, इसलिए प्रस्तुत प्रसंग में उन्होंने नायिकाओं के स्वभावज अलंकार, विभ्रम, विलास और लीला को विभाव के अन्तर्गत ले लियागया है जो स्पष्ट ही रूपाद्भुतता की ओर संकेत करता है। इसका प्रमाण यह भी है कि वे शृंगारोपयोगी संचारियों को ही अद्भुत के संचारी मानते हैं।[3]

---

1. विभ्रम, लीला, विलास नायिकाओं के स्वभावज अलंकार हैं। इनकी विशेषताओं के लिए देखिये — सा०द०, क्रमशः 3/104, 398-399 तथा 2/99-100.

2. (क) सदानुभूयमाना ये हृदि वैचित्र्यकारिणः।
भावाश्चित्रइतिज्ञेयास्तेऽद्भुतैश्वर्यभावकाः ।।—भावप्रकाशन, प्र०अधि०, पृ०5, पं० 5-6.

पाठान्तर : स्वविस्मयास्पदाभावास्तत्तद्ग्रहणनामतः।
नानारूपाश्चतेचित्रास्त्वद्भुतोत्पत्तिहेतवः ।।

(ख) विचित्राकृतिवेशाश्च विचित्राचारविभ्रमाः।
अद्भुतालम्बनाभावा मायालीलाविलासिनः ।। —वही, पृ०6, पं० 1-2.

3. संचारिणोऽपि तस्यस्युर्ये शृंगारोपयोगिनः
— भावप्रकाशन : शारदातनय, 3/61/21.

दशरूपक में संक्षेप में – लोकसीमातिवर्ती पदार्थों को विभाव बतला कर सहृदय के लिए जीवन जगत के सभी क्षेत्रों के असामान्य तत्त्वों को समेटने का अवसर दे दिया है ।[1]

चमत्कार चन्द्रिका में विश्वेश्वर ने भी लोकोत्तर वस्तु दर्शनादि को अद्भुत का विभाव माना है ।[2] अन्तर केवल इतना है कि जहां दशरूपक की दृष्टि पदार्थवर्णनामूलक होने से कविपरक है, वहां 'विश्वेश्वर' दर्शनादि की चर्चा करके सहृदयपरक निरूपण कर रहे हैं और साहित्यदर्पणकार केवल सामान्यतः अलौकिक वस्तु और उसकी महिमा का उल्लेख करते हैं जो दोनों के लिए समान है ।

केशवमिश्र कृत 'अलंकार शेखर' के अनुसार असम्भाव्य वस्तु के दर्शन अथवा श्रवण द्वारा प्राणियों में उत्पन्न होनेवाले रस को अद्भुत रस कहते हैं ।[3] स्पष्ट है कि इनकी दृष्टि केवल घटना वैचित्र्य, विशेषतः नाटक में आकस्मिक फलागम की ओर है । इसीलिए लोकोत्तरता, अभिनवता आदि की अपेक्षा असम्भाव्यता पर बल दिया गया है । यद्यपि इन्होंने दृष्टान्त नायिका के अपूर्व सौन्दर्य वर्णन के ही रूप में दिया है ।[4]

---

1. (क) अतिलोकैः पदार्थैस्यात् विस्मयात्मा रसोद्भुतः ।

— दशरूपक : प्रकाश 4 : श्लोक 7-8.

(ख) लोकसीमातिवृत्तपदार्थ वर्णनादि विभावितः—वही, उक्त श्लोक की वृत्ति ।

2. अद्भुतनामा लोकोत्तर वस्तुदर्शनादि विभावो - - - - ।

— चमत्कारचंद्रिका : विश्वेश्वर पंचमविलास, पृ० 122.

3. विस्मयात्माद्भुतो ज्ञेयो स चा सम्भाव्य वस्तुनः ।
दर्शनाच्छ्रवणाद्वापि प्राणिनामुपजायते ।।

— अलंकार शेखर : केशव मिश्र : 25 मरीचि 20, पृ० 75.

4. चित्रं कनकलतायां शरदिन्दुस्तत्र संजनद्वितयम् ।
तत्र च मनोज धनुषी तदुपरि गाढान्धकारोऽपि ।। — वही ।

प्रतापरुद्रीय के रसप्रकरण में विस्मय की परिभाषा– अपूर्वार्थ संदर्शनाच्चित्त विकासो विस्मयः[1] – करके बतलाया गया है कि यहां लोकसीमातिवर्ती पदार्थ ही अपूर्व पदार्थ है । ऐसे पदार्थ के दर्शनादि से उत्पन्न होने वाला मानसिक विकास विस्मय है । यही विस्मय आकस्मिक मनोरथ लाभ एवं अलौकिक दर्शनादि विभाव के कारण अद्भुत रस बनता है ।[2]

विद्याराम ने रसदीपिका में विस्मय को चमत्कारी पदार्थों की स्मृति दर्शन, स्पर्श और श्रवण से उत्पन्न अपरिपूर्ण मानसिक विकार कहा है और यही विस्मय परिपूर्ण हो जाने पर अद्भुत रस कहलाता है। उन्होंने भरतमुनि के ही अनुरूप विभावों की एक लम्बी सूची दी है । लोकोत्तर कर्म, शिल्प और उसी प्रकार का लोकोत्तर रूप, अलौकिक अर्थ से युक्त वाक्य – संदर्भ (काव्य), अभीष्टार्थ एवं धन की प्राप्ति तथा इन्द्रजाल आदि अद्भुत रस के विभाव हैं[3] ।

पद्म सुन्दर ने मुख्यतः शृंगार रस का वर्णन किया है । इसलिए उन्होंने अद्भुत रस के विभाव की चर्चा में जहां असम्भाव्य वस्तु, माया और इन्द्रजाल की चर्चा की है वहीं देवांगना और विपिन आदि के दर्शन का भी उल्लेख किया है जिसमें प्रकारान्तर से मानवीय एवं प्राकृतिक सौंदर्य दर्शन को अद्भुत के

---

1. प्रतापरुद्रीय : रस प्रकरण : पृ0 253.
2. लोक सीमातिवृत्तः पदार्थो पूर्वार्थः तद्दर्शनादिजन्यो मनोविकासो विस्मयः अयमेवाकस्मिक मनोरथलाभालौकिक दर्शनादि विभावो ××× अद्भुतः ।
   — वही, वृत्ति ।
3. चमत्कृत पदार्थानांस्मृतीच्छास्पर्शदर्शनैः । विकासोऽपरिपूर्णो यो मनसो विस्मयस्तु सः । विस्मयः परिपूर्णो सावद्भुताख्यो रसो भवेत् । लोकोत्तराणि कर्माणि शिल्पं रूपं तथा विधम् । लोकोत्तरार्थयुग्वाक्यसंदर्भोऽथ – धनागमः । अद्भुतस्य विभावो यामिन्द्रजालादिकं तथा ।
   – विद्याराम : रसदीपिका 3/80.

विभाव के रूप में स्वीकार किया गया है ।[1]

यशवन्त भूषण में कविराज मुरारिदान ने जिस प्रकार विस्मय को – अपूर्वालौकिकेमनोविषयश्चमत्कारो विस्मयः – कहा है, उसी प्रकार अद्भुत का विभाव भी अपूर्व वस्तु बतलाया है ।[2]

अमृतानन्द योगी ने अलौकिक चमत्कारि-वस्तु को आलम्बन एवं उद्दीपन माना है ।[3] भक्तिरसामृत सिन्धु में लोकोत्तर क्रिया के हेतु श्रीकृष्ण को विषय अथवा विभाव के रूप में स्वीकार किया गया है ।[4]

रामचन्द्र गुणचन्द्र ने अद्भुत के विभावों की लम्बी चर्चा की है । दिव्य, इन्द्रजाल, रम्य अर्थ का दर्शन तथा अनीष्ट सिद्धि से अद्भुत रस होता है । इस सूत्र की व्याख्या करते हुए लिखा है कि दिव्य का अर्थ है इन्द्रादि । (जबकि अभिनव ने दिव्य का अर्थ गंधर्व किया है) । इन्द्रजाल का अर्थ मंत्र, दैवी शक्ति एवं हाथ की सफाई से असम्भव वस्तु का प्रदर्शन है । रम्य अर्थ का तात्पर्य अत्यन्त हृदयाह्लादक अर्थ है, जिसमें शिल्प, कर्म, रूप, वाक्य, गन्ध, रस, स्पर्श, नृत्य, गीत आदि का समाहार है और उनके दर्शन का अर्थ उनका साक्षात्कार अथवा प्रत्यक्ष अनुभव है । इस दर्शन से ही उपलक्षण अर्थ में स्वयं कीर्तन (कथन) एवं श्रवण का भी समाहार किया गया है । अनीष्ट सिद्धि

---

1. विस्मयात्मादभुतोऽपिस्याद्रसोऽसंभाव्य वस्तुनः । मायेन्द्रजाल दिव्य स्त्री विपिनादेश्च दर्शनात् । – अकबर साहित्य शृंगार दर्पणम्, उल्लास 4/49, पृ0 40.
2. विभावोऽपूर्ववस्तुस्यादद्भुते तु रसेनृप –
– यशवन्त भूषण, पृ0 193.
3. अलौकिक चमत्कारिवस्त्यालम्बनमिष्यते ।
– अलंकार संग्रह, 3/53.
4. रूपगोस्वामी, क0ल0सि0(हिन्दी), अद्भुत भक्तिरस लहरी, पृ0 429.

से अत्यन्त ईप्सित की सिद्धि घोषित है, जिसका अर्थ प्राप्ति की है और निष्पत्ति की ।[1]

'हेमचन्द्र' ने अतिप्राकृत पदार्थों के दर्शन, अभीष्ट वस्तु या व्यक्ति की अप्रत्याशित उपलब्धि आदि के अतिरिक्त दो नये विभाव प्रस्तुत किये है - (क) अकस्मात् द्रव्य या आकृति में परिवर्तन तथा (ख) बाला आदि अस्त्रों के फेंकने में दक्षता ।[2] 'कुमारस्वामी' अभीष्ट व्यक्ति या वस्तु का अकस्मात् मिलन, दिव्य वस्तु दर्शन तथा इसी प्रकार के अन्य पदार्थ अद्भुत के विभाव हैं, ऐसा कहते हैं ।[3] 'साहित्य-सार' में 'विश्वेश्वराचार्य' ने अतिलोकीय पदार्थ को विभाव स्वीकार किया है । विद्यानाथ, वामन, जगन्नाथ आदि ने अपूर्वार्थ दर्शन, वस्तु माहात्म्य अथवा अलौकिक वस्तु को विभाव पक्ष में स्थापित

---

1. दिव्येन्द्रजाल-रम्यार्थ-दर्शनाभीष्ट सिद्धितः ।
अद्भुतः सोऽभिनेतव्यः हर्षोत्फुल्लत्व-रोमांच-हर्षतः ।। सूत्र 175, 19/121.

दिव्याः शक्रादयः । इन्द्रजालं मन्त्र-दिव्य-हस्तयुक्त्यादिना असंभवद्वस्तु प्रदर्शनम् । रम्यः सातिशयत्वेन हृद्योऽर्थः । शिल्प-कर्म-रूप-वाक्य-गन्ध-रस-स्पर्श-नृत्तगीतादिकः । तस्य दर्शनं साक्षात्कारः । अनेक स्वयं कीर्तनं श्रवणं च गृह्यते । अभीष्टमत्यन्तमीप्सितम् । तस्य सिद्धिः प्राप्तिः निष्पत्तिर्वा । स्वयादिभ्यो विभावेभ्यो विस्मयस्थायी अद्भुतो रसो भवति । - नाट्यदर्पणम्, तृतीयो विवेकः 19/121, पृ0 316-17.

2. काव्यानुशासन अलंकार चन्द्रिका टीका सहित, हेमचन्द्र, पृ0 119-120.

3. प्रतापरुद्रीय यशोभूषण - कुमार स्वामी, विद्याभूषण कृत रत्नापण टीका, पृ0 235.

किया है ।[1] 'वाग्भट्ट' के अनुसार दिव्य दर्शन, अनीष्ट प्राप्ति, देव, विमान, माया, इन्द्रजाल, अतिशय शिल्प-कर्म आदि इसके विभाव हैं ।[2]

हिन्दी के आचार्यों ने भी संस्कृताचार्यों के अनुकरण पर ही अद्भुत के विभाव की चर्चा की है । चिन्तामणि ने अलौकिक वस्तु को उद्दीपन विभाव माना है ।[3] कुलपतिमिश्र ने अनहोनी घटना, अनुपम वचन अथवा रचना को विभाव स्वीकार किया है ।[4] भिखारीदास ने नूतनता, छवि की अतिशयता और अतिशय विचित्रता को स्थायी भाव स्वीकार करके व्यापक आधार ग्रहण किया है ।[5] रसलीन ने केवल नूतनता के दर्शन और श्रवण में विभाव की कल्पना की है ।[6] पद्माकर ने जो कुछ असम्भव है, उसके सम्भव हो जाने में अद्भुत की निष्पत्ति मानी है । अतः असम्भाव्य वस्तु को विभाव स्वीकार किया है ।[7]

नवरस तरंग में केनी प्रवीन ने अलौकिक वस्तुता को आलम्बन तथा उसकी महिमा और गुण को उद्दीपन माना है ।[8] कन्हैयर बाजपेयी ने

---

1. प्रथम अध्याय में विस्मय के विवेचन में उद्धरण दिये जा चुके हैं ।
2. काव्यानुशासन अध्याय 5. आधुनिक हिन्दी काव्य में परम्परा तथा प्रयोग, पृ० 185 पर उद्धृत ।
3. 'निरखि अलौकिक वस्तु जो होत चित्त विस्तार' —चिन्तामणि कविकुलकल्पतरु, पृष्ठ 138.
4. रस रहस्य, 3/87-89.
5. 'नयी बात को पाइबो, अति विभाव छवि चित्र' —रस सारंग, भिखारीदास, आचार्यग्रन्थमाला-1, छं0465.
6. 'नयी बात कछु देखि सुनि, उपजत है जो आनि'
—रसलीन, रसप्रबोध, पृ० 134.
7. 'असम्भवित जेते चरित तिनको तथ्य विभाव'
—पद्माकर जगद्विनोद 717, आगर ग्रंथमाला, पृ० 230.
8. 'होत अलौकिक वस्तुता आलम्बन में वास ।
महिमा गुन को जानिये उद्दीपन अनुभाव ।।
— नवरस तरंग, केनी प्रवीन, दोहा-525-26.

आश्चर्य दर्शन और श्रवण को विभाव माना है जो बहुत स्पष्ट नहीं है ।[1] मुरलीधर अनुपम बात को आलम्बन और उसी अनुपम कथा का कहना, उद्दीपन स्वीकार करते हैं ।[2]

नन्दराम[3] ने तथा आधुनिक युग में जगन्नाथ भानु[4] ने पद्माकर को ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया है । हाँ, व्याख्या करते समय भानु ने 'असम्भावित वस्तु, चरित्र तथा वार्ता आलम्बन है, गुणों की विचित्रता व महिमा उद्दीपन'[5] लिख कर थोड़ा विस्तार दे दिया है ।

पं० सीताराम चतुर्वेदी ने 'किसी अनोखे, अद्भुत, असम्भव, अश्रुतपूर्व, अदृष्टपूर्व, अलौकिक या असाधारण किन्तु सुखकर व्यक्ति, वस्तु या क्रिया के साक्षात्कार से अथवा अप्रत्याशित स्थल पर या दशा में इष्ट या परिचित का मिलन या परिज्ञान को विभाव के रूप में स्वीकार किया है ।[6]

इस प्रकार हिन्दी संस्कृत के अलंकार-शास्त्रियों की धारणा में असामान्य, अलौकिक, लोकोत्तर, आकस्मिक, अपरिचित, अप्रत्याशित, देशकाल विरुद्ध वस्तु

---

1. जेह विभाव आश्चर्य लहि, सुनि विसमै अति होइ ।
   — रसिक विनोद चन्द्रशेखर वाजपेयी, पृ० 458.
2. विसयौ सपूरन कही जो अद्भुत रस,
   अनुपम बात आलम्बन विभाव कहि ।
   कहै 'कवि भूषन' इतहि अनुपम कथा
   कहिबो सुनिबो सो उद्दीपन विभाव लहि ।।
   — अलंकार प्रकाश, कवि भूषण मुरलीधर, षष्ठ उल्लास, कवित्त-279.
3. 'असंभावित चरितादि लखन सुविभाव मनोई ।' —नन्दराम: शृंगारदर्पण, 10/65, पं०-2.
4. 'असंभवित जेते चरित तिनको लखत विभाव'
   — काव्यप्रभाकर, जगन्नाथ भानु, पृ० 436.
5. वही, पृष्ठ 436-37.
6. अभिनव नाट्यशास्त्र (डा०सीताराम चतुर्वेदी) सूत्र 179 की व्याख्या पृ०459.

की अविरुद्ध उपस्थिति, अपूर्व वाक्य, शिल्प, कर्म, रूप, सहसा इष्ट प्राप्ति, दिव्यदर्शन, माया इन्द्रजाल, चित्रभाव आदि को विभाव के अन्तर्गत स्वीकार किया है ।

मैक्डुगल के मतानुसार विचित्र, असामान्य और अपरिचित से औत्सुक्य का जन्म होता है, जिसकी परिणति विस्मय में होती है ।[1] सली के मत में उन प्रत्याशितता की अपेक्षा विचित्र और अपरिचित विस्मय के उद्रेक में अधिक सहायक होते हैं । क्षेण्ड के मत के अनुसार विस्मय का आलम्बन अप्रत्याशित होता है । अप्रत्याशित का अर्थ है — मस्तिष्क में संचित पूर्वानुभव तथा वर्तमान अनुभव के बीच द्वन्द्वात्मक स्थिति । रीक दमित आकांक्षाओं की पूर्ति अथवा पूर्ति के निश्चय को विभाव मानते हैं । वर्लाइन के मत में एक उत्तेजक घटना जो हमारी आकांक्षाओं से मेल नहीं खाती, अद्भुत रस का विभाव बनती है । जिंगरैली के मत में आकस्मिक एवं तीव्र उद्दीपक की अप्रत्याशित उपस्थिति, वस्तु या घटना का अपने वर्ग या संदर्भ से हटकर घटित होना इत्यादि को अद्भुत का विभाव माना गया है ।[2]

जहाँ तक प्राचीन आचार्यों द्वारा विभावों के परिगणन का प्रश्न है, उन्हें उपलक्षणमात्र समझना चाहिए, क्योंकि नामशः परिगणन संभव नहीं है । दूसरी बात यह है कि देश-काल एवं पात्र भेद से विभाव बदलते रहते हैं । भरत आदि के युग के विभाव आज की दुनिया में विभाव नहीं रहे । अद्भुत के आलम्बन प्रथम परिचय में ही विस्मयजनक होते हैं । अतिपरिचय से उनका चमत्कार मिट जाता है । अभिनवगुप्त का यह कथन कि 'देवकुलगमन उसके लिए

---

1. इंट्रोडक्शन टू सोशल ~~पैथालाजी~~ साईकॉलोजी : पृ० 57-58.

2. इन विद्वानों के मतों का उल्लेख प्रथम अध्याय में विस्तारपूर्वक किया जा चुका है ।

अद्भुत रस का विभाव होता है जिसने वहाँ के जैसे सुन्दर वचन आदि नहीं देखे हैं ।" इस बात का प्रमाण है कि आचार्यों को भी इस तथ्य का पूर्ण अनुभव था ।

अतः अद्भुत के आलम्बन सदा नूतन होने चाहिए । आज के युग में चन्द्रलोक की यात्रा जैसे विभाव ही चमत्कारजनक हो सकते हैं । जीवन की परिस्थितियों के अनुसार आलम्बन में भेद होता रहता है । आज की वैज्ञानिक चित्तवृत्ति का प्रधान आनन्द कौतूहल में है, उत्सुकता में है आत्मीयता में नहीं ।[1] अतएव रागात्मकता के बदले बौद्धिकता में ही आज का विस्मय दृष्टिगोचर होता है ।

काव्य में कवि का समस्त कल्पना व्यापार तथा अप्रस्तुत विधान जो नवोल्लेखशालिता का प्राणतत्त्व है, केवल विस्मय की सृष्टि के लिए है । नूतनता से आकर्षण और उससे अद्भुत की सृष्टि होती है । अतः स्थूल अति-रंजना से लेकर सूक्ष्म अन्वेषणात्मकता तक भावुक वैभोर कल्पना से लेकर गंभीर दार्शनिक चिंतन तक तथा शब्दक्रीड़ा से लेकर मार्मिक रसमयता तक सब कुछ विस्मय के विभाव हैं । इनकी कोई इयत्ता नहीं ।

अद्भुत का विभाव विवेचन :

आचार्यों ने अद्भुत के जिन उपर्युक्त विभावों की चर्चा की है, वे सभी विभाव नहीं कहे जा सकते । उनमें से कुछ स्पष्ट ही विभाव के गुण हैं जैसे — लोकोत्तर, असाधारण्य, विलक्षण, उदात्त, चित्र असम्भाव्य, अपरिचित, अप्रत्याशित इत्यादि । ये सब विशेषण देश, काल, स्वरूप, स्वभाव एवं बुद्धि की पहुंच से परे रहने वाले किसी व्यक्ति-वस्तुगुण या व्यापार का बोध-

---

1. इजारीप्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य की भूमिका : पृ० 137.

कराते हैं । इसी प्रकार विरूप की अविरूप उपस्थिति, अकस्मात् परिवर्तन आदि का सम्बन्ध भी देशकाल से है ।

दूसरी ओर कुछ विभाव अनुभूति के माध्यम हैं जिनका वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है :—

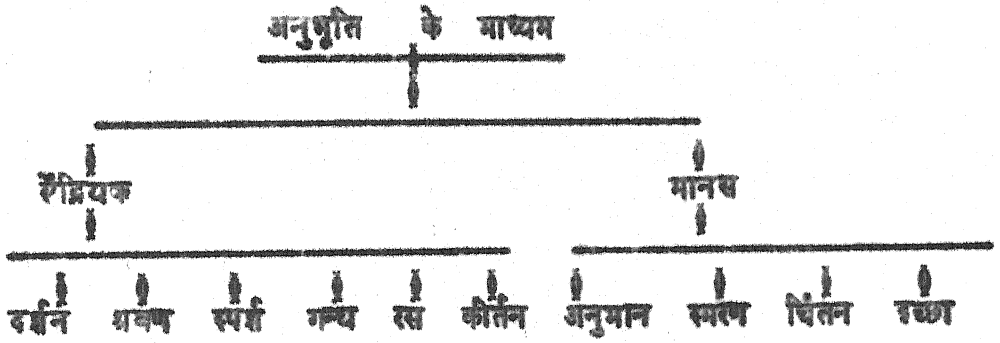

इस प्रकार जो विभाव शेष बचते हैं वे हैं — वाक्य, शिल्प, कर्म, रूप, वस्तु, घटना, माया, इन्द्रजाल, कौशल इत्यादि । ये सब जैसे प्रत्यक्ष लौकिक अनुभव में विस्मय की सृष्टि करते हैं । वैसे ही काव्य में वर्णित होकर भी विस्मयजनक होते हैं ।

प्रायः विद्वानों ने विभावों की चर्चा नाटक या नाट्यधर्मी काव्यों के आधार पर की है । केवल काव्यविशेषतः मुक्तक-को ध्यान में रखकर विभाव का विवेचन नहीं किया है । कुछ विद्वानों ने अद्भुत का अनुरंजनकारी भेद करके कवि-कर्म (आलंकारिक अद्भुत अभिव्यक्ति) को भी अद्भुत का विभाव मान लिया है,[1] किन्तु जैसा आगे विवेचन से स्पष्ट होगा, कवि कर्म विस्मय तत्व का विभाव हो सकता है, विस्मय स्थायीभाव का नहीं ।

जैसा पाँचवें अध्याय में कुन्तक के अनुसार कहा जा चुका है काव्य में तत्व और निर्मिति का ही महत्व है । उसमें कल्पना शक्ति दोनों के योगायोग से अनन्त सौन्दर्यमयी कृतियों को जन्म देती है । अतः निम्नलिखित तीन तत्वों के आधार पर वर्गीकरण का एक विनम्र प्रयास प्रस्तुत है :—

---

१. रससिद्धान्त और चुना भाव का मनोवैज्ञानिक विवेचन : डा० कृष्णदेव झारी, पृ० 492.

(क) तत्त्व के आधार पर :—

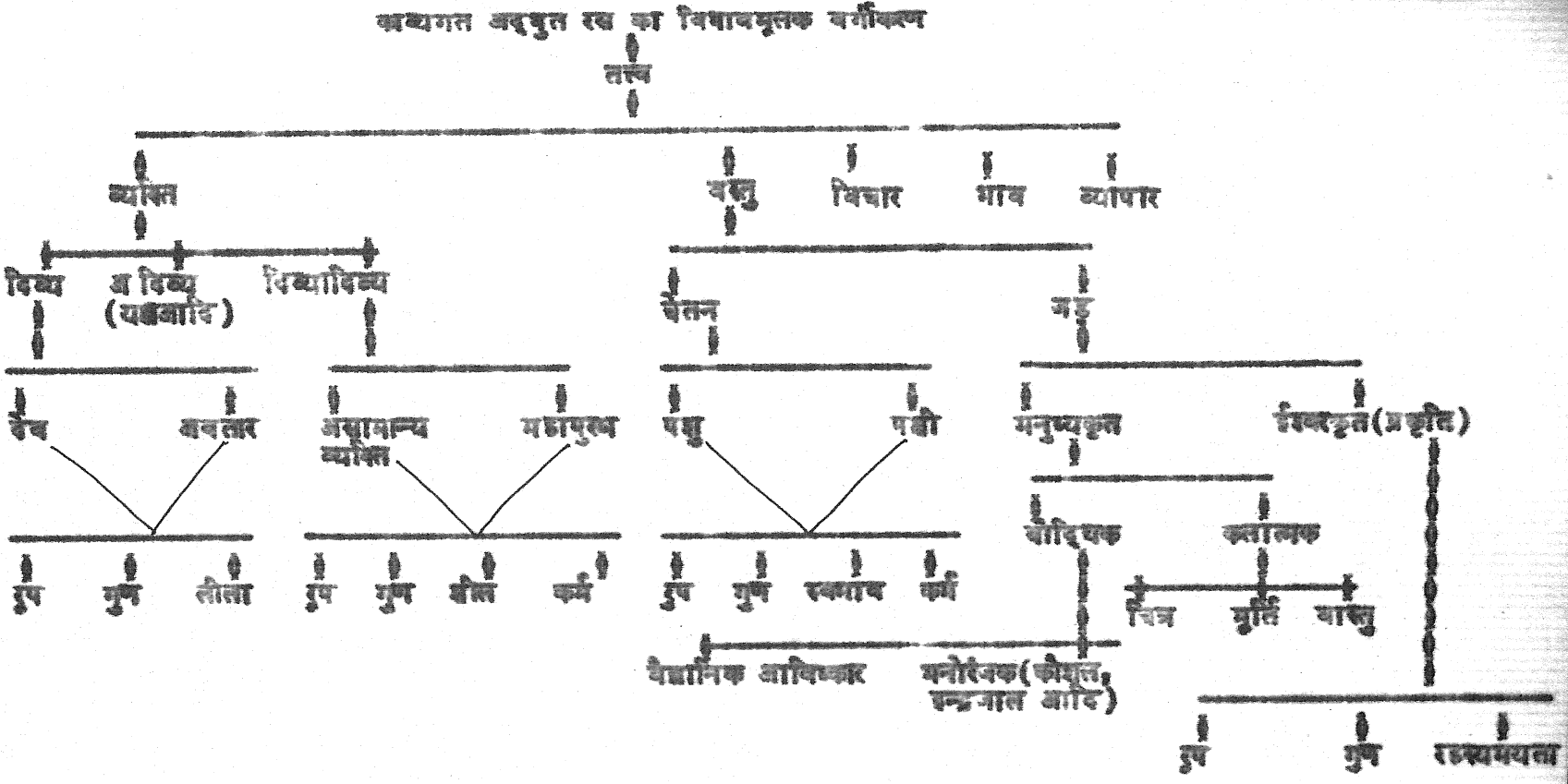

इस वर्गीकरण में जिन विभावों की चर्चा की गयी है, उनमें सभी आलंबन हो सकते हैं और सभी उद्दीपन, क्योंकि आलम्बन एवं उद्दीपन का विभाग व्यावहारिक है आत्यन्तिक नहीं ।

(ब) निर्मिति के आधार पर :—

कवि कर्म के माध्यम
(शब्द वीणा)

भाषा	अलंकार	प्रतीक	बिम्ब	उक्ति-वैचित्र्य

इस वर्गीकरण में जिनका उल्लेख किया गया वे विभाव तत्त्व के आलम्बन होते हैं । अद्भुत रस में ये अधिक से अधिक उद्दीपन का कार्य कर सकते हैं क्योंकि इनके द्वारा अभिव्यक्ति में सौन्दर्य आता है ।

(ग) कल्पना :[1]

कल्पना, तत्त्व और निर्मिति के योगायोग से, अनन्त सौन्दर्यमयी एवं रसमयी काव्य की सृष्टि करती है ।

अनुभाव :

अनुभाव का सम्बन्ध रस सामग्री के अभिव्यक्ति पक्ष से है । आलम्बन के प्रति आश्रय के हृदयस्थित भावों का अनुवर्तन या अभिव्यक्ति कराने वाली आंगिक आदि चेष्टाएँ अनुभाव कहलाती है । आचार्य भरत ने वाणी, अंग तथा

---

1. कल्पना तत्त्व का विवेचन इससे पूर्व किया जा चुका है ।

सत्व द्वारा सम्भावित नाना अर्थों से निष्पन्न अभिनय को अनुभावित करने वाले (साक्षात्कार कराने वाले अथवा अनुभव गोचर बनाने वाले) तत्व को अनुभाव कहा है । यहीं उद्धृत एक आनुवंश्य श्लोक में कहा गया है कि वाणी तथा अंगों के अभिनय से, वाणी तथा अंग से संयुक्त अर्थ जिससे अनुभावित होता है, उसको अनुभाव कहते हैं ।[1]

इससे स्पष्ट है कि अनुभाव नाटक में पात्रों के अर्थों और मनोभावों के सहृदय को साक्षात्कार अथवा अनुमान कराने में सहायक होते हैं । आश्रय की दृष्टि से यह अनुभाव कार्य रूप होते हैं और सहृदय की दृष्टि से कारण-रूप । काव्य की दृष्टि से पात्रों की अनुभूति के सभी उपक्रम जिनसे वाह्यभिव्यक्ति संभव है, अनुभाव कहे जाने चाहिए । इसीलिए साहित्यदर्पणकार ने लिखा है कि अपने-अपने कारणों से उद्बुद्ध भाव को बाहर प्रकाशित करनेवाला लोक में जो कार्य कहलाता है, वही काव्य और नाटक में अनुभाव है ।[2] पंडितराज जगन्नाथ ने भी, जो कुछ स्थायीभाव का कार्य है, उसीको अनुभाव कहा है । इस प्रकार अनुभाव अनुभव प्रदान करने का कारण है, और इनकी व्युत्पत्ति अनुभव शब्द से की गयी है किन्तु पंडितराज[3] एवं अन्य विद्वानों ने इसकी

---

1. अथानुभावा इति कस्मादुच्यते । यदयमनुभावयति नानार्थाभिनिष्पन्नो वागंगसत्वैः कृतोऽभिनय इति । अत्र श्लोकः —

   वागंगाभिनयेनेह यतस्त्वर्थोऽनुभाव्यते ।
   वागंगोपांगसंयुक्तस्त्वनुभावस्ततः स्मृतः ।।—ना०शा०, 7/5.

   भारतीय काव्यशास्त्र की परंपरा : डा०नगेन्द्र, पृ० 25 से उद्धृत ।

2. उद्बुद्धः कारणैः स्वैः स्वैर्बहिर्भावं प्रकाशयन् ।
   लोके यः कार्यरूपः सोऽनुभावः काव्यनाट्ययोः ।।—सा०द० 3/132-33.

3. स्थायिभावानां यानि कार्यतया प्रतिद्धानि तानि अनुभावशब्देन व्यपदिश्यन्ते । अनु पश्चाद् भावः उत्पत्तिः येषाम् । अनुभावयन्ति इति वा व्युत्पत्तेः ।
   — रसगंगाधर : पृ० 33.

व्युत्पत्ति 'अनुपश्चाद्भावः उत्पत्ति येषाम् अथवा अनुपश्चाद् भावो यस्य सोऽनुभावः'[1] के आधार पर अनु और भाव शब्द के योग से की है । इस दृष्टि से इसका अर्थ है जो भाव के पीछे उत्पन्न होता है या भाव का अनुवर्ती है, वह अनुभाव है ।

अतः हृदयस्थित भावों की व्यंजना करने वाली ये विविधा पात्र, परिस्थिति, मनःस्थिति, देश-काल, वातावरण सभ्यता आदि अनेक तत्वों से नियंत्रित एवं परिचालित होने के कारण अनन्त और असंख्य हैं । नाटक की भाँति कथा काव्यों में भी नाट्यधर्मिता के कारण अनुभाव योजना के लिए पर्याप्त प्रसंग मिल जाते हैं । मुक्तकों में भी जहाँ संदर्भ, पृष्ठभूमि आदि व्यंग्य होते हैं वहाँ भी अनुभाव योजना के लिए पर्याप्त अवसर मिल जाता है। अतः संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि काव्यनिबद्ध मूल अनुभूतियों को जिन व्यापारों एवं चेष्टाओं द्वारा अभिव्यंजित किया जाता है उन्हें अनुभाव कहते हैं ।

अनुभावों के भरत ने कायिक, आंगिक, सात्विक और आहार्य चार भेद किये हैं । पुनश्च उन्होंने कायिक के शाखा अंग एवं उपांग से संयुक्त तीन भेद किये हैं — शारीर, मुखज एवं चेष्टाकृत । पुनः इनके अनेक उपभेदों की चर्चा है तथा अन्त में यह कह दिया गया है कि लोक स्वभाव के अनुसार इनके बहुत से भेद होते हैं जिन्हें प्रयोक्ताओं को लोक स्वभाव के अनुसार अभिनीत करना चाहिए ।[2]

---

1. अनुपश्चाद् भावो यस्य सोऽनुभावः कार्यश्च । —साहित्यकौमुदीटीका, पृ० 29. (रससिद्धान्त स्वरूप विश्लेषण, पृ० 23 के आधार पर)
2. (क) आंगिको वाचिकश्चैव ह्याहार्यः सात्विकस्तथा —ना०शा०, अ० 8, श्लो० 10.
   (ख) त्रिविधस्त्वांगिको ज्ञेयः शारीरोमुखजस्तथा ।
   तथा चेष्टाकृतश्चैव शाखांगोपांग संयुतः ।।— वही, 8/12.
   (ग) एभ्योऽन्ये बहवोभेदा लोकाभिनय संश्रयाः ।
   ते च लोकस्वभावेन प्रयोक्तव्याः प्रयोक्तृभिः ।।— वही, 8/39.

भानुदत्त ने कायिक, मानसिक, आहार्य और सात्विक ये चार भेद किये हैं[1]। जिनमें मानसिक नया है । शारदातनय और सिंग भूपाल[2] ने मन आरंभानुभाव, वागारंभानुभाव, बुद्ध्यारंभानुभाव तथा गात्रारंभानुभाव आदि चार भेद माने हैं किन्तु हम भरतानुमोदित तथा परंपरा से स्वीकृत वाचिक, आंगिक, सात्विक तथा आहार्य को ही स्वीकार करते हैं । इससे स्पष्ट है कि किसी भावविशेष के उद्वेलन के क्षण में होनेवाले विकार, व्यापार, चेष्टा आदि का अनुभाव में समाहार होता है ।

'भरतमुनि' ने अद्भुतरस के नेत्र विकास, निर्निमेष दृष्टि, रोमांच, अश्रु, स्वेद, हर्ष, साधुवाद, दान प्रकम्प – हाहाकार, हाथ मुख वस्त्र या अंगुली का इधर उधर घुमाना आदि अनुभाव बताये हैं ।[3] अभिनव ने व्याख्या करते हुए लिखा है कि – हर्ष शब्द से अद्भुत रस के अनुभवों को लेना चाहिए । साधुवाद का अर्थ है, वाह-वाह करना, दान का सम्बन्ध धनादि से है, प्रकम्प हाहाकार का तात्पर्य है – निरन्तर आह, ओह, हाय जैसे शब्दों का उच्चारण करना ।[4]

---

1. रसतरंगिणी : भानुदत्त : पृ० 49.
2. भाव प्रकाशनम् : पृ० 6 तथा रसार्णव सुधाकर (सिंगभूपाल) पृ० 48.
3. तस्य नयन विस्तार –अनिमिष प्रेक्षण रोमांच, अश्रु, स्वेद, हर्ष–साधुवाद–दान–प्रकम्प–हाहाकार–बाहुवदन–चेलांगुलिभ्रमणादि– भिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः । – भरत नाट्यशास्त्र, अध्याय 6.
4. तस्यइत्यद्भुतस्य । हर्षशब्देनात्र तदनुभावाः । साध्विति यदनं साधुवाद॥ दानञ्च धनादेः । प्रकम्पं सततं कृत्वा हा-हा शब्दस्य करणञ्च । चेलस्यांगुलेश्च भ्रमणञ्च ।

– हिन्दी अभिनव भारती, अ० 6, पृ० 604.

इस सम्बन्ध में नाट्यशास्त्र में एक आनुवंशीय आर्या उद्धृत है, जिसका अर्थ है अद्भुत का अभिनय स्पर्श, ग्रहण, शरीर को आनन्द के अतिरेक में ऊपर उछालने, हा हा शब्द के उच्चारण, साधुवाद, कम्प, गद्गद वचन तथा स्वेद आदि के द्वारा करना चाहिए ।[1] इस पर अभिनव की टिप्पणी है कि स्पर्श, ग्रह इत्यादि से आगे अद्भुत रस के विभाव रूप में कहे जाने वाले अभिनय को ग्रहण करना चाहिए जैसा कि आगे कहा भी है, 'आँखों को थोड़ा सिकोड़कर, भौंहों को ऊपर उठाकर, कपोलों को अँगों कंधे से लगाकर, स्पर्श का अभिनय करना चाहिए ।[2] उत्लुकसन का अर्थ है प्रसन्नता से शरीर को ऊपर उछालना । श्लोक में बहुवचन प्रयोग विभिन्न पुरुषों के प्रकृति भेद से उत्पन्न होनेवाले प्रकार वैचित्र्य को सूचित करता है ।[3]

भाव प्रकाशन में शारदातनय ने अद्भुत के अनुभावों के मानस, आंगिक और वाचिक पृथक् पृथक् वर्गीकरण किये हैं । उनके मत में 'ध्यान, आँखों का फैल जाना, मुख और आँखों में प्रसन्नता की झलक, आनन्द के आँसू आ जाना, रोमांच, निर्निमेष दृष्टि तथा मन की चंचलता आदि मानस अद्भुत के अनुभाव हैं ।'

---

1. स्पर्शग्रहोत्लुकसनैर्हाहाकारैश्च साधुवादैश्च 2 वेपथुगद्गदवचनैः स्वेदाद्यैरभिनयस्तस्य
(स्पर्शग्रहोत्कर्षनैः पाठान्तर है जिसका अर्थ है जोर जोर से हँसना)
— भरत नाट्य शास्त्र, 6/77.

2. स्पर्शग्रह शब्देन तद्विषयभावावयः । अभिनयोवक्ष्यमाणो लक्ष्यते ।
किंचिदाकुंचिते नेत्रे कृत्वा भ्रूक्षेपमेव च । तयोस्तु गण्डयोः स्पर्शात् स्पर्शमेवं विनिक्षिपेत् । — ना०शा०, 22/83.

3. गात्रस्योर्ध्वं लाघवादं धूननमुत्लुकसनम् । बहुवचनं प्रकृतिभेदेन प्रकार वैचित्र्यं सूचयति ।
— हिन्दी अभिनव भारती, पृ० 605.

वस्त्र (रूमाल आदि) और उंगली का रचाना, उठ उठ कर बड़बड़ाना, निरन्तर दान देना, नाटकीय चेष्टाएं करना, एक-दूसरे के गले मिलना, एक-दूसरे के हाथ पर हाथ मारना इत्यादि प्रकार के विकार आंगिक अनुभाव में होते हैं। हाहाकार करना (आह, ओह, हाय, ओ हो-हो, आदि ध्वनियां करना) वाह-वाह करना, गाल बजाना, ज़ोर से हंसना, प्रसन्नता से तरह-तरह की आवाज़ें निकालना, गीत गाना, ऊंची नीची आवाज़ में बोलना इत्यादि प्रकार के विकार वाचिक अनुभूति के अनुभाव हैं।[1]

प्रतापरुद्रीय में केवल दो अनुभावों की चर्चा है – नयन विक्तार और साधुवाद।[2] दशरूपक में साधुवाद, अश्रु, कम्प, स्वेद और गद्गद वचन को अनुभाव कहा गया है।[3]

---

1. ध्यानं नयन विक्तारः प्रसादोवदनेदृशि।
आनन्दाश्रुसरोमांचमनिमेषावलोकनम् ।।–अधि06, पृ065, पं0 21-22.
अनिश्चलत्वं मनसोयस्मात्तन्मानसोऽनुभः ।
चेलांगुलीनां भ्रमणमुत्थायोत्थाय वल्गनम् ।।
दानं प्रबन्धोनटनमालेषश्चपरस्परम् ।
परस्परस्य भुजयोः परस्परतलाहतिः ।।
एवमादि विकारो यः सत्त्ववेदांगिकोऽनुभः ।
हाहाकारः साधुवादः कपोलास्फालनादयोनिः ।।
उच्चैर्हासो हर्षशोकौगीतमुच्चावचं वचः ।
एवमादि विकारो यः सत्त्ववेद्वाचिकोऽनुभतः ।।–भावप्रकाशन, अधि06, पृ066, पं0 1-8.

2. 'नयनविक्तार साधुवादाद्यनुभावः'
– प्रतापरुद्रीय रस प्रकरण, पृ0 235.

3. कम्पास्य साधुवादाश्रुवेपथुस्वेदगद्गदाः
– दशरूपक, चतुर्थ प्रकाश, श्लोक 7, पृ0 289.

स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, गद्गद वचन, घबराहट तथा आंखों का फैल जाना आदि अनुभावों का उल्लेख विश्वनाथ ने साहित्य दर्पण में किया है ।[1]

नाट्यदर्पण में मूलसूत्र में तो केवल हर्ष का उल्लेख है किन्तु टीका में नयन विस्तार, शरीर को उछालना, निर्निमेष दृष्टि, वस्त्र और उंगली का घुमाना, गद्गद वचन, कम्प तथा स्वेद आदि अनुभावों का ग्रहण किया गया है ।[2]

वाग्भट्ट के अनुसार आंखें फटना, अपलक दृष्टि से निहारना, रोमांच, अश्रु, स्वेद, साधुवाद, दान, विस्मय प्रकट करना, अंगुली भ्रमण आदि इसमें अनुभाव हैं ।[3] चमत्कार चन्द्रिका में स्थिर दृष्टि, सिर हिलाने, वाह-वाह करने आदि को अनुभाव माना गया है ।[4] कविराजा मुरारिदान ने वाह-वाह करने, सिर हिलाने तथा निर्निमेष देखने को विस्मय का अनुभाव बताया है ।[5] विद्याराम ने

---

1. स्तम्भस्वेदोऽथ रोमांच गद्गद स्वर संभ्रमाः ।
तथानेत्रविकासाद्या अनुभावाः प्रकीर्तिताः ।।
— साहित्यदर्पण, परि० 3/244.

2. सोऽभिनेतव्यः श्लाघा रोमांच हर्षतः ।
हर्षेण स्वानुभावाः सूच्यन्ते । एभिर्नयनविस्तार गात्रोल्लुकसनानिमिष प्रेक्षण-चेलांगुलि भ्रमण-गद्गद वचन वेपथु स्वेदादेरनुभावस्य ग्रहः ।
— नाट्यदर्पण, तृतीय विवेक, पृ० 316 से 330 तक ।

3. काव्यानुशासन, अ० 5, आधुनिक हिन्दी काव्य में परंपरा तथा प्रयोग, पृ० 185–189 से उद्धृत ।

4. नयननैश्चल्यशिरोधूननच्छोटिका साधुवादाद्यनुभावः ।
— चमत्कारचन्द्रिका, विश्वेश्वर, पृ० 122.

5. साधुवादः सिरः कम्पो नयनस्यानिमेषणम् ।
इत्याद्याधरणीपालानुभावाः परिकीर्तिताः ।।
—श्लो०2, पृ० 193 (यशवन्तभूषण—कविराजा मुरारिदान)

भी अपलक दृष्टि, स्पर्शग्रहण, उल्लास, हुंकार, बाह-बाह करना, रोमांच, स्वर का बदल जाना, कम्प एवं गद्गद वचन को अनुभाव बताया है ।[1] केशवमिश्र ने आंखों में विकार आ जाना, पुलक, स्वेद, स्थिर दृष्टि और साधुवाद को अनुभाव के रूप में स्वीकार किया है ।[2]

पद्मसुन्दर ने प्रसन्नता से आंखों का फैल जाना, गद्गद वाणी, बाह-बाह करना, स्वेद, रोमांच, कम्प तथा आंखों की पुतली का स्थिर हो जाना अद्भुत का अनुभाव बतलाया है ।[3] अमृतानन्द योगी ने आंख, मुख, कपोल आदि के फड़क उठने को अनुभाव कहा है, तथा सात्विक अनुभावों में स्वेद, रोमांच, आदि की गणना की है ।[4]

हिन्दी आचार्यों में कुलपतिमिश्र ने रसरहस्य में गद्गद वचन, तनु, कम्प और रोमांच आदि को अनुभाव माना है ।[5] रसलीन ने विभाव के विषय में

---

1. निर्निमेषेक्षणं स्पर्शग्रहणोल्लासहुङ्कृतिः ।
   साधुवादाश्रुरोमांचः स्वरभेदोऽथ वेपथुः ।।
   अनुभावोऽद्भुतस्यार्यं गद्गदा भाषणादि च ।
   —रसदीपिका — विद्याराम : सोपान 3, श्लोक 81.

2. तत्र नेत्रविकारः स्यात् पुलकः स्वेद एव वा
   निष्पन्दनेत्रता साधु साधुवादा तथा च गीः ।।
   —अलंकार शेखर, केशवमिश्र, मरीचि 20, पृ0 75, श्लोक 26.

3. अक्षनेत्रविकासः स्याद्गद्गदः साधुवादिता ।
   स्वेदरोमांचकम्पाश्च दृशो निश्चलतारता ।।
   —अकबरसाहि शृंगारदर्पणः पद्मसुन्दर, उल्लास 4/51, पृ0 40.

4. अनुभावानेत्रवक्त्रगण्डविकृतादयः ।
   सात्विकाः स्वेद रोमांच प्रमुखाः परिकीर्तिताः ।।
   —अलंकारसंग्रह, अमृतानन्दयोगी, परि03, श्लो054, पृ0 20.

5. रसरहस्य 3/87-92.

जानकारी न होने के कारण सहसा उसकी उपस्थिति में चौंक पड़ने को अनुभाव कहा है ।[1] पद्माकर ने बनाकर बोलना, कम्प और रोमांच को अनुभाव कहा है ।[2] बेनी प्रवीन ने नयन विकासादिक कहकर अनुभाव का संकेतमात्र किया है ।[3] मुरलीधर ने स्पर्श, उच्छ्वास, टकटकी लगाकर देखना, ढाय बरना आदि को अनुभाव माना है ।[4] जगन्नाथ प्रसाद भानु ने पद्माकर का ही अनुवाद कर दिया है ।[5]

पं० सीताराम चतुर्वेदी ने परंपरा से प्राप्त अनुभावों के अतिरिक्त कुछ नये अनुभावों का उल्लेख किया है । उनके मत में कुतूहल, जिज्ञासा, उत्कंठा, देखते रहने की लालसा, उल्लास, हर्ष, सन्तोष, रतम्भ, विस्मय, आँख फाड़ना, मुँह बनाना, ठोड़ी में ढाय लगाकर या दाँतों तले उँगली दबाकर चकित होकर देखना आदि इसके लक्षण हैं ।[6]

भावों के क्षेत्र में अनुभावों का विवेचन मनोविज्ञान में सबसे अधिक और समर्थ रूप में हुआ है । वहाँ अनुभावों के कार्य-कारण, विवेचन पर विशेष बल दिया गया है । मैक्डुगल के अनुसार प्रत्येक भावानुभूति के साथ किसी न

---

1. बिनु कुछे जो चकि रहै ।
   बहै जानि अनुभाव ।। (रसलीन, रसप्रबोध, पृ० 134)
2. बचन बिरंचि बोलनि कंपनि ।
   रोम उठब अनुभाव ।। (पद्माकर, जगद्विनोद–718.)
3. ---------- अनुभाव ।
   नयन विकासादिक सबै बरनत हैं कविराज ।। –नखसतरंग, बेनीप्रवीन, पो0526
4. परस उसासु रुकटक चितवन ढाइ ।
   आई भले भले गहि लीयो अनुभाव चहि ।।
5. बचन विकस बोलनि, कंपनि, रोम उठनि अनुभाव–काव्यप्रभाकर, जगन्नाथ प्रसाद भानु, पृ० 437.
6. सीताराम चतुर्वेदी, अभिनव नाट्यशास्त्र, पृ० 459.

किसी शारीरिक परिवर्तन का योग होता है जिसे 'सांवेगिक अभिव्यंजना' नाम दिया जाता है ।[1] इतना तो स्पष्ट है कि जब कोई अपने भावों को व्यक्त करना चाहता है तो या तो वह भाषा का माध्यम स्वीकार करता है अथवा अभिव्यंजनात्मक चेष्टाओं के माध्यम से अपने भावों को व्यक्त करता है । इनमें कुछ अभिव्यंजनाएं सायास और सोद्देश्य होती हैं तो कुछ अनायास और अकृत्रिम । इन अकृत्रिम माध्यमों से सांवेगिक अनुभूतियों की अभिव्यंजना अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट और अभिप्रायबोधक होती है ।[2]

डा० एस०एस०माथुर ने भाव या संवेग की प्रेरणा से उत्पन्न होने वाले शारीरिक या मानसिक परिवर्तनों एवं चेष्टाओं का निम्नलिखित वर्गीकरण किया है —

(i) चेतना में परिवर्तन,

(ii) बाह्य व्यवहार में परिवर्तन,

(iii) आन्तरिक क्रियाओं में परिवर्तन ।[3]

अद्भुत रस को ध्यान में रखकर अनुभावों को निम्नलिखित ढंग से वर्गीकृत किया जा सकता है :—

(क) चेतन सम्बन्धी परिवर्तनों में मुख्यतः तर्कशक्ति का कुंठित हो जाना, क्रियाकलापों पर बौद्धिक नियंत्रण का न रह पाना, अनैच्छिक क्रियाओं को प्रमुखता रहना आदि को ग्रहण किया जा सकता है ।

---

1. That each kind of emotional experience is normaly accompanied by bodily changes which we call 'The expression of the emotion'.

(An Outline of Psychology - Medougall, Page 317)

2. Psychology : R.S. Woodworth and B.C. Marquis, Page 348.

3. General Psychology - Dr. S.S. Mathur, Page 166.

(ख) बाह्य व्यवहार के परिवर्तनों में तीन भेद किये गये हैं —

(i) मुखाकृति में परिवर्तन — जैसे— भौंहों का चढ़ जाना, चेहरे का रंग बदल जाना, टकटकी लगाकर देखना, आंखों में अथवा मुख पर प्रसन्नता झलक उठना, आंसू गिरना, अपलक नेत्रों से देखना, आदि ।

(ii) वाणी में परिवर्तन — जैसे — हेरे-हो, आह-अहे, ऐ-जय-जय, हाहाकार, साधुवाद आदि का उच्चारण, बल्गन, स्वरों में उतार-चढ़ाव, ज़ोर से हंसना, मुंह पर हाथ लगाकर आवाज़ निकालना आदि ।

(iii) शारीरिक मुद्राओं में परिवर्तन — जैसे — हाथ ऊपर उठाना, उंगली नचाना, भागना, दौड़ना, स्तम्भ, एक दूसरे के गले मिलना, एक-दूसरे के हाथ पर हाथ मारना, ताली बजाना, चौंक पड़ना रोंगटे खड़े हो जाना आदि चेष्टाएं एवं मुद्राएं हैं ।[1]

(ग) तीसरे वर्ग के अन्तर्गत आन्तरिक क्रियाओं में परिवर्तन की बात कही गयी है, जिसके अन्तर्गत निम्नलिखित परिवर्तनों को लिया जा सकता है :—

(क) श्वास की गति में परिवर्तन, (ख) हृदय की गति में परिवर्तन, (ग) नाड़ी की गति में परिवर्तन (घ) रक्त संचार, (ङ) रक्तचाप में परिवर्तन (च) रक्त के रासायनिक तत्त्वों में परिवर्तन, (छ) पाचनक्रिया में परिवर्तन, (ज) त्वक् प्रक्रिया में परिवर्तन, (झ) ग्रन्थियों की क्रियाओं में परिवर्तन ।[2]

यद्यपि इन शारीरिक आन्तरिक क्रियाओं का कारण और प्रभाव संबंधी अध्ययन, यंत्रों की ही सहायता से सम्भव है, किन्तु इतना निश्चित है कि

---

1. प्रस्तुत विवेचन — सामान्य मनोविज्ञान : डा० एस०एस०माथुर, पृ० 167-68 के आधार पर ।
2. वही, पृ० 170.

प्रत्येक भाव के प्रभाव से शरीर के प्रत्येक अवयव में परिवर्तन हो जाता है जिसके कारण व्यक्ति चंचल या निष्क्रिय हो जाता है सांस की गति मंद या तेज हो जाती है, हृदय की गति घट-बढ़ जाती है, रोंगटे खड़े हो जाते हैं, सिहरन उत्पन्न हो जाती है, पसीना आ जाता है, आँखों से आँसू गिरने लगते हैं । कभी व्यक्ति उछलने, कूदने, चिल्लाने, गले मिलने जैसी चेष्टाओं में अपना उल्लास प्रकट करता है तो कभी टकटकी बाँधे मूर्तिवत् खड़े होकर अपना विस्मय आतंक आदि प्रकट करता है । अतः कहा जा सकता है कि 'अनुभाव भावों की भाषा है, जिनमें चेष्टाओं, मुद्राओं, स्वर, वाणी, नाद और व्यापार के माध्यम से अभिव्यक्त की जाती है ।"[1]

विस्मय के मनोवैज्ञानिक अनुभाव :

मनोवैज्ञानिकों ने विस्मय को एक मिश्रित भाव के रूप में लिया है और इस प्रकार उसके अनुभावों में प्रशंसा, भय त्रास, आतंक आदि से सम्बद्ध अनुभावों का उल्लेख कर दिया है । डार्विन का कहना है कि यदि अवधान आकस्मिक एवं निकट से होता है तो वह आश्चर्य को जन्म देता है और वह विस्मय में तथा विस्मय-मूर्छक अद्भुतता में बदल जाता है । मस्तिष्क की यह अन्तिम स्थिति आतंक के अधिक निकट है ।[2] इसके उपरान्त उन्होंने बताया कि विस्मयजनक आलम्बन के प्रति अवधान के क्षणों में भौंहों में तनाव आँखें तथा मुख अधिक खुले हुए होते हैं । प्रत्येक आघात में हृदय की गति

---

1. Psychology : Woodworth, Page 35.

2. Attention if sudden and close, graduates into surprise and this into astonishment and this into stupified amazement. This latter from of mind is closely akin to terror.

- The Expression of Emotion in Man and Animals (Darwin) 1921, Pages 294-298.

तीव्र हो जाती है और श्वास प्रश्वास बढ़ जाता है । रिबाट ने भी इन्हीं अनुभावों की चर्चा की है, साथ ही उसने भौंहों में तनाव तथा स्तम्भ का भी उल्लेख किया है ।[1] कारण मीमांसा तथा व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा है कि भौंहों का खिंचना इसलिए आवश्यक है जिससे आँखें शीघ्रता से अधिक से अधिक खुल सकें तथा फैल सकें । ऐसी दशा में प्रायः प्रौढ़ों के माथे पर गहरी रेखाएँ उभर आती हैं । आश्चर्यबोध जितना ही अधिक होगा उतनी ही अधिक मात्रा में मुक्त-नयन विस्तार होगा । चूँकि विस्मय का उद्रेक अपरिचित एवं अप्रत्याशित के संदर्भ में होता है, अतः हम चमत्कृत होते ही उसी विस्मापक दृश्य को यथासम्भव देखना और उसके कारणों को जानना चाहते हैं । फलतः आँखें अधिक से अधिक फैल जाती हैं जिससे दृष्टि प्रसार का क्षेत्र विस्तृत हो सके और अक्षिगोलक किसी भी दिशा में निर्बाध घूम सके । चूँकि केवल पलकों के खोलने से अक्षि-विस्तार सम्भव नहीं है अतः भौंहों में सबल तनाव आवश्यक है । साथ ही भौंहों को ऊपर की ओर खींचने से ऊर्ध्वमुखी दृष्टि से लाभ होता है । अक्षि विस्तार तो आकस्मिक रूप से किसी शब्द के सुनने तथा विचार के मन में आने से भी हो जाता है । आश्चर्य का यह सब से स्पष्ट अनुभाव है । भौंहें खिंचकर धनुषाकार हो जाती हैं ।

---

1. The eyes and mouth being widely open is an expression universally recognized as one of the surprise or astonishment quickens the action of the heart and with it the respiration. (The Expressions of Emotions in Man and Aminals (Darwin) 1921, Pages 294-298).

   Ribot gives a summary of Darwin's account of expression of the emotion of wonder. The eyes and mouth are wide open, the eye-brows raised, the sudden shock is followed by immobility, the Pulsations of the heart, and the respiratory movements are accelerated, etc.

   (The Psychology of the Emotions, Page 369).

मुंह खुलने का कारण :

(1) एक मिश्रित प्रतिक्रिया है । प्रायः यह माना जाता है कि इससे सुनने की क्षमता बढ़ जाती है ।

(2) 'डार्विन' का मत है कि मुंह खुलने से ध्वनि की दिशा जानने में सुविधा होती है और कान के बजसे सुनने का मार्ग (Eustation Tube) हो जाता है ।

(3) 'वालेस' के मत में मुंह का खुलना खतरे में चिल्लाने की भूमिका हो सकता है ।

(4) मेरे विचार में अवयवों के ऊपर चढ़ाने की स्वाभाविक प्रक्रिया में मुंह खुल जाता है ।

(5) प्रत्येक आकस्मिक संवेग— जैसे विस्मय-हृदय की गति को तीव्रतर देता है और इसके साथ श्वांस प्रक्रिया बढ़ जाती है । नासिका की अपेक्षा खुले मुंह से श्वांस लेना अधिक सरल है । अतः सुनने के लिए या तो हम सांस रोक लेते हैं या मुंह से सांस लेने लगते हैं । इसके साथ ही स्तम्भ हो जाता है, जो शरीर को निष्क्रिय कर देता है ।

(6) जब किसी वस्तु के प्रति अवधान दीर्घकाल व्यापी होता है, तो शारीरिक क्रियाएं सर्वथा विस्मृत और उपेक्षित हो जाती हैं । चूंकि स्नायविक शक्ति सीमित होती है, इसलिए केवल वही सारी शक्ति केन्द्रित हो जाती है जो उस काल में सक्रिय रहता है । अतः स्नायविक शिथिलता के कारण जबड़े को गिर से पड़ते हैं । ऐसा प्रायः सामान्य विस्मय में होता है । कुछ ध्वनियों के उच्चारण के लिए होंठ गोल हो जाते हैं । फिर प्रायः गहरी सांस के साथ 'ओह', 'आह' 'आह' जैसी ध्वनियां सुनाई पड़ती हैं । जीभ के सक्रिय होने पर 'च् च् च्' की ध्वनि या 'चट्' की आवाज़ होती है ।

फुसफुसाहट या सीटी जैसी आवाज़ भी सम्भव है । हो सकता है कि यह मुंह का खुलना चिल्लाने अथवा प्रोत्साहन देने की भूमिका हो ।

अंगों का मोड़ना :

प्रायः खुले हाथों को ऊपर उठाना, उंगली उठाना या हाथ को मुंह की ओर ले जाना सम्भवतः हाथों की गति या तो आत्मरक्षा के लिए होती है या संकटापन्न की सहायता के लिए । क्योंकि सामान्यतः यह प्रक्रिया दूसरों के सहायतार्थ दौड़ने पर भी होती है पर उसमें मुंह का खुला होना आवश्यक नहीं है । विस्मय की भावना सामान्यतः क्षणिक होती है, किन्तु उपर्युक्त ऊपर हाथ उठाने की प्रक्रिया विस्मय के साथ भय के मिश्रण से होती है ।

यदि विस्मय के साथ कोई पीड़ा जुड़ी होती है तो नाड़ी संस्थान का शक्ति-क्षय तथा वाणी और शरीर का स्तम्भ हो जाता है । डा० भगवानदास ने खुली आँखें, खुला मुंह, आनन्दानुभूति के कारण व्यापार रोध (स्तम्भ एवं वाक् स्तम्भ) आदि को अनुभाव माना है ।[1]

इस प्रकार मनोवैज्ञानिकों की दृष्टि में विस्मय के अनुभाव निर्निमेष दृष्टि, खुली फैली आँखें, मुंह खुला हुआ, स्तम्भ एवं वाक् स्तम्भ आदि हैं । कहना न होगा कि इस दिशा में संस्कृत आलंकारिकों ने जिन अनुभावों की

---

1. The Physical manifestation is a general expension of the features - open eyes, open mouth, "Wide eyed wonder" consequent on the feeling of pleasure, accompanied by the arrest of motion - "Standing stock still" "Struck dump" - which corresponds naturally to the uncertainty above mentioned.

(Science of the Emotion by Dr. Bhagwan Dass, Page 95).

चर्चा की है वे मनोवैज्ञानिकों की अनुभाव चर्चा की अपेक्षा अधिक विस्तृत हैं उसका कारण यह है कि मनोवैज्ञानिकों ने प्रायः विस्मय को भय, आतंक, त्रास आदि के संदर्भ में देखने का प्रयास किया है । प्रशंसात्मक सुदृढ़ विस्मय या आह्लादकारी विस्मय की चर्चा वहां महत्त्वपूर्ण नहीं है । ज़िगैलो ने तो अप्रत्याशित अथवा असम्भाव्य की सहसा उपस्थिति को महत्त्व दिया है तथा भग्नाशा एवं अहम् की सन्तर्जना को उसका अनुसारी परिणाम माना है ।[1] किन्तु हमारे विचार में इन्होंने भय आतंक आदि को विस्मय की दुःखानुभूति से सम्बद्ध करके ही ऐसा निर्णय लिया है, अन्यथा आनन्दात्मक विस्मयानुभूति हृदय के विस्तार एवं अहम् के विगलन की प्रक्रिया को जन्म देती है ।

संचारीभाव :

साहित्यशास्त्र में मुख्य रस के परिपोषक गत्वर भावों को संचारी और व्यभिचारी — इन दो नामों से अभिहित किया गया है । भरत के विचार से व्यभिचारीभाव वे हैं जो विविध प्रकार से सहृदयों के सम्मुख प्रकट होते हुए रसों में विचरण करते हैं ।[2] ये रस को उद्दीप्त एवं पुष्ट करते हैं । दशरूपक में बताया गया है कि जिस प्रकार समुद्र में तरंगें उठती और विलीन

---

1. A surprising event may lead to frustration. xxx
A surprising event may function as an ego threat.

(Motivational Effect of Surprise : Introduction, Page 89).

2. 'वागंगसत्त्वोपेतान् विविधमभिमुखीनरसेषु चरन्तीति व्यभिचारिणः ।'

— नाट्यशास्त्र, चौ०, पृ० 84.

होती है उसी प्रकार विशेष रूप से अभिमुख (अनुकूल) होकर स्थायी भाव के अन्तर्गत व्यभिचारी भाव डूबते उतराते रहते हैं ।[1] इसकी टीका करते हुए धनिक ने लिखा है कि जैसे समुद्र में लहरें उत्पन्न और विलीन होती हैं वैसे ही स्थायीभाव में निर्वेद आदि व्यभिचारी आविर्भूत एवं तिरोहित होते रहते हैं ।[2] भाव प्रकाशन के अनुसार व्यभिचारी भाव काव्य जगत की उन अस्थिर चित्तवृत्तियों को कहते हैं जो स्थायी रूप चित्तवृत्ति-सूत्र में अनस्यूत रहती है और अपने आविर्भाव तिरोभाव रूप में अनन्त वैचित्र्य से संवलित होकर स्वयं को प्रतिभासित करते हुए स्थायीभाव को भी वैचित्र्य प्रदान करती है ।[3]

भरतमुनि के अनुसार अश्रु, स्तम्भ, स्वेद, गद्-गद वाणी, आवेग, संभ्रम, हर्ष, चपलता, उन्माद, धृति, जड़ता तथा प्रलय आदि भाव अद्भुत रस के संचारी भाव हैं ।[4] 'वाग्भट' ने हर्ष आवेग, जड़ता आदि को व्यभिचारी

---

1. विशेषादाभिमुख्येन चरन्तो व्यभिचारिणः ।
स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्नाः कल्लोला इव वारिधौ ।।
— दशरूपक 4/7.

2. यथा वारिधौ सत्येव कल्लोला उद्भवन्ति विलीयन्ते च तद्वदेव रत्यादौ स्थायिनि सत्येवाविर्भावतिरोभावाभ्यामाभिमुख्येन चरन्तो वर्तमाना निर्वेदादयो व्यभिचारिणो भावाः ।
— दशरूपक, धोलाशंकर व्यास, अ० 4, पृ० 189.

3. तस्मात् स्थायिरूपचित्तवृत्तिसूत्रस्यूता एवामी स्वात्मानमुदयास्तमय वैचित्र्यशत-सङ्ग्रथनार्णां प्रतिलभमानाः स्थायिनं विचित्रयन्तः प्रतिभासन्ति इति व्यभिचारिणः उच्यन्ते ।
— आचार्य हेमचन्द्रः काव्यानुशासन, 2/18.

4. भावाश्चास्य स्तम्भ-अश्रुस्वेद-गद्-गद रोमांच, आवेग, संभ्रम, प्रहर्ष, चपलता उन्माद-धृति-जड़ता प्रलयादयः ।
—हिन्दी अभिनव भारती, अ06, पृ० 604.

कहा है ।[1] साहित्य दर्पण में वितर्क, आवेग सम्भ्रम आदि को व्यभिचारी कहा है ।[2] दशरूपक के अनुसार हर्ष, आवेग और धृति जैसे भाव अद्भुत में संचारी हैं ।[3] नाट्यदर्पण में आवेग, जड़ता, सम्भ्रम, स्तम्भ, अश्रु, गद-गद, रोमांच आदिक संचारीभाव हैं ।[4] चमत्कार चन्द्रिका में हर्ष, चपलता, धृति, मति आदि को प्रमुख संचारीभाव माना गया है ।[5]

भाव प्रकाशन में शारदातनय ने सात्विक भावों में तो स्तम्भ, वेपथु, रोमांच, स्वर भंग और अश्रु का उल्लेख किया है किन्तु संचारियों के विषय में केवल इतना ही संकेत किया है कि शृंगार रसोपयोगी संचारी ही अद्भुत रस के भी संचारी होते हैं ।[6] इससे स्पष्ट है कि शारदातनय की दृष्टि द्रुपाद्-भुतता की ओर है इससे यह भी विदित होता है कि शृंगार रस की भाँति अद्भुत रस में भी अधिकाधिक संख्या संचारियों का समावेश किया जा सकता है । यशवन्त भूषण में हर्ष और वितर्क को संचारी भाव माना है ।[7] इसी प्रकार अमृतानन्दयोगी ने हर्ष, उद्वेग आदि का संचारीभाव के रूप में उल्लेख किया है ।[8] विद्यारण्य ने स्वेद, अश्रु वेग और हर्ष के साथ पुलक का विशेष रूप

---

1. काव्यानुशासन, अ० 5.
2. वितर्कावेग संभ्रान्ति हर्षाद्या व्यभिचारिणः —परि० 3-245.
3. दशरूपक 4/79.
4. व्यभिचारिणश्चास्य आवेग, जड़ता, सम्भ्रम, स्तम्भ, अश्रु, रोमांचादयः —19/121, हिन्दी नाट्यदर्पण, पृ० 317.
5. हर्षचापल्य धृतिमतिप्रमुख संचारिभावः —चमत्कारचन्द्रिका, विश्वेश्वर, पृ० 122.
6. स्तम्भ वेपथु रोमांच स्वरसादाश्रुनिर्गमाः ।
   संचारिणोऽपि तत्स्युर्ये शृंगारोपयोगिनः ।।
   — भावप्रकाशन, शारदातनय अधि० 3, पृ० 61, पंक्ति 20-21.
7. यशवन्तभूषण, पृ० 192.
8. हर्षोद्वेगादयो भावाश्चात्र संचारिणो मताः —अलंकारसंग्रह, परि०3, 55/1, पृ०20.

से उल्लेख किया है ।[1] पद्मसुन्दर ने जड़ता मोह, आवेग मति हर्ष के साथ विस्मय को भी संचारी माना है, जो अन्य आचार्यों द्वारा अद्भुत का स्थायीभाव माना गया है ।[2] प्रतापरुद्रीय ने हर्ष, आवेग आदि को संचारीभाव बतलाया गया है ।[3] भानुदत्त मिश्र के अनुसार हर्ष, शंका, चिंता और मोह अद्भुत के संचारीभाव हैं ।[4] पद्माकर ने वितर्क, शंका, मोह, को संचारीभावों में स्थान दिया है[5] जबकि वेनी प्रवीन ने हर्ष और तर्क को प्रमुखता दी है ।[6]

मुरलीधर ने वितर्क, मोह, जड़ता, हर्ष स्मृति भ्रम और आवेग आदि को संचारीभाव कहा है ।[7]

---

1. स्वेदाश्रु पुलकावेग हर्षादया व्यभिचारिणः ।
   — रसदीपिका सोपान, 82.
2. जाड्यं मोहस्तथावेगोमतिर्हर्षश्च विस्मयः
   इति भावानिगद्यन्ते रसे कैश्चिदद्भुते ।।
   — उल्लास 4/70, पृ० 42.
3. प्रतापरुद्रीय, रसप्रकरण-336.
4. रसरहस्य, तृ०प्रकरण, छन्द 88. भारतीय काव्यशास्त्रीय की परंपरा, डा० नगेन्द्र द्वारा उद्धृत पृ० 410.
5. वितरक शंका मोह ये तेरिउ संचारीभाव ।
   — पद्माकर, जगद्विनोद, 718.
6. हरख तरक आदिक तहाँ संचारी गनि लेहु ।
   — नवरस तरंग, वेनीप्रवीन, 527.
7. वितर्क मोह जड़ता हरषु सुमिरन भ्रम औरउ
   आवेग आदि व्यभिचारि गहि ।
   — षष्ठ उल्लास, कवित्त-279.

इस प्रकार व्यापक रूप में उद्वेग, हर्ष, संतोष, मद स्मृति आवेग, औत्सुक्य, वितर्क, जड़ता, असू, आदि संचारीभाव अद्भुत रस में पाये जाते हैं, ऐसा शास्त्रकारों का निष्कर्ष है । इन संचारियों में कुछ परिगणित संचारी हैं तो कुछ सात्विक भाव हैं । चूँकि सभी भाव संचारित्व की स्थिति प्राप्त कर सकते हैं अतः सात्विकों का संचारी के रूप में उल्लेख अनुचित नहीं है ।

विस्मय संचारीभाव के रूप में :

भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र के सातवें अध्याय में भाव विवेचन का समाहार करते हुए लिखा है कि —"अनेक समवेत भावों में जिस एक का स्वरूप मुख्य हो उसे स्थायी समझना चाहिए और शेष को संचारी मानना चाहिए । जो स्थायीभाव अन्य रस को उद्दीप्त करते हुए प्रवृत्त हों उन्हें संचारी समझना चाहिए परन्तु ये अपने प्रकृत रस के प्रसंग में स्थायी होते हैं ।[1]

अभिनवगुप्त ने पूर्वपक्ष के रूप में भट्टलोल्लट के मत का उल्लेख करते हुए यह बताया है कि कुछ लोग व्यभिचारियों के भी व्यभिचारी भाव मानते हैं । इससे यह सिद्ध होता है कि अवस्था विशेष में व्यभिचारी भी स्थायित्व को प्राप्त कर रस बन सकता है ।[2] किन्तु उनका अपना विचार है कि स्थायी तो

---

1. बहूनां संवेतानां रूपं यस्य भवेद्बहु ।
   स भन्तव्यो रसः स्थायी शेषाः संचारिणो मताः ।। 120 ।।
   दीपयन्तः प्रवर्तन्ते ये पुनः स्थायिनं रसम् ।
   ते तु संचारिणो ज्ञेयास्ते हि स्थायित्वमागताः ।। 121 ।।
   — नाट्यशास्त्र, सप्तम अध्याय, पृ० 437.

2. अन्येतु ××× व्यभिचारिणामपि व्यभिचारिणो वर्णयन्ति ।
   — अभिनवभारती, पृ० 345.

संचारी के रूप में आते हैं, पर संचारी स्थायी नहीं बनते । यहां पर व्यभिचारी भाव के भी व्यभिचारीभाव की संभावना की जाती है, (जैसे पुरुरवा के उन्माद में तर्क, चिंता आदि व्यभिचारी की संभावना की जाती है) यही भी वस्तुतः स्थायी के (रतिभाव के) व्यभिचारी होते हैं ।[1] भाव अध्याय के आरम्भ में उन्होंने लिखा है कि भाव शब्द से चित्तवृत्ति विशेष ही विवक्षित हैं अतः ये उनचास भाव अपनी योग्यता के अनुसार यथावसर स्थायी संचारी विभावानुभाव स्वरूप हो सकते हैं ।[2] शान्तरस के प्रकरण में उन्होंने कहा है कि 'शृंगार में जुगुप्सा के व्यभिचारित्व का निषेध करते हुए भरतमुनि ने सभी भावों के अपनी योग्यता के अनुसार शब्द और अर्थ के बल से प्राप्त स्थायित्व संचारित्व, सात्विकत्व तथा अनुभावत्व को माना है ।[3]

इसके विपरीत रुद्रभट्ट,[4] रुद्रट,[5] भोज[6] आदि ने बलपूर्वक यह सिद्ध किया है कि 'व्यभिचारीभाव भी रसत्व को प्राप्त होते हैं और इन व्यभिचारियों के भी व्यभिचारी भाव होते हैं ।

---

1. (क) स्थायिनो हि व्यभिचारिता यवीत । ननु व्यभिचारिणां स्थायिता । यद्यपि व्यभिचारिण्यपि व्यभिचार्यन्तरं संभाव्यते तद्यथा—पुरूरवस उन्मादे पि तर्क चिन्तादि । तत्रापि रति स्थायि-भावस्यैव व्यभिचार्यन्तर योगः ।—अभि०भा०, पृ० 345.
   (ख) स्थायिनामपि व्यभिचारित्वमनुज्ञापयति । — वही, पृ० 306.
2. भावशब्देन तावत् चित्त-वृत्ति-विशेषा एव विवक्षिताः । ××× तेषां तु योग्यतावशात् यथायोगं स्थायि-संचारि-विभावानुभावरूपता संभवति । — वही, पृ० 342.
3. जुगुप्सां च व्यभिचारित्वेन शृंगारे निषेधन् मुनिः भावानां सर्वेषामेव स्थायित्व-संचारित्व-चित्ततत्त्वजत्वानुभावत्वानि योग्यतोपनिपतितानि शब्दार्थकलाकूटानि अनुजानाति । — वही, पृ० 333.
4. शृंगार तिलक, 1/14.
5. रुद्रटालंकार, 12/4.
6. शृंगारप्रकाश, पृ० 11.

इस प्रकार यह सर्वमत से स्वीकृत है कि स्थायीभाव भी रसान्तर में संचारी हुआ करते हैं, इसीलिए विद्वानों ने विस्मय को भी संचारी माना है व्यक्ति विवेक के टीकाकार रुय्यक के अनुसार विस्मय वीर आदि रसों में संचारी होता है ।[1] रस तरंगिणी में भानुदत्त ने उत्साह और विस्मय को सभी रसों में व्यभिचारिणी माना है, इसी मत का समर्थन संगीतरत्नाकर में शार्ङ्गदेव ने किया है ।[2]

जैसा कि शार्ङ्गदेव ने लिखा है — स्थायित्व और व्यभिचारित्व का रहस्य यह है कि जब भाव पर्याप्त और समुचित विभागों से उत्पन्न होते हैं, तब वे स्थायी हो जाते हैं और जब अल्प विभावों से उत्पन्न होते हैं तो संचारी बन जाते हैं ।

विस्मय के सम्बन्ध में विद्वानों में विचित्र मतभेद दिखायी पड़ता है । जहाँ एक वर्ग उसको रसराज सिद्ध करता है वहीं दूसरा वर्ग उसे द्वितीय कोटि का रस मानता है । कोई अद्भुत को अंगीरस मानने को तैयार नहीं है और

---

1. स्थायिनामपि व्यभिचारित्वम् भवति यथा xxx विस्मयस्य वीरादौ xxx । व्यक्ति-विवेक टीका, पृ० 11-12.
2. स्थायिनोऽपि व्यभिचरन्ति । हासः शृंगारे, रति, शान्त करुण हास्येषु । भय शोकौ शृंगार करुणयोः । क्रोधो वीरे जुगुप्सा भयानको उत्साह विस्मयौ सर्वरसेषु व्यभिचारिणौ । — भानुदत्त रसतरंगिणी, तरंग पंचम, पृ० 440.

रत्यादयः स्थायिभावाः स्युर्भूयिष्ठ विभावजाः ।
स्तोकैर्विभावैरुत्पन्नाः तएव व्यभिचारिणः ।।
रसान्तरेष्वपि तदा यथायोगं भवन्ति ते ।
यथाहि हासः शृंगारे रतिः शान्ते च दृश्यते ।।
वीरे क्रोधे भये शोके जुगुप्सा च भयानके ।
उत्साह विस्मयौ सर्व रसेषु व्यभिचारिणौ ।।
— शार्ङ्गदेव, राघवन् भोजाज् शृंगार प्रकाश, पृ० 41.

कोई उसके रसत्व का ही निषेध करता है । इसका विश्लेषण नीचे प्रस्तुत है ।

अद्भुत के रसराजत्व की चर्चा विस्तारपूर्वक की जा चुकी है और यह निर्णय दिया जा चुका है कि अद्भुत को रसराज मानना बहुत युक्तिसंगत नहीं । जहाँ तक दूसरे वर्ग का प्रश्न है, विद्वानों का विचार है कि वीर से अद्भुत की उत्पत्ति मानकर यह स्वीकार कर लिया गया है कि अद्भुत द्वितीय कोटि का रस है । उसका स्थान संचारीभाव से अधिक नहीं है । डा० राकेश गुप्त का कथन है कि — "क्रोध, भय, घृणा और विस्मय को यद्यपि आचार्यों ने स्थायीभाव माना है, तथापि ये कभी भी स्थायीभाव का स्तर प्राप्त नहीं कर सकते । क्योंकि आपाततः इनमें किसी को किसी सम्पूर्ण रचना का प्रधान या अंगीरस नहीं बनाया जा सकता ।"[1] यहाँ इतना ही नम्र निवेदन पर्याप्त है कि महादेव कवि विरचित अद्भुत दर्पण में आदि से अंत तक पात्र चरित्र और शैली सब में अद्भुत रस का समायोजन है ।[2] विश्वनाथ के अनुसार सट्टक नामक उपरूपक में अद्भुत रस प्रधान रूप से अभिव्यंग्य हुआ करता है ।[3]

---

1. "The feelings of Anger ('Krodh'), Fear ('Bhaya'), Disgust ('Ghrana') and wonder ('Vismaya'), though classed permanent by them (Acharyas) can never attain the status of a 'Sthaybhava', for evidently none of them can be the predominent feeling of a whole work". Psychological Studies In Rasa, 1st Edition, Page 165.

2. (क) यस्तत्यमथितः स्तब्धैरिन्द्रियैरिन्द्र जालवत् ।
अद्भुतैक रसावृत्तिस्तन्तर्मीलयतीव माम् ।।
अद्भुतदर्पण—श्रीमहादेव कवि, अंक 4, श्लोक—8, पृ० 44.

(ख) औदार्यं रघुपुंगवे तदनुजेचोद्दत्यमत्यद्भुतम् ।
सीतायाश्च यथापतिव्रतगुणो लोकोत्तरो दृश्यते ।।
— वही, प्रशस्ति, 1, पृ० 144.

3. सट्टकं प्राकृतासेव पाठ्यं स्याद प्रवेशकम् ।
न च विष्कम्भको यत्र प्रचुरत्वादद्भुतो रसः ।।
— साहित्यदर्पण, 6/276.

अतः जहाँ तक अंगीरस का प्रश्न है, अद्भुत को कवियों ने रचनाओं द्वारा प्राधान्य प्रदान किया है । अतः डा० सत्येन्द्र गुप्त का आक्षेप अधिक संगत नहीं है ।

वस्तुस्थिति यह है कि विस्मयतत्त्व एक व्यापक और प्रभावी तत्त्व है । प्रत्येक नया संवेदन एक विस्मय को जन्म देता है । अतः यदि विस्मय ही कुछ काल के लिए स्थिर हो कर रक्ष्यमान होता है तो अद्भुत रस की स्थिति माननी चाहिए और यदि वह आगन्तुक रूप में विद्यमान होकर मुख्यभाव का पोषक होता है, तो संचारी ।[1]

स्थायीभाव :

रस के आधार स्थायीभाव हैं, जो जन्मजात वासना या संस्कार के रूप में प्राणिमात्र में विद्यमान रहते हैं ।[2] ये विरोधी अथवा अविरोधी भाव के अन्तः संचरण से आच्छादित तिरोहित अथवा उच्छिन्न नहीं होते तथा इन्हीं में रस के

---

1. तेनाभी-स्थायिनः रसान्तराणां व्यभिचारिणः अनुभावाश्च भवन्ति । तत्रैषा-मागन्तुकत्वेन स्थायित्वाभावात् । — नाट्यदर्पण, पृ० 176.

2. (क) जात एव हि जन्तुः इयतीभिः संविद्भिः परीतो भवति— अभिनवगुप्त, अभिनवभारती, प्र०सं०, पृ० 284.

(ख) न हि एतत्स्थस्तत्वृत्ति वासनाशून्यः प्राणी भवति— वही, पृ० 284.

(ग) वासनात्मना सर्व जन्तूनां तन्मयत्वेन उक्तत्वात्—वही, पृ० 285.

(घ) सामाजिकानां वासनारूपेण स्थितः स्थायीभावः —

— हेमचन्द्र, काव्यानुशासन, पृ० 57.

अंकुरण की मूल शक्ति निहित रहती है ।[1] जैसे – समुद्र अन्य नदियों के जल को आत्मसात करके उसे लोना बना लेता है उसी प्रकार दूसरे भावों को – मुख्यतः संचारीभावों को – अपने में मिला कर ये स्थायीभाव आस्वाद्य बना लेते हैं ।[2] ये चिरकाल तक चित्त में अवस्थित रहते हैं और रसत्व को प्राप्त होते हैं ।[3] समस्त प्रबन्ध में व्याप्त एवं स्थिर रहने वाले इन भावों का प्रवाह सम्पूर्ण परिस्थितियों में अविच्छिन्न रूप से विद्यमान रहता है[4] तथा वर्द्धमान हो कर आनन्ददायी होते हैं[5] । अतः कहा जा सकता है कि स्थायीभाव नैसर्गिक, तीव्र एवं व्यापक मनोविकार है । ये मानव स्वभाव के आधारभूत अंग हैं तथा औरों की अपेक्षा श्रेष्ठ एवं प्रभावशाली होते हुए दूसरों से परिपोष पाकर रस रूप में परिणत हो जाते हैं ।

प्रायः सभी आलंकारिकों ने अद्भुत रस का स्थायीभाव विस्मय को माना है किन्तु कुछ संस्कृत-आचार्यों ने और उन्हीं का अनुगमन करने वाले हिन्दी आलंकारियों ने आश्चर्य को स्थायीभाव स्वीकार किया है । उदाहरणार्थ – केशव[6]

---

1. अविरुद्धा विरुद्धा वा यं तिरोधातुमक्षमाः ।
   आस्वादांकुरकन्दोऽसौ भावः स्थायीति सम्मतः ।। 174 ।। सा०द०

2. विरुद्धैरविरुद्धैर्वा भावैर्यो विच्छिद्यते न यः ।
   आत्मभावं नयत्यन्यान् सः स्थायी लवणाकरः ।। –अजय, रसरूपक 4/34.

3. चिरं चित्तेऽवितिष्ठन्ते सम्बन्धन्तेऽनुबन्धिभिः ।
   रसत्वं ये प्रपद्यन्ते प्रसिद्धा स्थायिनोऽत्र ते ।। –भोजराज, सरस्वतीकण्ठा०5/19.

4. तत्र आप्रबन्धं स्थिरत्वादमीषां भावानां स्थायित्वम् ।
   – जगन्नाथ, रसगंगाधर, पृ० 30.

5. अविच्छिन्न प्रवाहाः स्थायिभावाः – काव्यप्रकाश, झलकीकरटीका, पृ० 86.

6. 'होइ अचम्भो देखि सुनि'
   – केशव : रसिकप्रिया, दोहा 33.

पद्माकर[1], बेनी प्रवीन[2], मुरलीधर[3], गुलाबराय[4], जगन्नाथ प्रसाद 'भानु'[5] पं० सीताराम चतुर्वेदी[6] आदि उल्लेखनीय हैं । किन्तु मेरे मत में विस्मय को ही स्थायी मानना अधिक युक्तिसंगत है । पहले अध्याय में हम विस्मय और आश्चर्य का अन्तर स्पष्ट कर चुके हैं और यह सिद्ध कर चुके हैं कि विस्मय में अनेक भावों को अपने में समाहित करने की क्षमता है जबकि आश्चर्य किसी असम्भाव्य परिस्थिति में 'आ' इस प्रकार के वाचिक अनुभाव के साथ हो जाने का नाम है। अतः अद्भुत का स्थायीभाव विस्मय ही मान्य है । कारण स्पष्ट है । आश्चर्य में सांवेगिक विक्षोभ होता है जो संभावित एवं संघटित के बीच विसंगति के कारण होता है । यह आश्चर्य अवधान के क्षणों में चेतना के प्रत्येक धरातल पर उभरता है और औत्सुक्य तथा जिज्ञासा की ओर अभिप्रवृत्त होता है । इसके विपरीत आश्चर्य अपनी सघनता में विस्मय में परिणत हो जाता है । चूंकि विस्मय का फलक कहीं व्यापक है अतः विस्मय ही स्थायीभाव होने के योग्य है । आश्चर्य की स्थिति विस्मय की पूर्वपीठिका से अधिक नहीं है ।

विस्मय सुखात्मक स्थायीभाव :

विस्मय सुखात्मक स्थायीभाव है। अभिनवभारती के अनुसार विस्मय का स्वभाव सुखात्मक है ।[7] नाट्यदर्पण की मान्यता में रस सुख दुःखात्मक है ।

---

1. जाको थाह आचरज – पद्माकर, जगद्विनोद, 717.
2. अचरज थाह के बढ़े, अद्भुत रस परगास – बेनी प्रवीन, नवरसतरंग, दो-524.
3. अलंकार प्रकाश, कविभूषण मुरलीधर, षष्ठ उल्लास, कवित्त 245, पृ० 43.
4. इस रस का स्थायीभाव आश्चर्य है – गुलाबराय, नवरसतरंग, पृ० 506.
5. जाको थाह आचरज – काव्यप्रभाकर, पृ० 436.
6. कौतूहलजन्य सुखोत्सुक्यमाश्चर्यम् । – सूत्र 179, अभिनवनाट्यशास्त्र, पृ०459.
7. रौद्रहास्योत्साहविस्मयानाम् सुखस्वभावत्वम् – अभिनवभारती, पृ० 219.

किन्तु उन्होंने भी अद्भुत को सुखात्मक ही माना है । हाँ, इतना अवश्य है कि अनुसंधान के अभाव में विस्मय का सुख दुःखानुविद्ध होता है ।[1] हम जानते हैं कि अपने मूलरूप में रस का संवेदन अखंड एकघन प्रतीति के रूप में होता है अतः वहाँ सुख दुःख का प्रश्न नहीं उठता क्योंकि पारमार्थिक रूप से रस एक ही है किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से जब विभाजन किया जाता है तो उसमें सुखात्मकता आदि का विचार होता है । पाश्चात्य विद्वानों ने भी अद्भुत को सुखप्रधान बतलाया है यद्यपि यह बात शुद्ध विस्मय में ही सम्भव है जहाँ विस्मय में भय आतंक आदि का मिश्रण हो जायेगा वहाँ दुःखात्मक संचारी अनिवार्य रूप से आयेंगे ।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी अद्भुत को सुखात्मक ही माना है । श्री श्री० कृ० कोल्हटकर ने रस का वर्गीकरण करते हुए अद्भुत रस को बहिर्दृष्टिमूलक श्रेष्ठ विषय और सुखप्रद माना है ।[2] अतः अद्भुत की सुखरूपता प्रायः सर्वमान्य है ।

अद्भुत रस की सुखरूपता के सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल ने रसमीमांसा में दो प्रश्न उठाये हैं —

(क) क्या दुःखात्मक अनुभवपूर्वक इसकी प्रतीति नहीं होती ?

(ख) इसे सुख और दुःख दोनों से उदासीन क्यों न कहें ?

---

1. (क) तत्रेष्ठ-विभावादि-प्रथित-स्वरूप-सम्पत्तयः शृंगार-हास्य वीराद्भुत-शान्ताः पंच सुखात्मानः ।

(ख) विस्मयस्य निरनुसन्धान-तडित्-तुल्य-सुखरूपता ।

— नाट्यदर्पण, विवेक 3/109 की वृत्ति, पृ० 220.

2. कोल्हटकर लेख संग्रह, पृ० 834. डा० मनोहर काळे द्वारा — आधुनिक हिन्दी मराठी में काव्यशास्त्रीय अध्ययन से पृ० 149 पर उद्धृत ।

पहले प्रश्न के सम्बन्ध में उनका विचार है कि आलम्बन के स्वरूप की अपेक्षा देखना यह है कि आलम्बन के प्रति आश्रय या श्रोता के ~~इस~~ परिस्थिति या अवसर के विचार से किसी भाव के स्फुट रूप में उद्भुत होने की सम्भावना रहेगी या नहीं। दुःख के क्षोभकारी अनुभव की स्थिति में चित्त वस्तु या व्यापार की अलौकिकता की ओर जम ही नहीं सकता। साहित्यिक आचार्यों ने हर्ष को अद्भुत का संचारी कह कर आश्चर्य का सुखात्मक भाव होना स्पष्ट कर दिया। आधुनिक मनोवैज्ञानिक भी ऐसा ही मत प्रकट करते हैं।[1]

आश्चर्य की उदासीनता का निराकरण करते हुए शुक्लजी की स्थापना है कि अद्भुत वस्तु पर ध्यान जाना ही उदासीनता के खंडन के लिए पर्याप्त है। उदासीन अवस्था का काव्य में ग्रहण नहीं होता काव्य उस भाव में होता है जहाँ अनुभूति लगी रहती है। आश्चर्य कई रंग बदलता है। जिज्ञासा की प्रबलता में चमत्कृति के कारण बौद्धिक विराम क्षणिक होता है। जिज्ञासा के सक्रिय होते ही बुद्धि अन्वेषण में लग जाती है और आश्चर्य का अंत हो जाता है।[2] वस्तुतः रस का स्वरूप आनन्द है। लौकिक भाव सुख दुःखात्मक हो सकते हैं पर स्थायीभाव को सुखात्मक मानना ही उचित है, विशेषतः उस भाव को जो सामान्यतः सुखप्रद माना गया है।

---

1. (क) रसमीमांसा, पृ० 156.

   (ख) The wonderful is ordinarily an object of Delight. Hence it is that we find the terms 'admiration' and 'wonder' often combined.
   Shand - Foundation of Character.

   (ग) रति हास उत्साह तथा विस्मय के उपकारक होने के कारण राग के अन्तर्गत आ जाते हैं। —डा० भगवानदास — डा० नगेन्द्र — रससिद्धान्त, पृ० 224 के आधार पर।

2. रसमीमांसा, पृ० 157.

अद्भुत रस के भेद :

भरतमुनि के अनुसार अद्भुत रस दो प्रकार का होता है –(1) दिव्य, (2) आनन्दज । दिव्य की उत्पत्ति दिव्य दर्शन (दैविक चमत्कार) आदि से होती है और आनन्दज हर्ष से उत्पन्न माना गया है ।[1] "आनन्दज का अर्थ न भरत ने स्पष्ट किया है और न अभिनव ने । आगे चलकर रामचन्द्र भी 'अभीष्ट सिद्धितः' कहकर मौन हो गये हैं । परन्तु अभीष्ट सिद्धि से अभिप्राय आकस्मिक सिद्धि का ही है, जैसा कि नाट्य-दर्पण के भाष्यकार आचार्य विश्वेश्वर ने व्यक्त किया है । प्रबन्ध काव्यों की निर्वहण सन्धि में प्रायः अद्भुत की इसी "आकस्मिक मनोरथ सिद्धि" रूप का प्रयोग होता है ।"[2] अतः आनन्दज का अर्थ डा० नगेन्द्र ने मनोरथ की सिद्धि करनेवाली अप्रत्याशित घटनाओं से उत्पन्न, ऐसा किया है । डा० दीक्षित का विचार है कि यह दोनों भेद परिणाम के अनुसार किये गये हैं और इनसे प्रकट होता है कि भरत की दृष्टि दिव्य-दर्शन तथा इष्ट-प्राप्ति नामक विभावों पर ही विशेष केन्द्रित थी ××× भरत कृत इस भेद वर्णन का विशेष महत्व नहीं है, क्योंकि दिव्य दर्शन के द्वारा भी हर्ष हो सकता है । इस प्रकार हर्ष को एक पृथक् लक्षण नहीं माना जा सकता ।[3] डा० त्रिपाठी ने पहले तो दिव्य दर्शन से ईश्वरीय लीलाएँ तथा आनन्दज से अद्भुत घटना कर्म आदि का उल्लेख किया है । किन्तु बाद में उन्होंने लिखा है कि "भरतमुनि के उपर्युक्त दिव्य तथा आनन्दज दो भेदों को हम

---

1. दिव्यश्चानन्दजश्चैव दिव्याख्यातोऽद्भुतो रसः ।
   दिव्यदर्शनजोदिव्यो, हर्षादानन्दजः स्मृतः ।।
   — नाट्यशास्त्र 6/82 (चौखम्बा) ।

2. रससिद्धान्त, डा० नगेन्द्र, पृ० 253.

3. रससिद्धान्त : स्वरूप विश्लेषण, डा०आनन्दप्रकाश दीक्षित, पृ० 368-69.

अपने ढंग से स्वीकार करते हैं । दिव्य से लोकोत्तर ईश्वरीय अर्थ न लेकर उदात्त अर्थ लेना ही समीचीन है तथा आनन्दज से केवल मनोरंजक अर्थ लेना चाहिए ।[1]

हमारा विचार यह है कि भरत की दृष्टि केवल दैविक चमत्कार से उत्पन्न दिव्य अथवा दिव्यदर्शन विभाव पर केन्द्रित नहीं है वस्तुतः दिव्यका अर्थ है 'दिविभवं दिव्यम्' अर्थात् जो द्युलोक में होने वाला हो । अतः अर्थ विस्तार के द्वारा लोकोत्तर, अलोक—सामान्य, आदि का भी दिव्य में समाहार हो जाता है । दिव्य के समानान्तर ही आनन्दज का उल्लेख इस बात का संकेत देता है कि उनकी दृष्टि केवल अभीष्ट सिद्धि तक सीमित न होकर सम्पूर्ण लौकिक विभावों से उत्पन्न आनन्दज अद्भुत की ओर थी । आनन्दज का अर्थ सौन्दर्यज मानना अधिक उचित है।

डा० ग्रारी ने अपनी स्थापना के अनुसार जो दिव्य का अर्थ उदात्त लिया है, उससे सहमत होना सम्भव नहीं । हमारे विचार में भाव जब उदात्त या लोकोत्तीर्ण स्थिति में होता है, तभी रस संज्ञा प्राप्त करता है । यह भाव का प्रकृष्टतम रूप है । यदि भाव प्रकर्ष को नहीं प्राप्त हो पाता तो भाव रूप ही रहता है अथवा आभास आदि रूपों में बदल जाता है।[2] दूसरी बात यह है कि विशेषण व्यावर्तक होता है और वैशिष्ट्य बोधक भी । अतः उदात्त विशेषण लगाते ही उसके प्रतियोगी रूप में अनुदात्त रस का एक नया भेद खड़ा हो जाता है, जो संभवतः डा० ग्रारी को भी स्वीकार्य नहीं होगा ।

---

1. रससिद्धान्त और घृणाभाव का मनोवैज्ञानिक विवेचन, पृ० 491-92.
2. तदुपाधिश्चायमुपजायमानो रसः त्रिधा विज्ञायते प्रकृष्टः भाव रूपः आभासश्च ।
   — शृंगार प्रकाश, भाग-2, पृ० 356.

उन्होंने आनन्दज का जो अनुरंजनकारी अर्थ किया है, वह भी उचित नहीं है, क्योंकि अनुरंजनकारी के दृष्टान्त रूप में उन्होंने कविकर्म कौशलजन्य विस्मय अथवा तिलस्मी जासूसी उपन्यासों की मनोरंजक रचनाएं प्रस्तुत की हैं और खेल तमाशे को भी कभी विस्मयवर्धक कभी अद्भुत रस देनेवाला बतलाया है।

मूल बात यह है कि अद्भुत रस और अद्भुत तत्त्व इन दोनों में पर्याप्त अन्तर है। लौकिक प्रसंगों में विस्मय या अद्भुत तत्त्व होता है । काव्य-कृतियों में भी कलात्मकता चमत्कार या विस्मयतत्त्व का उद्रेक करती है । केवल उन रचनाओं में जहां भाव की सम्पुष्टि होती है, अद्भुत रस की सिद्धि होती है । अतः उदात्त और अनुरंजनकारी भेद ठीक नहीं है ।

शारदातनय ने अन्य रसों की भांति अद्भुत के भी वाचिक आंगिक तथा मानस तीन भेद स्वीकार किये हैं[1] और उनके अन्तर्गत वाचिक आंगिक और मानस अनुभावों की कितार से चर्चा की है । स्पष्ट है कि उनका यह भेद अनुभावमूलक है और इसमें कोई असंगति भी नहीं है। उन्होंने सत्त्वादि तीन गुणों के आधार पर भी भेद किये हैं ।[2] किन्तु यह भेद विस्मय भाव की दृष्टि से भले ही स्वीकार्य हो अद्भुत रस की दृष्टि से उचित नहीं है । क्योंकि रस सत्त्वोद्रेक की दशा में होता है और सत्त्व का अर्थ है रज तम से असंपृष्ट मन । अतः रस में त्रिगुणात्मक भेद उसकी मूल मान्यता पर आघात करेगा । भानुदत्त ने और उन्हीं का अनुगमन करने वाले विद्याधर ने 'स्वनिष्ठ' और 'परनिष्ठ' ये दो भेद किये हैं । यदि अपने ही अवदान से (विशिष्ट गुणों से) अद्भुत

---

1. भाव प्रकाशन (अधिकरण-6) पृ० 65-66.

2. विस्मयश्चित्त वैचित्र्यं स त्रिधा त्रिगुणात्मकः
   — वही, अधि० 2, पृ० 35.

की उत्पत्ति होती है तो उसे स्वनिष्ठ और यदि अन्य के द्वारा उद्रेक होता है तो परनिष्ठ अद्भुत कहा गया है ।[1] विद्यारम ने यहां पर जो उदाहरण प्रस्तुत किये हैं, उनसे पता लगता है कि उन्होंने केवल दिव्यादिव्य पात्रों के गुणों में ही विस्मय का परिपाक देखा है ।

भक्ति रसामृत सिन्धु में साक्षात् और अनुमित ये दो भेद किये गये हैं । पुनः साक्षात् के 'दृष्ट' 'श्रुत' और 'संकीर्तित' भेदों का उल्लेख किया गया है । इस प्रकार चार भेद किये गये हैं । कहना न होगा कि ये भेद प्रथम तो ईश्वरीय लीला से सम्बद्ध होने के कारण श्रवण कीर्तन आदि भक्ति भेदों में प्रतिसंक्रान्त हो जाते हैं दूसरे इनके द्वारा विभाव के स्वरूप पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता । वस्तुतः ये अनुभूति के माध्यम हैं (इसका विवेचन और वर्गीकरण 'विभाव विवेचन' के क्रम में किया जा चुका है ।) अतः हमारे विचार में काव्यगत अद्भुत रस का विवेचन करते समय विभावमूलक वर्गीकरण को महत्व दिया जाना चाहिए । (विभावमूलक वर्गीकरण इसी अध्याय में 'विभाव' शीर्षक में देखिए) ।

---

1. स्वनिष्ठः परनिष्ठश्चाद्भुतोद्रेकविधो मतः ।
   स्वावदानैः स्वनिष्ठश्च परनिष्ठः परस्य तैः ।।
   — विद्यारम, रसदीपिका, सोपान–3,
   पृ० 79.

अद्भुत रस की निष्पत्ति :

अद्भुत रस की निष्पत्ति के उपक्रम से पूर्व कुछ मान्यताओं का उल्लेख आवश्यक प्रतीत हो रहा है । हमारी पहली मान्यता यह है कि काव्य में जो भी विस्मयजनक (चमत्कारजनक) है, वह अद्भुत है, अद्भुत रस नहीं । जब तक विभावादि सामग्री की प्रत्यक्ष अथवा व्यंग्यरूप में योजना नहीं होती तब तक शास्त्रीय अर्थ में रसनिष्पत्ति संभव नहीं ।

हम सिद्ध कर चुके हैं कि कथावस्तु प्रधान काव्यों को छोड़कर काव्यास्वाद मूलतः तत्त्व, निर्मिति और कल्पना के त्रिकोण पर आश्रित है । चूँकि रस रूप में परिणति तत्त्व (वस्तु, भाव, विचार) की ही होती है अतः किसी काव्य में आलम्बन रूप में गृहीत तत्त्व ही रसात्मक आनन्द प्रदान कर सकते हैं । उद्दीपन रूप में गृहीत वस्तु आदि अथवा परिवेश आदि रस निष्पत्ति के साधक तत्त्व हो सकते हैं स्वयं रसत्व में परिणत नहीं हो सकते ।

जहाँ तक निर्मिति का प्रश्न है, वह तो शुद्ध रूप से कवि की मानसिकता के अभिव्यंजन का साधन है । यह एक कला है जिसके माध्यम से कवि अमूर्त को वाङ्मयी मूर्ति प्रदान करता है ।

इन दोनों के मध्य बिन्दु में प्रतिष्ठित है कल्पना जो तत्त्व और निर्मिति दोनों में अनुप्रविष्ट होकर एक ओर कवि की मानसिकता को कलात्मक प्रतिमा में प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न करती है तो दूसरी ओर कलाकृति को मानसिकता के रस से आप्लुत करती है । इस सारी प्रक्रिया का एकमात्र साध्य है सौन्दर्य, जो इसकी उपलब्धि भी है और कसौटी भी । इसीलिए सघन अनुभूति की तरलता से उद्दीप्त शब्दार्थ की सौन्दर्यमयी प्रतिमा के प्रत्येक आयाम में चमत्कार के दर्शन होते हैं ।

अनुभूति की उत्तेजना रमणीयता के साथ में उस का सहृदय के आनुभूतिक धरातल के गहनस्तरों में उतरती चली जाती है और अभिभूत कर

लेती है । दूसरी ओर अभिव्यक्ति शिल्प की अतिशयता के कारण अपनी संसिद्धि की दशा में चेतना को एक सुखद झटका देकर विस्मय विमुग्ध कर देती है । अतः काव्य में विभिन्न पात्रों एवं घटनाओं में अनुभूयमान चमत्कार विस्मयतत्त्व है न कि अद्भुत रस ।

हमारी दूसरी मान्यता यह है कि अन्य रसों की भाँति अद्भुत रस की संसिद्धि भी सरल नहीं है । मनोवैज्ञानिकों की दृष्टि में इस विषय पर मतभेद हो सकता है कि विस्मय मूलभाव है या मिश्रित, पर इस अनुभूत सत्य की उपेक्षा नहीं की जा सकती कि विस्मय तत्त्व किसी न किसी रूप में और किसी न किसी मात्रा में विद्यमान होकर चेतना अभिभूत कर लेता है । इसका परिणाम यह होता है कि विस्मयतत्त्व अन्य अनुभूतियों को अनायास ही आत्मसात् कर लेता है और स्वयं काव्य में अनुप्रविष्ट हो जाता है । ऐसी दशा में काव्य में गुम्फित अनुभूतियों में घुला-मिला विस्मयतत्त्व अपनी गंगा-जमुनी छाया से एक विलक्षण सौन्दर्य की सृष्टि कर देता है । यही कारण है कि प्रायः अद्भुत रस के उदाहरणों में रस-सौन्दर्य देखा जाता है ।

उदाहरणार्थ– दिव्य पात्रों के रूप-लीला आदि के अभिव्यंजन में विस्मय-भाव या तो श्रद्धामूलक भक्ति का परिपोषक हो जाता है अथवा अपनी परिणति में व्यंग्य रूप में भक्ति का समाहार कर लेता है । सौन्दर्य की लोकोत्तरता से उत्पन्न विस्मय का अन्ततः शृंगार में पर्यवसान एक अनुभूत सत्य है । प्राकृतिक सौन्दर्य एवं उदात्तता में कहीं तो विस्मय के साथ भय, आतंक और त्रास प्रबल हो उठता है तो कहीं उसका रहस्य में पर्यवसान हो जाता है । महापुरुषों के असामान्य चरित्र एवं कर्म अपनी लोकोत्तरता में विस्मयावह होते हुए भी अन्ततः उत्साह आदि की सम्पुष्टि करते हैं । अतः अद्भुत रस के ऐसे प्रसंग, जिनका आलम्ब और जिनकी परिणति दोनों अद्भुत में हों, सुलभ नहीं है ।

निर्भीति के धरातल पर हम अद्भुत रस मानने के पक्षपाती नहीं हैं । आलंकारिक रचनाओं में अद्भुत रस सिद्ध करनेवालों से सहमत होना कठिन प्रतीत होता है । कारण स्पष्ट है । कल्पना के योग से निर्भीति में जो चमत्कृत करने की क्षमता उत्पन्न होती है, वह विस्मयतत्त्व का क्षेत्र है, अद्भुतरस का नहीं ।

प्रसंगतः एक बात का और उल्लेख आवश्यक है । आचार्यों ने जहाँ परिपुष्ट स्थायीभाव की रस रूप में परिणति स्वीकार की है, वहीं अपरिपुष्ट स्थायीभाव की भाव, रसाभास, भावाभास, भावोदय, भावशान्ति, भावसन्धि एवं भावशबलता जैसी सात अन्य स्थितियों को स्वीकार किया है किन्तु जाने क्यों साहित्य के अध्येताओं को सर्वत्र रस ही सिद्ध करने का आग्रह रहता है । किसी भी रचना में हठयोग के द्वारा विभावादि की कल्पना करके रस निष्पत्ति की सिद्ध प्रतिज्ञा का विलास हो सकता है किन्तु यदि न्याय की बात कही जाय तो शृंगारादि रसों के जो पुष्कल उदाहरण हैं, जिनमें रस का पूर्ण परिपाक दिखाया गया है, भाव, भावोदय, भावशान्ति जैसी स्थितियों के ही उदाहरण हैं । हमें अपनी स्थापना के अनुसार सभी रचनाओं में रस की असिद्धि का प्रयत्न नहीं करना है। चमत्कार रूप आस्वाद के अनेक स्तरों की स्वीकृति के बाद इसकी आवश्यकता भी नहीं है । अतः प्रस्तुत प्रकरण में अद्भुत रस पूर्ण परिपाक के साथ ही अन्य स्थितियों का भी दिग्दर्शन कराने का प्रयत्न किया जायगा ।

यों तो रसतत्त्व स्वयं ही एक अद्भुत, लोकोत्तर, सौन्दर्य-संभृत, परम-मधुर, परम-रमणीय समष्टि है किन्तु अद्भुत रस में माधुर्य के साथ वैचित्र्य एवं लालित्य के साथ चमत्कृति का योग हो जाता है । मानव के लिए सबसे अधिक विस्मयकारी ईश्वरतत्त्व है । उसके विषय में जब कुछ कहना चाहते हैं तो वाणी मूक हो जाती है, संकेत मौन हो जाते हैं । 'अविगत की गति' कौन कह सकता है ? अतः विस्मय का अनाख्येय आलम्बन सदैव से ईश्वरतत्त्व रहा है ।

कवियों ने उस अनन्त एवं अरूप को ब्रह्मांड के व्यक्त रूपों में ही गोचर किया है । अरूप, असीम अनन्त हमारे मानस में सुखद विस्मय उत्पन्न करता है किन्तु बड़ी भय से युक्त प्रीति की दशा में संभ्रम का जनक होता है । विराट् की अनुभूति में अनन्त विस्तार, अनन्त उल्लास एवं संभ्रम का जन्म होता है, जो एक मानसिक ऊर्जा है, जिससे आत्मा का विस्तार होता है । ऐसे वातावरण में भारतीय कवि विस्मित एवं अभिभूत तो हुए हैं किन्तु हतप्रभ एवं पराजित नहीं ।

वेद भगवान ने जिस विराट् पुरुष को अनन्त शिरों, अनन्त नेत्रों एवं अनन्त चरणों वाला कहा है । जो निखिल भूमि में सर्व प्रकार व्याप्त होकर भी उससे दश अंगुल अधिक होकर विराजता है[1] उसीके सम्बन्ध में सूरदास जी की यह उक्ति है :—

नैननि निरखि स्याम सरूप ।
रह्यो घट-घट व्यापि सोई ज्योति रूप अनूप ।
चरन सप्त पताल जाके सीस है आकास
सूर चन्द नछत्र पावन सर्व तासु प्रकास ।।[2] इत्यादि।

यहाँ परमात्मा के विराट् सौन्दर्य की भव्य कल्पना है । समग्र सृष्टि के कण-कण में व्याप्त उस परमतत्त्व की यदि एक मानवी मूर्ति बनाना चाहें तो चरण पाताल होगा और शिर आकाश । यहाँ 'स्याम-सरूप' आलम्बन है । उस रूप की असामान्य विशालता उद्दीपन है । दर्शन का औत्सुक्य संचारी है । कथन से

---

1. सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ।।
— ऋग्वेद 10/90/1 तथा यजु० 31/1.

2. सूरसागर (सभा) पद संख्या 370.

वाचिक अनुभाव व्यंग्य है । अतः आश्रय (द्रष्टा) के मानस में 'विस्मय' का परिपाक हो रहा है ।

यही तत्त्व जब एक पिण्ड में अवतरित हो जाता है, तो उसकी अनन्तता का अनुभव उसकी शक्ति सुंदरता आदि में प्रतिपल अभिव्यंजित होता रहता है और भक्तगण उस अनन्त की लीलाओं पर अपने-आप को निछावर करते रहते हैं, किन्तु कभी-कभी अपने भक्तों को विराट् स्वरूप का दर्शन कराकर वह विस्मय विमुग्ध कर देता है । रामचरित मानस का एक प्रसंग देखिये —

माँ कौशल्या ने राम को स्नानादि से निवृत्त कराकर पालने में सुला दिया और स्वयं कुलदेव की पूजा आदि में तल्लीन हो गयीं । नैवेद्य चढ़ाकर रसोई घर में गयीं । वहाँ से लौटने पर देखा कि उनके पुत्र राम इष्टदेव के नैवेद्य का भोजन कर रहे हैं । जब वे घबड़ा कर पालने के पास गयीं तो देखा कि बालक राम वहाँ सोये हुए हैं । फिर पूजा के स्थान में गयीं तो देखा कि बड़ी (पुत्र) वहाँ भोजन कर रहे हैं । इस विचित्र घटना से उनका मन भय-मिश्रित आश्चर्य से भर गया । शरीर काँपने लगा । हृदय चंचल हो उठा वितर्क का उदय हुआ और सोचने लगीं यह क्या है ? मेरा मतिभ्रम है या अन्य कोई चमत्कार ।

इसके उपरान्त चमत्कार की एक दूसरी लहर आयी । भगवान राम ने मुस्कराकर अपनी माता को विराट् स्वरूप का दर्शन कराया । उसे देखकर तो माँ विस्मय के अगाध समुद्र में अवगाहन करने लगी । शरीर पुलकित हो उठा । मुख से वचन नहीं निकला । आँखें बन्द करके वह बार-बार चरणों में सिर झुकाने लगीं और हाथ जोड़कर बारम्बार विनय करने लगीं :—

एकबार जननी अन्हवाए । करि सिंगार पलना पौढ़ाए ।
निज कुल इष्टदेव भगवाना । पूजा हेतु कीन्ह अस्नाना ।।

करि पूजा नैवेद्य चढ़ावा । आपु गई जँह पाक बनावा ।
बहुरि मातु तहवाँ चलि आई । भोजन करत देख सुत जाई ।।
गै जननी सिसु पहिं भयभीता । देखा बाल तहाँ पुनि सूता ।
बहुरि आइ देखा सुत सोई । हृदय कंप मन धीर न होई ।।
इहाँ उहाँ दुइ बालक देखा । मतिभ्रम मोर कि आन बिसेषा ।
देखि राम जननी अकुलानी । प्रभु हँसि दीन्ह मधुर मुसकानी ।।
देखरावा मातहि निज अद्भुत रूप अखंड ।
रोम रोम प्रति लागे कोटि कोटि ब्रह्मंड ।।
तन पुलकित मुख बचन न आवा । नयन मूदि चरनन्हि सिरु नावा ।
बिसमयवंत देखि महतारी । भए बहुरि सिसुरूप खरारी ।।
अस्तुति करि न जाइ भय माना । ----------।।
बार बार कौसल्या बिनय करइ कर जोरि ।

इन पंक्तियों में अद्भुत रस की दो स्थलों में अभिव्यक्ति हुई है । प्रथम प्रसंग में लीलाजन्य विस्मय है । अप्रत्याशित घटना के कारण आश्चर्य में भय एवं वात्सल्य का योग हो गया है । उक्त दोनों भाव संचारी के रूप में आये हैं साथ ही वितर्क चिन्ता, शंका, आवेग आदि-आदि संचारियों से विस्मय स्थायीभाव परिपुष्ट हुआ है । स्तंभ एवं प्रकंप अनुभाव हैं । राम स्वयं आलंबन विभाव हैं और दोनों स्थलों पर राम के एक रूप की अवस्थिति उद्दीपन विभाव के रूप में प्रस्तुत है । विस्मय की भावना इस रस प्रसंग में कहीं शिथिल नहीं होने पाती और आगे चलकर 'प्रभु हँसि दीन्ह मधुर मुसकानी' की योजना तो इसको पूर्णता प्रदान कर सहृदय संवेद्य बना देती है ।

दूसरे प्रसंग में माँ को विराट् रूप का दर्शन कराया है । यहाँ अदृष्ट पूर्व के दर्शन से हर्ष तथा भय की मिश्रित अनुभूति श्रद्धा में परिणत होती हुई अद्भुत रस का संचार करती है । यहाँ राम आलम्बन हैं उनका विराट् रूप

---

1. रामचरित मानस, दोहा संख्या 200 के बाद से दोहा संख्या 202 तक ।

उद्दीपन है । माता आश्रय है । तन में पुलक, वाक् स्तंभ आँखें चन्द करना, शिर झुकाना, हाथ जोड़कर बारम्बार प्रणाम करना अनुभाव एवं हर्ष, जड़ता, त्रास आदि संचारी हैं । यहाँ भी भय संचारीभाव के रूप में आया है । पूर्ववर्ती विस्मय भाव तो विस्मय की अतिशयता का प्रेरक है ही । प्रकरण में यह अद्भुत रस अपने मित्र रस 'भक्ति' का पोषक बन जाता है । राम की महिमा का उद्घाटन करके माता के हृदय में भक्तिभाव की भूमिका निर्मित करने में इस अद्भुत रस का अप्रतिम योग है ।

अब उन प्रसंगों को लीजिए जहाँ भगवान का अवतार हो रहा है । वे चतुर्भुज रूप को तिरोहित करके भक्तों पर अनुग्रह हेतु शिशु रूप धारण कर लेते हैं । इस चमत्कारजनक प्रसंग में अद्भुत रस का सुन्दर परिपाक कृत्तिवास में मिलता है :—

---------, सहसा प्रकट भये भगवाना ।
निमिषहिं मह शिशुवेष दुराना, रूप चतुर्भुज प्रभु प्रकासा ।।

निरखि दिव्य वपु आनंद दाता, विस्मय हर्ष विवश पितुमाता ।
जनुकर्षित इन्द्रिय मनुप्राना, जनु प्रति रोम करत छवि पाना ।।
दम्पति सचकित मोहित जानी, कही गभीर, मधुर हरि बानी ।।[1]

यहाँ भगवान का सहसा प्रादुर्भाव आकस्मिकताजन्य विस्मय का उदय करता है और क्षणमात्र में ही वेश परिवर्तन करके चतुर्भुज रूप में प्रकट हो जाने पर तो विस्मय का अनन्त संसार अनावृत हो उठता है । यहाँ व्यापारजन्य विस्मय का उदय हो रहा है । फिर तो उस दिव्य रूप के दर्शन से हर्ष और विस्मय की भावना माता पिता को विवश कर देती है । यहाँ भगवान् के शिशु और

---

1. कृत्तिवास, अवतार खंड, पृ० 23-24.

चतुर्भुज रूप आलम्बन हैं, माता पिता आश्रय हैं, उनका रूप परिवर्तन उद्दीपन है, इन्द्रिय मन प्राण का आकर्षण स्तम्भ सात्विक का उपलक्षण है । इसीप्रकार प्रत्येक रोम शोभा का पान कर रहा है, ऐसा कहकर रोमांच की भी अभिव्यंजना की गई है । हर्ष, मोह, औत्सुक्य आदि संचारीभाव हैं अतः अद्भुत का परिपाक से दम्पति का विमुग्ध हो जाना स्वाभाविक है ।

भगवान के जन्म और कर्म दोनों ही दिव्य हैं । कृष्णावतार में उनकी अगणित ऐश्वर्यमयी माधुर्य लीलाएं भक्तों के मानस में दिव्य विस्मय का उद्रेक करती हैं । कृष्णावतार के क्षण हैं । अवतार होते ही कारागृह के द्वार सहसा खुल गये और मुस्कुराते हुए भगवान ने चतुर्भुज रूप बदल कर शिशु रूप धारण कर लिया :—

कारागार किवाड़ उघरे सहसा अस कहत ।
श्रीधर विश्वाधार विहँसे धरि शिशु वपु बहुरि ।।
चमत्कार वसुदेव विलोका । नवस्फूर्ति उर गत भय शोका ।
धाय सूर सुत सुघन उठावा । लखेउ न जननि नयन जल छावा ।।[1]

यह आनन्दात्मक अद्भुत रस का सुन्दर उदाहरण है । श्रीकृष्ण आलम्बर, कारागार के किवाड़ का सहसा खुल जाना तथा चतुर्भुज रूप का मुस्कुराते हुए शिशु बन जाना उद्दीपन हैं । माता पिता आश्रय हैं । अप्रत्याशितताजन्य विस्मय स्थायीभाव है। वसुदेव में स्फूर्ति एवं दौड़कर बालक को उठाना जैसे अनुभाव हैं । आवेग तथा चपलता संचारीभाव हैं । माता में हर्ष संचारी एवं अश्रु सात्विक के दर्शन होते हैं । अतः उचित विभावादि से परिपुष्ट विस्मयस्थायी अद्भुतरस की निष्पत्ति कर रहा है । वैष्णव आचार्यों की दृष्टि में इस प्रकार के उदाहरण दृष्ट अद्भुत रस के हैं ।

---

1. कृष्णायन, द्वारका प्रसाद मिश्र, अवतरण काण्ड, पृ० 25.

यों तो भगवान् श्रीकृष्ण की दिव्यलीलाओं का कोई अन्त नहीं और प्रत्येक लीला में लोकोत्तर चमत्कारजन्य आनन्द की उपलब्धि होती है किन्तु कुछ अद्भुत लीलाओं का भक्तकवियों ने आस्वाद लेकर वर्णन किया है और आचार्यों ने उन्हींको अद्भुत रस के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है । विवेचन की दृष्टि से हम भी उन्हीं प्रसंगों का उल्लेख कर रहे हैं ।

मुखबद्ध लीला को लीजिए — कृष्ण के मिट्टी खाने पर माँ यशोदा ताड़ना दे रही है । वे अपने को निरपराध सिद्ध करने के लिए मुख खोलकर माँ को दिखाते हैं कि उन्होंने मिट्टी नहीं खायी है । माँ को उनके मुख में अनन्त ब्रह्माण्ड के दर्शन होते हैं । वह विस्मय विमुग्ध हो जाती है । कृष्णायन महाकाव्य का यह अंश देखें —

सकसा पुनि डारि माटी खायी । देखत महरि रोष करि धायी ।।
पकरेउ भुज लीन्हीं कर साँटी । पुनि पुनि कहति निकारहु माटी ।।
कैसे अब तुम मोहिं बुझै हौ । खोलहु मुख अब कहाँ दुरै हौ ।।
सुनत श्याम माता बचन कीन्ह बदन विस्तार
विकल मातु विधु मुख लखेउ कोटिक विश्वप्रसार ।।
××× ××× ×××
करेत साँट गिरत नहिं जानी । मूँदे नयन जननि अकुलानी ।
पाहि ! पाहि ! मैं पाहि कन्हाई । मूँदहु बदन मातु बलिजाई ।।

यहाँ श्रीकृष्ण आलम्बन, उनके विधुमुख में अनन्त ब्रह्माण्डों का दर्शन उद्दीपन, वेपथु, नेत्र निमीलन आदि तथा पाहि पाहि आदि अनुभाव हैं । शंका, त्रास, आवेग आदि व्यभिचारी हैं । अतः यहाँ अद्भुत रस का परिपाक हुआ है । यहाँ विस्मय की व्यंजना प्रधान है वैसे तो ऐसे प्रकरणों में चकित या वात्सल्य का पुट प्रायः रहता ही है ।

---

1. कृष्णायन अवतरण काण्ड, पृ० 41.

विराट् स्वरूप के दर्शन में इसी प्रकार अर्जुन को भी विस्मय का आवेश हुआ । उसके रोम-रोम पुलकित हो उठे, उसने हाथ जोड़ कर शिर से प्रणाम किया और स्तुति आरंभ की ।[1] यहाँ भी भगवान आलंबन, उनका विराट् रूप उद्दीपन, सात्विक रोमहर्ष, अंजलिबद्ध नमस्कार आदि अनुभाव और धृति, मति, वितर्क आदि संचारीभाव हैं ।

महाकाव्यों में तो विभावादि की योजना सुगम होती है किन्तु मुक्तक छन्दों में भी उत्तम रस परिपाक हो सकता है । दृष्टान्त रूप में कालिय-मन्थन के प्रसंग पर पद्माकर का एक छन्द देखिए :—

गोपी ग्वाल माली जुरे आपस में कहैं आली
कोउ जसुधा के औतर्यो इन्द्रजाली है ।
कहै पदमाकर करै को यों उताली जापै
रहन न पावै कहूं एकौ फन खाली है ।
देखै देवताली, भई विधि के खुसाली, कूदि
किलकति काली, हेरि हंसत कपाली है ।
जनम को चाली, एरी अद्भुत ख्याली, आजु
काली की फनाली पै नचत वनमाली है ।।[2]

प्रस्तुत छन्द में पद्माकर ने श्रीकृष्ण की ऐश्वर्यमयी माधुर्य लीला का एक स्फूर्तिमन्त चित्र प्रस्तुत किया है । काली के अगणित फणों पर नृत्य की ऐसी 'उताली' कि एक भी फण खाली न रहे, कौशल का अपूर्व दृष्टान्त है । गोपी ग्वाल समझ नहीं पाते कि यह इन्द्रजाल का दृश्य है या वास्तविकता है । वे हर्ष से विभोर और इस उदात्त लीला से चमत्कृत हैं। यह संकीर्तित अद्भुत का

---

1. श्रीमद्भगवद्गीता अ० 11, श्लोक—10-14.
2. पद्माकर, जगद्विनोद 712, पृ० 23.

उत्तम उदाहरण है ।[1] यहाँ आश्रय गोपी, ग्वाल समूह है । वनमाली श्रीकृष्ण आलम्बन तथा उनका उठाली से फण पर नृत्य उद्दीपन है । हर्ष, वितर्क आदि संचारी हैं । कृष्ण की चमत्कार लीला का अनुकथन अधिक अनुभाव है । अतः अद्भुतरस का सुन्दर परिपाक है ।

इसी संदर्भ में श्री द्वारका प्रसाद मिश्र ने कृष्णायन में रस की सम्पूर्ण सामग्री का सुन्दर आयोजन किया है । पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :—

नाथे आठ माथे पर कोटि कमल अभिराम
नर्तत मुदित फणीन्द्र फण प्रकटे नटवर श्याम ।। 100 ।।
हरि देखत दौरे ब्रजवासी ।
जिमि विधु उदय उदधि जलराशी ।
गद्-गद् नन्द प्रमोद अपारा ।
पुलकेउ रोम रोम तन सारा ।
जनमि विलोचन वारि बहावत । -xxx - - xxx[2]

यहाँ कृष्ण आलम्बन, नाग को नाथ कर उसके फण पर प्रकट होना उद्दीपन, ब्रजवासियों का दौड़ पड़ना, नन्द का गद् गद् हो जाना, हर्ष, पुलक, रोमांच तथा भाता के अश्रु इस बात के प्रमाण है कि उपस्थित समस्त जन-समुदाय हर्षज आनन्दपूर्ण विस्मय में अवगाहन कर रहा है । उपर्युक्त दोनों छन्दों में आश्रय जनसमूह है। अतः प्रसंग में नाट्यधर्मिता तथा आश्रयों की सामाजिक भूमिका भी कम चमत्कारजनक नहीं है ।

दिव्य घटना के देखने के कारण दृष्टमानस-अद्भुत का उदाहरण डा० दीक्षित ने इस प्रकार दिया है[3] :—

---

1. इसी संदर्भ का पद्माकर का एक छन्द जगन्नाथ प्रसाद भानु ने काव्यप्रभाकर में उद्धृत किया है ।
2. कृष्णायन, अवतारखंड, पृ० 62.
3. रससिद्धान्त स्वरूप विश्लेषण : डा०आनन्दप्रकाश दीक्षित, पृ० 329.

घन बरसत कर पर रह्यो गिरि गिरिधर निःशंक ।
अजब गोपपति चरित्रलखि सुरपति भयो सशंक ।।[1]

यहाँ सुरपति आश्रय, गोपसुत कृष्ण आलम्बन, उनका चरित और उनकी निःशंकता तथा गिरिधारण करना उद्दीपन एवं शंका व्यभिचारी है । विस्मय स्थायीभाव है । सशंक शब्द के सहारे मानस अनुभावों का आक्षेप सरलता से हो सकता है । इस प्रकार यहाँ विभावादि के संयोग से रस की निष्पत्ति हुई है ।

इस प्रसंग पर टिप्पणी करते हुए डा० डालरी का कथन है कि — "जीवन की यथार्थ घटनाओं और परिस्थितियों में रुचि लेने वाला आज का पाठक बालकृष्ण के लोकोत्तर चमत्कारी हाथों में — जैसे अपने मुंह में ब्रह्माण्ड दर्शन कराना आदि भी अधिक रुचि नहीं ले पाता । इन घटनाओं के बौद्धिक मानसिक रूप अर्थों में ही वह आनन्द प्राप्त कर सकता है । कृष्ण द्वारा गोवर्द्धन पर्वत उठाने का यह प्रसंग देखिये — ××× यहाँ कृष्ण द्वारा गोवर्धन पर्वत को अपनी छिगुनी पर उठा लेने का अद्भुत कार्य ब्रज के गो-गोप-गोपी की रक्षा हेतु हुआ है, इसलिए यह उदात्त अद्भुत रस का प्रसंग अवश्य है पर आज के पाठक को ऐसे चमत्कारी कार्य तभी आनन्द प्रदान कर सकते हैं जब कि वह भगवान का पूरा भक्त बन जाये ।[2] बात तो ठीक है । आज के बुद्धिवाद ने तो भक्तों को भी ग्रस लिया है तभी तो मैथिलीशरण गुप्त ने द्वापर में लिखा है कि —"उठा लिया सचमुच पहाड़ ही भौंरमय गोविन्द ने" किन्तु हमें यह न भूलना चाहिए कि वासनायुक्त होना सहृदय की पहली शर्त है और किसी भी प्रसंग में रसास्वाद वही ले सकता है जो तदाकार वृत्ति

---

1. पद्माकर जगद्विनोद, 724, पृ० 232.
2. डा० कृष्णदेव झारी — रससिद्धान्त और कृष्ण भाव का मनोवैज्ञानिक विवेचन, पृ० 495.

धारण करे । अन्यथा हम रंग स्थल में 'काष्ठ कुड्याश्म' बन कर ही रह जावेंगे । भक्त होना कोई अपराध भी तो नहीं है ।

इसी प्रसंग का हरिभक्ति रसामृत-सिन्धु का यह उद्धरण वस्तुतः अत्यन्त सुन्दर है :—

क्वस्तन्यगन्धि वदनेन्दुरसौ सुतस्ते
गोवर्धनः शिखरुद्धवनः क्वचायम् ।
भो ! पश्य सव्यकरकन्दुकिताचलेन्द्रः
खेलन्निव स्फुरति हन्तकिमिन्द्रजालः ।।[1]

(मा ! यशोदे ! देखो, कहाँ तुम्हारा यह दुधमुंहा बच्चा और कहाँ अपने शिखरों से बादलों को रोकने वाला गोवर्धन पर्वत । उसके बायें हाथ में पर्वत गेंद सा दिखाई पड़ रहा है । लगता है वह मानों खेल रहा है। कैसा इन्द्रजाल है ।) यहाँ विरुद्ध धर्मी समायोजन से उत्तरोत्तर चमत्कार बढ़ता चला जा रहा है और अन्त में इन्द्रजाल का विभ्रम वस्तुतः अद्भुत रस के परिपाक को प्रमाणित कर देता है ।

द्रौपदी की चीर-विस्तारणा का प्रसंग भी बहुचर्चित है । वंशीधर कवि की यह रचना देखिए :—

दुवन दुसासन दुकूल गह्यो दीन बन्धु
दीन ह्वै के द्रुपद-दुलारी यों पुकारी है ।
छांड़े पुरुषारथ को ठाढ़े प्रिय पारथ से
भीम महाभीम ग्रीव नीचे को निहारी है।
अंबर लौं अंबर अमर[2] कियो 'वंशीधर'

---

1. हरिभक्ति रसामृत सिन्धु ।
2. अम्बर भी पाठ है, पर इससे छन्दों भंग होता है ।

भीषम करन द्रोन सोभा यौं निहारे है
सारी बीच नारी है कि नारी बीच सारी है
बिसारी ही की नारी है कि सारी है कि नारी है ।।[1]

यहाँ द्रौपदी की लज्जा-रक्षा का उदात्त कर्म है । भीष्म, कर्ण द्रोणाचार्य आश्रय हैं । उनका शोभा का निहारना मुग्धता का संकेत करता है । वस्त्र का अनन्त विस्तार उद्दीपन है । औत्सुक्य, संदेह वितर्क आदि संचारी है । संदेह यमक आदि अलंकारों से रस के परिपोष में सहायता प्राप्त होती है ।

इसी प्रकार रामचरित के लोकमंगलकारी अद्भुत लीला प्रसंगों में अहल्या उद्धार का प्रसंग बहुचर्चित है :—

परसत पद पावन सोक नसावन प्रगट भई तप पुंज सही ।
देखत रघु नायक जनसुखदायक सनमुख होइ कर जोरि रही ।।
अति प्रेम अधीरा पुलक सरीरा, मुख नहिं आवइ बचन कही ।
अतिसय बड़भागी चरनन्हिं लागी जुगलनयन जलधार बही ।।[2]

यहाँ राम आलम्बन, उनका चरण स्पर्श उद्दीपन, अधैर्य, पुलक, वाक्‌कम्प चरणों की वंदना, अश्रु आदि अनुभाव एवं संचारी है । अतः अद्भुत का पूर्ण परिपाक हुआ है ।

एक संस्कृत कवि ने तो इस प्रसंग में राम में ही अद्भुत रस का संचार करा दिया है । कवि की उक्ति है कि —"अरे ! शिला काँप रही है । शिव ! शिव ! यह तो कठिनता का भी परित्याग कर रही है (कोमल हो रही है) अहो । नारी की छाया का अनुसरण कर रही है । तो ! यह तो स्त्री बन रही है ।

---

1. शिवसिंह सरोज : पद 1056, पृ० 370.
2. रामचरित मानस, बालकाण्ड दोहा संख्या 210 के पश्चात् छन्द-1.

श्री राम इस प्रकार कह ही रहे थे कि मुख नीचे की ओर करके उरःस्थल पर चरणकमल खिसकाती एवं बिखरे बालों को बांधती हुई, ऋषि पत्नी (अहिल्या) उठ खड़ी हुई ।"[1]

रामचरित मानस में अद्भुत के अनेक स्थल हैं जैसे पार्वती द्वारा राम के ब्रह्मत्व की परीक्षा के अवसर पर, धनुष भंग एवं परशुराम के द्वारा राम की शक्ति परीक्षा के अवसर पर । उत्तरकाण्ड में भगवान राम का अनेक रूप धारण करके क्षणमात्र में सबसे मिलना, सुरसा का बदन विस्तार, हनुमान का लंका दहन आदि । इन प्रसंगों को विस्तार भय से यहाँ उल्लेख मात्र करके छोड़ दिया गया है ।

गीत अवधान के आकर्षण का सबसे प्रमुख साधन है और यदि उसमें लोकोत्तरता हो तो कहना ही क्या । लक्ष्मण की मूर्च्छा निवृत्ति के लिए संजीवनी बूटी लेने हनुमान गये, किन्तु उसे पहचान न सकने के कारण तत्क्षण पर्वत को उखाड़ लिया और तनिक भी विलम्ब न लगाते हुए चल पड़े । उस समय उनकी गति का वर्णन करते हुए गोस्वामी जी का कथन है कि —

लीन्हो उखारि पहाड़ बिसाल,
चल्यो तेहि काल बिलंबु न लायो ।
मारुत नन्दन मारुत को मन को,
खगराज को बेगु लजायो ।
तीखी तुरा तुलसी कहतो
पै हिए उपमा को समाउ न आयो ।
मानो प्रतच्छ परब्बत की नभ
लीक लसी, कपि यों धुकि धायो ।।[2]

---

1. साहित्य दर्पण, डा० सत्यव्रत सिंह द्वारा उद्धृत, पृ० 263.
2. गोस्वामी तुलसीदास — कवितावली, लंका काण्ड, छन्द संख्या 54.

यहाँ हनुमान आलम्बन, हनुमान की गति उद्दीपन, कवि आश्रय है । 'उपमा को समाउ न आयो' से वाक् स्तम्भ व्यंग्य है। इस प्रकार यहाँ अद्भुत रस का सुन्दर परिपाक है । उपमा का निषेध करके उल्लेखा अलंकार के द्वारा कवि ने जो उस गति को चित्रित करने का प्रयत्न किया है, उसके कारण कलात्मक सौन्दर्य भीर्वानीय है और वह रस के परिपोष में भी सहायक है ।

पशुपक्षियों के भी असामान्य कर्मों में कवियों ने विस्मय भाव का सुंदर परिपाक दिखाया है । वीररस में अद्भुत संचारी के रूप में तो सर्वत्र रहता है किन्तु कभी-कभी वह रस-सांकर्य के रूप में उपस्थित होकर और चमत्कार पैदा करता है । अभिनव गुप्त का मत है कि एक रस अपनी विभावादि सामग्री के कारण परिपोष को प्राप्त करके चमत्कार को प्राप्त होता है किन्तु जब उतने ही चमत्कार से संतोष नहीं होता तो वह दूसरे चमत्कार की ओर चल पड़ता है और इसी से रस सांकर्य होता है ।

> तदुक्तमभिनवगुप्तै पादाचार्यैः —
> संभूतान्यपि रसान्तराणि स्वविभावादि सामग्र्यां स्वादस्थायां यद्यपि लब्धपरिपोषाणि चमत्कारगोचरतां प्रतिपद्यन्ते तथा सचमत्कारस्तावत्येव परितुष्यन् न विश्राम्यति किन्तु चमत्कारान्तरमनुद्यावति इति ।[1]

भाव प्रकाशन में रस मिश्रण की सुन्दर प्रक्रिया समझायी गयी है— यदि दो भावों की पौर्वापर्य ढंग से उपस्थिति होती है, तो रसज्ञ विद्वान उसे रसमेलन (मिश्रण) कहते हैं ।[2]

---

1. रत्नापण में उद्धृत — पृ० 285.
2. पौर्वापर्येण भावाः स्युः समा यदि मिथो द्वयोः ।
   तदेव रसविद्वद्भी रस-मेलनमुच्यते ।।— भावप्रकाशन, शारदातनय, 6/134, 5-6.

अतः वीररस के साथ अद्भुत रस का सम्मेलन उसे और चमत्कृत कर देता है । राणा प्रताप के घोड़े का यह अद्भुत रण-कौशल देखिए —

रण-बीच चौकड़ी भर-भर कर चेतक बन गया निराला था ।
राणा प्रताप के घोड़े से पड़ गया हवा का पाला था ।।

गिरता न कभी चेतक तन पर राणा प्रताप का कोड़ा था ।
वह दौड़ रहा अरि-मस्तक पर या आसमान पर घोड़ा था ।।

जो तनिक हवा से बाग हिली लेकर सवार उड़ जाता था ।
राणा की पुतली फिरी नहीं तब तक चेतक मुड़ जाता था ।।

हय यहीं रहा, अब यहाँ नहीं, वह वहीं रहा, है वहाँ नहीं ।
थी जगह न कोई जहाँ नहीं, किस अरि मस्तक पर कहाँ नहीं ।।

बढ़ते नद-सा वह लहर गया वह गया गया फिर ठहर गया ।
विकराल वज्र-मय बल-सा अरि की सेना पर घहर गया ।।

भाला गिर गया, गिरा निषंग, हय-टापों से खन गया अंग ।
बैरी समाज रह गया दंग, घोड़े का ऐसा देख रंग ।।[1]

यहाँ घोड़ा आलम्बन, बैरी समाज आश्रय, उसकी गति उद्वेपन और दैन्य जड़ता आदि व्यभिचारी हैं । दंग रह जाना आदि अनुभाव हैं और अद्भुत रस का सुन्दर परिपाक हुआ है । किन्तु वीर रस से उद्बुद्ध होकर वीर रस में ही पर्यवसित हो जाने के कारण यह वीर-अद्भुत रस-मेलन का उत्तम उदाहरण है ।

इसी प्रकार घटनागत्य अद्भुत का एक सुन्दर दृष्टान्त देखिये :—

---

1. श्यामनारायण पाण्डेय, हल्दी घाटी ।

अन्धे कुणाल की आँखों में सहसा ज्योति आ जाने के कारण अद्भुत रस का उत्तम परिपाक हुआ है —

दिखाई पड़ा अलौकिक दृश्य
वही तब सब हो गये विमुग्ध
लौट आयी आँखों में ज्योति
देखते थे कुणाल अब मुग्ध
हर्ष की उमड़ी और हिलोर
हुई जनता सुख में तल्लीन
कांचना पुलकित चकित असीम
आज सब विधि वह बनी अदीन ।।[1]

यहाँ कुणाल आलम्बन है, उनकी फूटी आँखों में सहसा ज्योति का प्रकाशित हो जाना उद्दीपन है । परिणामतः स्वयं कुणाल भी मुग्ध है, जनता भी मुग्ध है, इस प्रकार पुलक, हर्ष आदि अनुभाव और हर्ष संचारी का उदय हो रहा है । यहाँ भानुदत्त तथा विद्यानाथ के स्वनिष्ठ और परनिष्ठ भेदों की इसमें एक साथ संगति है। 'अन्धा क्या चाहे दो आँखें' और कुणाल को वही प्राप्त हो गयी है । अतः उनके लिए इष्ट प्राप्ति हुयी विभाव है और वे स्वयं उस अप्रत्याशित घटना से विमुग्ध हैं यह स्वनिष्ठ विस्मय का उदाहरण है । उनकी आँखों में ज्योति के दर्शन से जनता को जो आनन्द हुआ और कांचना को जो उल्लास मिला वह परनिष्ठ विस्मय का दृष्टान्त है ।

विस्मय के आलंबनों में भाव विचार तथा घटना का अप्रतिम महत्व है । इसीसे कथानक में गति हर्ष आकर्षण उत्पन्न होता है और पात्र का चरित्र चमक उठता है । भाव विचारों को सहसा परिवर्तित कर देते हैं तो विचार भावों को

---

1. सोहनलाल द्विवेदी : कुणाल : वरदान : पृ० 113.

उद्वेलित करने में समर्थ होते हैं । इसके अतिरिक्त यदि घटनात्मक आकस्मिकता का योग हो तो क्या कहना । ऐसे मनोरम प्रसंग साहित्य में अनेकानेक भरे पड़े हैं । यहाँ सिद्धराज का एक उदाहरण प्रस्तुत है —

सिद्धराज 'रानक वे' के शिशुओं का वध करने के बाद उसे अपनी प्रेयसी बनाना चाहता है । पतिव्रता सती होने के लिए पति का शिर चाहती है और सिद्धराज उसे पकड़ने बढ़ता है । सहसा जगद्देव प्रवेश करता है और सिद्धराज को व्यभिचारी, कामी, मूढ़, कापुरुष पापी, प्रेत कहकर संबोधित करता है । सिद्धराज जयसिंह को भी एक क्षण के लिए आवेश आता है । दोनों में वाग्युद्ध होने लगता है । विचारों का घात-प्रतिघात चल पड़ता है । रानक वे तथा जगद्देव दोनों मरने मारने को प्रस्तुत हैं । प्राण विसर्जन की यह होड़ जयसिंह को विस्मयाभिभूत कर देती है । उसकी स्थिति का वर्णन कवि के शब्दों में इस प्रकार है।

> लेकर भी शाणित कृपाण निज कर में
> स्तब्ध जयसिंह वहाँ जड़ सा खड़ा रह
> बेर तक, इतमुख तेज नत नेत्र थे ।
> फेंक कर खड्ग, खर दृष्टि डाल अन्त में
> रानक की ओर और एक लम्बी साँस ले
> लौट धीर धीर वह बाहर चला गया ।।[1]

यहाँ विचार से भाव परिवर्तन तथा भाव से विचार परिवर्तन का सश्लिष्ट चित्र है । आलम्बन जगद्देव एवं उसकी प्राण विसर्जन की लालसा उद्दीपन का कार्य कर रहे हैं । आश्रय जयसिंह में स्तब्ध जड़ता, वैवर्ण्य, लज्जा आदि का उदय हो रहा है ।

---

1. सिद्धराज : मैथिलीशरण गुप्त, तृतीय सर्ग, पृ० 82.

खड्ग फेंकना, उच्छ्वास, खर दृष्टि अवसरानुकूल अनुभाव है । अतः अद्भुत का उत्तम परिपाक हुआ है ।

मानव के लिए प्रकृति सदैव से विस्मय एवं रहस्य का लोक बनी हुई है । उसका सुन्दर रूप हमारे नेत्रों का उत्सव और मन का विश्राम है । इन्द्रधनुष, खिलते हुए फूल, उड़ती तितलियाँ, झरते झरने किसके मन को नहीं रमाते । जहाँ उसकी माधुरी में महिमा मिश्रित हो जाती है, वहाँ असाधारणता अपनी लोकोत्तर भव्यता में नव्य हो उठती है । ऐसे प्रसंग आँखों में चमक पैदा करते हैं और मन में विस्मय । यहीं से सौन्दर्य की भावभूमि उदात्त का संस्पर्श करने लगती है ।

दूसरी स्थिति वहाँ आती है, जहाँ सीमा में बँधा मानव प्रकृति के विराट् रूप का सहसा दर्शन करके विस्मयाभिभूत हो जाता है । अपनी लघिमा तथा प्रकृति की अनन्त महिमा का बोध मन में भय, आतंक, जिज्ञासा, आश्चर्य जैसे न जाने कितने भावों को जन्म देता है । कारण यह है कि व्यक्ति का सीमित मन विराट् को सहसा आत्मसात् नहीं कर पाता । वह एक आघात का अनुभव करता है, किन्तु दूसरे ही क्षण वह पुनरुज्जीवित सा अनुभव करता हुआ अपने अन्तर्मानस को स्फीत करता है। यह आत्मस्फीति या चित्त विस्तार विस्मय-जनित आनन्द की निष्पत्ति करता है । इस संदर्भ की सियारामशरण गुप्त की एक रचना देखिए :—

> ज्ञात नहीं जाने किस द्वार से
> कौन से प्रकार से
> मेरे गृह कक्ष में
> दुस्तर-तिमिर-दुर्ग-दुर्गम-विपक्ष में
> उज्ज्वल प्रभामयी
> यकायक कोमल किरण एक आ गयी ।

बीच से अँधेर के हुए दो टूक :
विस्मय विमुग्ध मेरा मन
पा गया अनन्त धन ।

××× ×××

स्निग्ध वह सूक्ष्माकार
कज्जल के कूट में उसी प्रकार
जो लौ रही, उज्ज्वल बनी रही ।
ओठों पर हास रहा हँसता हुआ वही
किन्तु उसी हास-सी
बीचि के विलास-सी
विद्युत-प्रवाहमयी
जैसी वह आयी बस वैसी ही चली गयी ।[1]

इन पंक्तियों में स्वशब्द वाच्यत्व दोष के अतिरिक्त अद्भुत रस के परिपोष की पूर्ण सामग्री विद्यमान है । एक कोमल किरण-आभामयी किरण-का विषद्दी-तिमिर-दुर्ग में एकाकी प्रवेश अभिमन्यु का स्मरण कराता है किन्तु यह किरण उससे भी बढ़कर है । अभिमन्यु तो रण-भूमि में सो गया किन्तु यह किरण जैसी-की-तैसी वापस चली गई । कैसा विलक्षण चमत्कार है और विशेषता यह है कि वही मुसक्यान की लहरी, वही आलोक का प्रवाह और शीतल का ऐसा अक्षय स्रोत कि भयंकर कज्जल कूट रूप अंधकार का दुर्ग दो टूक हो गया। यह निर्भयता शान्ति एवं शीतल का योग किसे मुग्ध नहीं कर देता ।

प्रकृति में भय आतंक उसके उदात्त रूप के दर्शन से होता है, जो अन्त में विस्मय में परिणत हो जाता है । पंत की अनेक रचनाओं में इस औदात्यपूर्ण विस्मय की झाँकी देखी जा सकती है । स्वशब्द वाच्यत्व दोष यहाँ

---

1. रूपाम्बरा (ज्ञानपीठ), मियाराम शरण गुप्त, किरण, पृ० 61.

भी है किन्तु 'हिमाद्रि' तथा 'कूर्मांचल के प्रति' शीर्षक रचनाओं में विस्मय का उत्तम परिपाक हुआ है । कई पृष्ठों की रचना उद्धृत कर प्रबन्ध का कलेवर नहीं बढ़ाना चाहता किन्तु 'कूर्मांचल के प्रति' शीर्षक रचना में तो कवि ने विस्मय के स्तरों का साग्रह उल्लेख किया है :—

निज अवाक् गरिमा से करता नर अमरों को मोहित
निखिल विश्व को दिग्-विराट् भौगोलिक विस्मय से भर

×××　　×××　　×××

मोहित अन्तर में भर देते आदिम विस्मय गहरा
अन्तरिक्ष विस्फारित नयनों को अपलक रह तद्वत् ।

×××　　×××　　×××

जिस अकथित सम्मोहन का करता अवाक् मन अनुभव
मुक्त नील तारा हिमत लगता मौन रहस्य निनादित ।

×××　　000　　×××

कौन तुम्हारी शोभा शब्दों में कर सकता कल्पित ।

×××　　×××　　×××

उग्र कराल शिलाएँ भरती मन में विस्मय संभ्रम ।

×××　　×××　　×××

यह भौतिक ऐश्वर्य शुभ्र गरिमा से मन को छूकर
नीरव आध्यात्मिक विस्मय से अन्तर को देता भर ।[1]

लगता है कवि ने अपने मानस की औदात्यमूलक विस्मय विभोरता को ही इन पंक्तियों में साकार किया है । सम्पूर्ण रचना में एक साथ अनुभूति और कल्पना के योग से विभाव में अलौकिकत्व आ गया है । वर्णनीय की अवर्णनीयता "कौन तुम्हारी शोभा शब्दों में कर सकता कल्पित" से स्पष्ट है,

---

1. कूर्मांचल के प्रति – पंत (अतिमा से) युगान्तर, पृ० 145-55.

किन्तु कवि अपने प्राणों की समस्त ऊर्जा, कल्पना के समग्र वैभव और अनुभूति के अक्षय कोष लुटाकर उस 'आदिम' 'भौगोलिक' विस्मय को आध्यात्मिक विस्मय तक पहुँचने के लिए आतुर है । निःसंदेह सम्पूर्ण कविता में सादृश्यान्त विस्मय की आत्मा अद्भुत रस में परिणत होकर ग्राहक के मन को छूती हुई अन्तर को भर देती है । इन पंक्तियों के आधार पर उन लोगों को अपने मत में संशोधन कर लेना चाहिए जो यह कहते हैं कि अद्भुत अंगीरस नहीं हो सकता ।

जहाँ प्रकृति में भी ईश्वरीय भावों का आरोपण हो जाता है । वहाँ अद्भुत रस का परिपाक सुगम हो जाता है । उदाहरण के लिए 'रत्नाकर' के गंगावतरण[1] तथा पद्माकर की 'गंगालहरी'[2] को देखा जा सकता है ।

मानव निर्मित जड़ पदार्थों में भी कलात्मक चेतना के योग से विस्मय का उद्रेक हो जाता है । जायसी का सिंघलगढ़ वर्णन देखिये :—

पुनि आये सिंघल गढ़ पासा । का बरनौं जनु लाग अकासा ।।
नरहि कलिन्द वासुकि कै पीठी । ऊपर इन्द्रलोक पर दीठी ।।
परा सोइ चहुँदिसि अस बाँका । कोपै जोध जाय नहिं झाँका ।।
अगम अमूझ देखि उर लाई । परै तो सपत पतालहिं जाई ।।
नव पौरी बाँकी नव खंडा । नवौ जो चढ़े जाइ बरम्हंडा ।।
कंचन कोट जरे नग सीसो । नखतहिं भरी चीतु जनु दीसा ।।
लंका चाहि ऊँच गढ़ ताका । निरखिन जाय दीठि मन थाका ।।
हिय न समाइ दीठि नहिं जानहु ठाढ़ सुमेर
कहँ लगि कहाँ ऊँचाई, कहँ लगि बरनौं फेर ।।[3]

---

1. गंगावतरण, रत्नाकर, अध्याय 6 पद्य 14-15 तथा 37-39.
2. गंगालहरी, पद्माकर, (आकर ग्रन्थमाला-4), पद्य 3, 19, 27.
3. पद्मावत, सं०—आ० रामचन्द्र शुक्ल (15वाँ सं०) पृ० 13-14.

यहाँ कवि आश्रय, गद् आलम्बन, उसकी शोभा तथा भयंकरता उद्दीपन, 'दीप्ति मन' का थक जाना, हृदय में न समाना आदि अनुभाव एवं संचारी मिलकर औदात्य भाव को जागृत करते हैं जो भय एवं सौन्दर्य की गंगा-जमुनी के बीच से होता हुआ विस्मय में पर्यवसित होता है । चेतना की अभिभूति और उसकी विस्तारणा की सजगता का एक साथ ऐसा मनोरम निर्वाह कठिन है।

कहीं कहीं एक साथ आलम्बन के अनेक वैशिष्ट्य के योग से अद्भुत रस की अपूर्व छवि का विस्तार होता है । निराला की 'राम की शक्ति पूजा' का यह अंश विशेषतः उल्लेखनीय है :—

अद्रिद्य के दुर्ग पहुँचा विद्युत-गति हत चेतन
राम में जगी स्मृति हुए सजग या भाव प्रबन ।
यह है उपाय कह उठे राम ज्यों मन्त्रित वचन—
कहती थी माता मुझे सदा राजीव नयन ।
दो नील-कमल हैं शेष अभी, यह पुश्चरण
पूरा करता हूँ देकर मातः एक नयन ।
कह कर देखा तूणीर ब्रह्मशर रहा झलक
ले लिया हस्त लक-लक करता वह महा फलक,
ले अस्त्र वाम कर, दक्षिण कर दक्षिण लोचन
ले अर्पित करने को उद्यत हो गये सुमन
जिस क्षण बँध गया बेधने का दृग दृढ़ निश्चय
काँपा ब्रह्माण्ड हुआ देवी का त्वरित उदय ।

×××　　×××　　×××

साधु, साधु, साधक-धीर, धर्म-धन धन्य राम ।
कह लिया भगवती ने राघव हस्त थाम ।

देखा राम ने सामने श्री दुर्गा, भास्वर
वाम पद असुरस्कन्ध पर, रहा दक्षिण हरि पर,
ज्योतिर्मय रूप, हस्त दश विविध अस्त्रसज्जित
मन्द-स्मित मुख, लख हुई विश्व की श्री लज्जित
है दक्षिण में लक्ष्मी, सरस्वती वाम भाग,
दक्षिण गणेश, कार्तिक बायें रण-रंग-राग,
मस्तक पर शंकर । पद पद्मों पर श्रद्धा धर
श्रीराघव हुए प्रणत मन्द-स्वर-वन्दन कर ।
'होगी जय, होगी जय, हे पुरुषोत्तमनवीन'
कह महाशक्ति राम के वदन में हुई लीन ।[1]

यहाँ कवि ने विस्मय की अनेक भूमिकाओं का एक साथ समायोजन करके अद्भुत का पूर्ण परिपाक किया है । पूजन करते हुए ध्यानस्थ राम के हाथ में जब अर्पण के लिए इन्दीवर नहीं मिला तो चंचल हो उठे । अभाव की आकस्मिकता ने मन में द्वन्द्व का उदय कर दिया । यहीं से आश्चर्य का उदय होने लगता है । पुनः चिन्तन के धरातल पर पुरुषोत्तम राम की बुद्धि में उदित दृढ़ निश्चय चरित्र की लोकोत्तरता को प्रमाणित करता है। तदनन्तर चिंतन को कार्यरूप में परिणत करने के भाव से चमचमाते हुए महाफलक को लेकर जब राम दक्षिण लोचन को सुमन समान अर्पित करने को उद्यत हो गये उस समय आलम्बन के अलौकिक सामान्य चरित्र को देखकर भावक का कंठ बड़ा स्वाभाविक है । ऐसे क्षण में जब सहृदय दम साधे इस अप्रत्याशित घटना में उथल-पुथल हो रहा होता है तभी सहसा देवी का आविर्भाव होता है । यहाँ विस्मय में दिव्यता का प्रवेश हो जाता है । देवी का साधुवाद देना, धन्य-धन्य कहना, वाचिक अनुभाव तथा हाथ थाम लेना, शारीरिक अनुभाव हैं । यहाँ देवी आश्रय हैं जिनको राम का यह चरित्र लोकोत्तर विस्मय विमुग्ध कर

---

1. आश्रय , राम की शक्ति पूजा - निराला, पृ० 54-55.

रहा है । सहृदय अभी तक अप्रत्याशितता के आघात से स्तब्ध, हतप्रभ था । उसेके लिए चमत्कार की नयी भूमिका (देवी का सहसा उदय) आश्वासन का कार्य करती है ।

यहाँ से राम आश्रय एवं देवी आलंबन है। उनका दिव्य रूप ~~केवल~~ राम के लिए उद्दीपन का कार्य कर रही है । राम में श्रद्धा का उदय, प्रणाम एवं मन्दस्वर में स्तुति क्रमशः मानसिक, शारीरिक एवं वाचिक अनुभाव हैं । हर्ष औत्सुक्य आदि संचारी व्यंग्य हैं ।

अन्त में पुरुषोत्तम राम को विजय का आशीर्वाद देती हुई महाशक्ति का राम के ही वदन लीन हो जाना विस्मय की सघनता द्वारा अद्भुत रस का पूर्ण परिपाक करता है ।

नाट्यधर्मी इस रचना में अन्त में अद्भुत रस की योजना और इष्ट प्राप्ति रूप फलागम की शोभा भी कम महत्व की नहीं है । यहाँ आश्रय एवं आलम्बन प्रतिसंक्रमण भी अत्यन्त मोहक है ।

अब कुछ ऐसे प्रसंग हैं जहाँ अद्भुत रस का पूर्ण परिपाक नहीं हुआ है । ऐसे स्थलों में अन्य आचार्यों ने अद्भुत रस की सिद्धि करने का प्रयास किया है किन्तु वहाँ भाव, भावसन्धि, भावोदय आदि ही हैं ।

गोवर्द्धनोद्धारण के प्रसंग पर सूरदास के निम्नलिखित पद को देखिए—

धरनिधर क्यों राख्यो दिन सात
अति ही कोमल भुजा तुम्हारी, चाँपति जसुमति मान
ऊँचो अति विस्तार भार बहु यह कहि कहि पछितात ।
वह अघात तेरे तनक-तनक कर कैसे राख्यो लाल ।
मुख चूमति हरिकंठ लगावति देखि हँसत बल भ्रात ।
सूर स्याम को केतिक बात यह जननी जोरत नात ।।[1]

---

1. सूरसागर (सभा) पद 1587.

इस पर बाबू गुलाबराय की टिप्पणी है कि 'लोकोत्तर कार्य आश्चर्य के उत्पादक होते हैं । गिरिवर धारण से माता यशोदा को आश्चर्य हुआ इसका वर्णन देखिए ।[1] किन्तु हमारे मत में यहां अद्भुत रस नहीं है अपितु वात्सल्य रस का ही परिपाक हुआ है । विस्मय तो मात्र संचारी के रूप में पुत्र विषयिणी रति का परिपोष कर रहा है ।

द्रौपदी की चीर-विस्तारणा को द्रौपदी अष्टक में रत्नाकर जी ने भी पल्लवित किया है किन्तु दूरारूढ़ अप्रस्तुत योजना से विस्मयभाव दब गया है । उल्लेख तथा संदेह अलंकारों की छटा से युक्त दो छन्द देखिये :—

बोलि उठे चकित सुरासर जहां ही तहां
हा हा यह चीर है कै धीर वसुधा को है ।
कहै रत्नाकर कै अंबर दिगम्बर को ।
कैधौं पर पंच को पसार विधिना को है ।।
कैधौं सेसनाग की असेस कंचुली है यह
कैधौं ढंग गंग की अभंग महिमा को है ।
कैधौं द्रौपदी की करुना को बरुनालय है
पारावारा कैधौं यह कान्ह की कृपा को है ।

अंबर लौ अंबर अनंत द्रौपदी को देखि,
सकल सभा की प्रतिभा यो भई दंग है ।
कोऊ कहै अंध-भूप-मोह-अंध नासन कौं,
चारु चन्द्रिका की चली चादर अभंग है ।
कोऊ कहै कर-कुल-रूप-पाप-खंडन कौ,
उमड़ति अखिल अखंड-धार-गंग है ।
मेरे जान दीन-दुख दंद हरिबे कौ यह
करुना अपार-रत्नाकर तरंग है ।[2]

---

1. गुलाबराय : नवरस : पृ० 506-7.
2. रत्नाकर, श्री द्रौपदी अष्टक, पृ० 448-49, छन्द संख्या 8,10.

यह प्रसंग विस्मयजनक है किन्तु भावोदय से अधिक की स्थिति नहीं है ।

महात्मा गांधी हमारे बीच में शरीरधारी मानव रह चुके हैं, किन्तु जब कवि उनके लोकोत्तर व्यक्तित्व से हमें अभिभूत करना चाहता है तो विरोधाभासी तथ्यों का चयन करता है । देखिये —

तुम मांस-हीन, तुम रक्त-हीन,
हे अस्थि-शेष ! तुम अस्थि-हीन,
तुम शुद्ध बुद्ध आत्मा केवल
हे चिर-पुराण हे चिर-नवीन ![1]

इन पंक्तियों में अस्थिशेष कह कर अस्थिहीन बताना तथा चिर-पुराण कहकर चिर-नवीन कहना विस्मय का उद्रेक करता है । किन्तु यहाँ विस्मय भाव ही मानना चाहिए अद्भुत रस नहीं, क्योंकि एक तो विभावादि सामग्री का प्रत्यक्षतः अभाव है दूसरे आलंकारिक चमत्कार का उन्मीलन होते ही हमारा विस्मय उपशमित होने लगता है ।

प्रकृति का सौन्दर्य जहाँ एक ओर हमारे मन को रमाता है, वहीं एक अज्ञात रहस्य के संसार का भी अनावरण करता है । वह द्रष्टा की आँखों में एक साथ आकर्षण तथा एक प्रश्न चिह्न बन कर उभरता है और यहीं से रहस्य के निरवगुंठन की प्रक्रिया का आरंभ हो जाता है ।[2]

---

1. बापू के प्रति - पन्त
2. सौन्दर्यमयी चंचल कृतियाँ बनकर रहस्य हैं नाच रहीं ।
   मेरी आँखों को रोक नहीं आगे बढ़ने में जाँच रहीं ।।
   मैं देख रहा हूँ जो कुछ भी, वह सब क्या छाया उलझन है ।
   इस सुन्दरता के परदे में क्या अन्य किसी का मन है ।।
   — कामायनी, श्रमसर्ग (एकादश संस्करण), पृ० 76.

छायावादी कवियों में इसी रहस्यमयता के दर्शन होते हैं । मौन-निमन्त्रण की कुछ पंक्तियां देखिये —

स्तब्ध ज्योत्स्ना में जब संसार
चकित शिशु सा रहता नादान
विश्व के पलकों पर सुकुमार
विचरते हैं जब स्वप्न अजान ।
न जाने नक्षत्रों से कौन
निमंत्रण मुझको देता मौन ।[1]

इसी प्रकार महादेवी जी के सम्मुख भी प्रश्न है :—

कनक से दिन मोती सी रात
सुनहली सांझ गुलाबी प्रात
मिटाता रंगता बारम्बार
कौन जग का यह चित्राधार ।[2]

इन पंक्तियों में तथा इसी प्रकार की शतशः अन्य रचनाओं में, जिज्ञासामूलक विस्मय का उदय हुआ है जिसमें अभिभूति के बदले एक संवेदनात्मक रहस्यमयता के दर्शन होते हैं।

प्रकृति का मानवीकरण तो मोहक विस्मय को जन्म देता ही है किन्तु मानव का प्रकृति-करण कम विस्मयप्रद नहीं है । डा०रामकुमार वर्मा की कुछ पंक्तियां देखिये —

---

1. पंत, मौन निमंत्रण, आधुनिक कवि, भाग-2, पृ० 30.

2. महादेवी, सन्धिनी, प्रथम संस्करण, पृ० 18.

छिपा उर में कोई अनजान
खोज खोज कर सांस निकल
भीतर आती जाती है ।
पुतली के काले बादल में
वर्षा सुख पाती है ।
एक वेदना विद्युत सी
खिंच खिंच कर घुल जाती है
एक रागिनी चातक स्वर में
सिहर सिहर गाती है
कौन समझे समझाये गान ।[1]

यहाँ कवि की प्रतिभा के संसर्ग से वर्षाऋतु को मानव शरीर में स्थापित कर दिया गया है । यहाँ चमत्कार केवल भावोदय तक ही सीमित है क्योंकि गीत का मूल स्वर 'अनजान' का अन्वेषण है, विस्मय नहीं ।

प्रसंग समाप्त करने से पूर्व कुछ निवेदन आवश्यक है । सर्वप्रथम तो यह है कि हमने जो उद्धरण अद्भुत रस या विस्मय भाव, भावोदय, भाव सन्धि, रस मेलन आदि के दिये हैं वे उपलक्षण मात्र हैं । यदि समस्त हिन्दी साहित्य में कालानुक्रम की दृष्टि से रचनाओं में कथावस्तु, पात्र चरित्र और भावानुभूति आदि के आधार पर अद्भुत रस का आकलन किया जाये तो एक स्वतंत्र शोध प्रबन्ध हो सकता है ।

हमने विषय प्रवेश में ही अपनी सीमाओं का स्वयं उल्लेख करते हुए निवेदन किया है कि हमारा उद्देश्य विषय की गहराई में उतरना है, विस्तार में जाना नहीं । दूसरी बात यह है कि बाबू गुलाबराय आदि ने अद्भुत रस के उदाहरणों में भाव अद्भुत रस को सिद्ध करने का प्रयत्न किया,

---

1. रामकुमार वर्मा, चित्रलेखा, गीत 4, पृ० 4.

किन्तु चमत्कार जब तक तदनुकूल भावानुभूति से सम्बद्ध नहीं होता, तब तक रस की संज्ञा नहीं प्राप्त कर सकता । उनमें विस्मय का तत्त्व अवश्य होता है । अतः ऐसी रचनाओं के विस्मयतत्त्व के उद्घाटन के निमित्त मैंने विस्मय तत्त्व का आस्वाद शीर्षक से पृथक चर्चा की है । आलंकारिक रचनाओं को अद्भुत रस में समेटने का मुख्य कारण रसतरंगिणी का यह उल्लेख है, जिसमें यह कहा गया है कि "अत्युक्ति, भ्रमोक्ति, चित्रोक्ति विरोधाभास प्रभृतयो अद्भुता एवं "[1] किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि उन अलंकारों की उपस्थिति में अद्भुत रस अवश्य हो । दूसरी बात यह है कि 'अद्भुता एव' इसका अर्थ अद्भुत रसजनकाः' न करके 'विस्मयजनकाः' मानना चाहिए । यदि अलंकारों में रस की निष्पत्ति मान लें तब तो शब्द को आलम्बन और अलंकार को उद्दीपन मान कर सर्वत्र अद्भुत की वर्षा हो जायेगी । रस को इतना सस्ता नहीं बना देना चाहिए । हमारे विचार की पुष्टि भट्ट मथुरानाथ शास्त्री ने भी की है । विद्याराम की रसदीर्घिका पर भूमिका लिखते हुए उन्होंने लिखा है कि विद्याराम ने अत्युक्ति विरोधाभास तथा चित्रोक्ति आदि में अद्भुत रस माना है । अत्युक्ति आदि में लोकोत्तरार्थ युक्त वाच्य संदर्भ अवश्य होता है किन्तु उससे वासना रूप से अवस्थित विस्मय स्थायी का उद्रेक नहीं होता है तथा उस तरह के अनुभाव भी नहीं होते[2] ।

---

1. रस तरंगिणी, पृ० 158.
2. विस्मयस्थायिभावोऽद्भुतो रसः सर्वेष्वेव प्राङ्निबन्धेषु निरूपितोऽन्यैः साहित्य-सर्जकैः किन्तु विद्यारामेण —

   अत्युक्तिश्च भ्रमोक्तिश्च विरोधाभास कस्तथा ।
   चित्रोक्त्याद्याश्च विज्ञेया अद्भुता एव सर्वशः ।।

   इति वदता अत्युक्त्यादिषु अद्भुतो रसः स्वीकृतः ।xxxअत्युक्त्यादिषु लोकोत्तरार्थ युक्तो वाच्य संदर्भः अवश्यमस्ति । किन्तु तेन वासना रूपेणावस्थितो 'विस्मयः' स्थायी किं तथैवाभिव्यक्तिं याति यथा अर्जुनाय विश्वरूप दर्शने भगवद् गीतायाम् ? — रसदीर्घिका — कवि विद्याराम : भूमिका : भट्ट मथुरानाथ शास्त्री ।

एक तीसरा प्रश्न डा० शारी ने उठाया है । उन्होंने जासूसी उपन्यासों और ऐसी ही अन्य रचनाओं में अद्भुत रस की निष्पत्ति मानी है ।[1] किन्तु इसे भी विद्वानों ने स्वीकार नहीं किया है । डा० बेडेकर का कहना है कि "इस स्थान पर पुनः प्राचीन रस व्यवस्था में अद्भुत और आधुनिक कला में अद्भुत की भिन्नता स्पष्ट है । पो की भीषण अद्भुत कथाएँ अथवा केरोल की 'आलिस इन वण्डर लैण्ड' जैसी वत्सलरम्य अद्भुत कथाओं को आज का अद्भुत रसात्मक साहित्य चाहें तो कहें परन्तु इनका भरत प्रणीत अद्भुत रस से केवल बादरायण सम्बन्ध है ।[2] अतः ऐसे स्थलों में विस्मयतत्त्व ही प्रायः उपलब्ध होता है । हां, अद्भुत रस की निष्पत्ति को ही लक्ष्य बनाकर उचित संचारी एवं अनुभाव आदि की योजना करके कथासाहित्य लिखा जाये तो वहां अद्भुत रस की निष्पत्ति में किसी को क्या आपत्ति होगी । डा० शारी ने स्वयं माना है कि —"महत् उद्देश्य, महत् अद्भुत विचित्र घटना या व्यापार तथा कवि कर्म कौशल तीनों के संयोग से परम उदात्त अद्भुत रस की सिद्धि करता है ।[3] वस्तुतः अद्भुत की उत्पत्ति अलौकिकता में ही होती है । क्योंकि अद्भुत रस की सृष्टि में केवल अद्भुत व्यक्ति या कार्य का वर्णन ही पर्याप्त नहीं होता । रूपकातिशयोक्ति आदि अलंकारों के द्वारा शृंगार आदि के आलंबन आदि अद्भुत प्रतीत होने लगते हैं तो वहां विस्मय को संचारीमात्र मानना चाहिए । किसी

---

1. पाश्चात्य जासूसी उपन्यासों में अद्भुत कौतूहल तत्त्व रहता है अतः उनमें अद्भुत रस का सुन्दर परिपाक रहता है, ऐसा अद्भुत रसप्रधान कथा साहित्य आज प्रचुर मात्रा में रचा जा रहा है ।
   — रस सिद्धान्त और घृणा भाव का मनोवैज्ञानिक विवेचन,
   डा० कृष्णदेव शारी, पृ० 495.
2. वि०के०बेडेकर, रस सिद्धान्त स्वरूप: आलोचना (पत्रिका). 1-4-1952 पृ० 81-82.
3. डा० शारी, वही, पृ० 495.

मनुष्य का अद्भुत कार्य, व्यक्तित्व विस्मय भाव उत्पन्न कर सकता है, रस दशा नहीं, क्योंकि जब तक किसी की असाधारण शक्ति बल व्यक्तित्व आदि का उपयोग लोकमंगल के लिए न हो तब तक वहाँ या तो भय का तत्व प्रभावी हो जायेगा या बाल कौतुक दिखायी पड़ेगा । कौतुकपूर्ण कार्यों में एवं ऐन्द्रजालिक व्यापारों में अद्भुत रस नहीं अपितु स्खलन होता है ।

सप्तम अध्याय

अद्भुत रस की आनुषंगिक सामग्री

अद्भुत रस की उत्पत्ति, वर्ण एवं देवता की परिकल्पना

उत्पत्ति :

शारदातनय के अनुसार रसों के विषय में चर्चा करते समय उसके स्वरूप, उसकी उत्पत्ति, उसके नामकरण का कारण, उसके भेद तथा भेदों के स्वरूप, उसके देवता तथा उसकी वर्ण कल्पना पर विचार करना चाहिए ।[1] अतः अद्भुत रस की चर्चा के प्रसंग में सर्वप्रथम उत्पत्ति का विवेचन प्रस्तुत है ।

भरतमुनि ने नामशः परिगणित रसों के सामान्य लक्षण का निर्वचन कर लेने के उपरान्त उनके विशेष लक्षण के पूरक के रूप में उत्पत्ति आदि की व्याख्या का आरम्भ करते हुए कहा है कि —

उनमें से चार रस (शेष रसों की) उत्पत्ति के हेतु (सूचक) होते हैं । जैसे कि शृंगार, रौद्र, वीर तथा वीभत्स । इनमें से शृंगार से हास्य की, रौद्र से करुण की, वीर से अद्भुत की तथा भयानक से वीभत्स की उत्पत्ति होती है ।[2] शृंगार का जो अनुकरण है, वह हास्यरस कहलाता है तथा रौद्र का जो

---

1. 'शृंगारादि रसानां च स्वरूपं नाम जन्मनी ।
तद्विकल्पाश्च तद्रूपं तद्दैवं वर्ण कल्पना ।।' भावप्रकाशम् अधि02, पृ0 69, पंक्ति 5-6.

2. तेषामुत्पत्ति हेतवश्चत्वारो रसाः । तद्यथा- शृंगारो, रौद्रो वीरो वीभत्स इति । अत्र-
शृंगाराद्धि भवेद्धास्यो रौद्रोच्च करुणो रसः ।
वीराच्चैवाद्भुतोत्पत्तिर्वीभत्साच्च भयानकः ।।
— ना0शा0, 6/32.

कर्म है वह करुण रस माना जाता है ।[1] वीर रस का भी कर्म अद्भुत रस कहा जाता है, और जहां वीभत्स का दर्शन होता है, उसे भयानक रस समझना चाहिए ।[2]

उपर्युक्त सूत्रों के आधार पर भरत के अनुसार रस के द्वारा रसान्तर के आक्षेप की तीन स्थितियां बनती हैं :—

(1) अनुकृति के द्वारा : चूंकि अनुकृति वास्तविकता है, को आभास देती हुई भी वास्तविकता से दूर होती है । अतः किसी भी रस की अनुकृति रसान्तर को उत्पन्न कर देती है । चूंकि अनुकृति विडम्बना मात्र है, अतः शृंगार की अनुकृति से हास्य की सृष्टि होगी । इसे दृष्टान्त मात्र समझना चाहिए ।

(2) कार्य का फल के रूप में :— एक रस का कार्य सम्पन्न हो जाने पर वातावरण के अनुसार दूसरे रस के उदय की भूमिका अनायास ही बन जाती है । रौद्र के कार्य (वध-बन्धादि के अनन्तर वातावरण का कारुणिक हो जाना अथवा वीभत्स के फल के रूप में अद्भुत का आवेश सहृदयों के लिए अपरिचित नहीं है ।

(3) दर्शन के द्वारा :— समान विभावादि के कारण जहां एक रस का दर्शन होता है, वहीं अनुसारी परिणाम के रूप में दूसरा रस भी स्वतः उपस्थित हो जाता है । उदाहरणार्थ- जिन वस्तुओं का दर्शन मन में जुगुप्सा अथवा घृणा का

---

1. शृंगारानुकृतिर्या तु स हास्यस्तु प्रकीर्तितः ।
रौद्रस्यैव च यत्कर्म स ज्ञेयः करुणोरसः ।। —ना०शा० 6/33, पृ० 526.

2.(क) वीरस्यापि च यत्कर्म सोऽद्भुतः परिकीर्तितः ।
वीभत्स दर्शनं यत्र ज्ञेयः स तु भयानकः ।।—वही, 6/34, पृ० 528.

(ख) वीरस्य कर्म यद्धीरैः सोऽद्भुतः परिकीर्तितः
— भावप्रकाशनम् शारदातनय, अधि० 2, पृ० 55, पं० 7.

भाव तथा बीभत्स की सृष्टि करने में समर्थ होता है, उसीसे भय की भी प्रतीति होती है।

इन्हीं श्लोकों का भाष्य करते हुए आचार्य अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती में उत्पत्ति के हेतु (ज्ञापक) चार प्रकार के बतलाए हैं, जो क्रमशः इस प्रकार हैं —

(1) तदाभास रूप से अथवा तदनुकृति रूप से —

इसका उदाहरण शृंगार से हास्य की उत्पत्ति है। विभावाभास, अनुभावाभास, व्यभिचार्याभास के द्वारा रत्याभास के प्रतीत होने पर (रति का वास्तविक परिपाक न होने पर) जो केवल वर्णनाभास मात्र होता है, वह शृंगाराभास कहा जाता है। उस शृंगाराभास की वर्णना में रति की कामना या अभिलाषामात्र होती है जो यहाँ स्थायिभाव न होकर व्यभिचारिभाव मात्र है, किन्तु भावक को यह स्थायिभाव के समान प्रतीत होता है, उदाहरणार्थ — 'दूराकर्षणमोहमन्त्र' इत्यादि श्लोक में[1] रावण की सीता विषयक रति रत्याभास मात्र है। कारण यह है कि परस्त्री विषयक अथवा अननुकूल स्त्री विषयक रति को रत्याभास माना गया है। स्पष्ट ही सीता रावण के प्रति द्वेषयुक्त या उपेक्षायुक्त है अनुरागवती नहीं। फलतः रावण का यह समझना कि यह मेरे प्रति अनुकूल है, केवल कामजन्य मोह ही है। ऐसी स्थिति में सीप में चाँदी के आभास की भाँति अ-रति में रति की प्रतीति रत्याभास है। अतएव रावण का अनौचित्य प्रवृत्त अनुराग एवं तदनुकूल चिंतादि व्यभिचारी एवं स्वप्न-प्रलयादि अनुभाव सामाजिक के लिए हास्य के विभाव बन जाते हैं।[2]

---

1. इत्यादौ रावणवाक्ये तावत् रत्याभासतैव। न तु हासः स्फुटति।
— अभिनव भारती, 6/32, पृ० 519.

2. तथापि सीतालक्षणविभाव-रावणवयः प्रकृतिविरुद्धं च चिन्ता-दैन्य-मोहादिको व्यभिचारिगणः, अश्रुपात-परिदेवितादि चानुभावजातमनौचित्यात्तदाभासरूपं सद्धास्यविभावरूपम्। — वही, पृ० 519.

अतः निष्कर्ष यह कि अनौचित्य प्रवृत्ति के कारण ही कोई व्यक्ति हास्यास्पद बनता है । यह अनौचित्य सभी रसों के विभाव अनुभाव आदि में हो सकता है । व्यभिचारिभावों का भी यही हाल है । अतः करुणाभास आदि सभी रसाभासों में हास्यत्व को मानना चाहिए । इस प्रकार तदाकार रूप में रसान्तरोत्पत्ति का प्रकार सूचित किया गया । शृंगार उसका उपलक्षणमात्र है ।[1]

(2) जिसके फल के अनन्तर दूसरे रस की उत्पत्ति अवश्यम्भावी हो —

इसका उदाहरण रौद्ररस है । रौद्र का फलरूप-वध इत्यादि होता है, उन्हीं वध-बन्धादि को विभाव (आलम्बन-उद्दीपन) मान लेने पर करुणरस अवश्यंभावी हो जाता है । (रौद्र के फलस्वरूप जिसका वधादि होता है, उसके सम्बन्धियों में करुण रस की उत्पत्ति अनिवार्य है) इसी प्रकार रौद्र के अनन्तर नियमतः भयानक रस होता है (घातादरूप भयानक हो जाता है) शृंगार के बाद (दोनों में से किसी एक की मृत्यु पर अथवा भ्रान्तिवश मृत्त समझ लेने पर नियम से करुण रस होता है । इसी क्रम में वीर से भयानक तथा बीभत्स से भयानक की उत्पत्ति भी सिद्ध होती है ।[2]

---

1. 'तेन करुणाद्याभासेष्वपि हास्यत्वं सर्वेषु मन्तव्यम् । अनौचित्य-प्रवृत्ति कृतमेव हास्यविभावत्वम् । तच्चानौचित्यं सर्वरसानाम् विभावानुभावाभासाश्रयेत । तेन व्यभिचारिणामप्येवमेव वार्ता । —अभिनवभारती, पृ० 519.

2. 'यदीयफलानन्तरम् द्वितीयो रसोऽवश्यम्भावी तस्योत्पादकं रौद्रः ।रौद्रस्य हि फलं वधबन्धादि । तद्विभावत्वेनावश्यं करुणेन भाव्यम् ।××× एवं रौद्रानन्तरं नियमेन भयानकः शृंगारानन्तरं नियमेन करुणः ।××× एवं वीराद् भयानकोत्पत्तिः ।'

— हिन्दी अ०भा०, पृ० 521 तथा 523.

(3) जो रस दूसरे रस को फल के रूप में मान कर प्रवृत्त होता है —

इसका उदाहरण वीररस है क्योंकि महापुरुषों का उत्साह (वीररस का स्थायी) जगत को विस्मय विमुग्ध कर देने को ही फल मान कर प्रवृत्त होता है । फलतः वीर से अद्भुत रस की उत्पत्ति होती है ।[1]

उदाहरण के लिए 'महावीर चरित' में लक्ष्मण के विस्मय का यह अभिव्यंजन देखिये :—

(रामचन्द्र के) भुजदण्ड द्वारा खींचे गये शिवधनुष (पिनाक) के दण्ड के खण्ड खण्ड होने से उत्पन्न, बालक राम के बालचरित की प्रस्तावना का डिंडिम घोष करने वाला तथा धनुष के टूटने के साथ ही बिखर कर पुनः मिले हुए कपाल संपुटों के समान (अत्यन्त संकीर्ण) ब्रह्माण्ड रूपी भाण्ड में चक्कर काटने के कारण बढ़ी हुई उग्रता वाला यह धनुष्टंकार अब तक भी शान्त नहीं हो पा रहा है । यह कितने आश्चर्य की बात है । यहां वीररस के फल के रूप में अद्भुत रस है । लोक विस्मापक वीर के लोकोत्तर कर्मादि से अद्भुतावेश उचित ही है ।

रौद्ररस तो दूसरे के नाश को ही फल मानकर प्रवृत्त होता है, करुण को नहीं (इसलिए वह इस श्रेणी में नहीं गिना जा सकता है । यह विशेष समझना चाहिए । विदूषक का हास तो नायिका के हास को फल मानता है अतः वहां हास्य ही होता है रसान्तर नहीं ।[2]

---

1. 'यस्तु रसो रसान्तरं फलत्वेनाभिसन्धाय प्रवर्तते तस्योदाहरणं वीरः । महापुरुषोत्साहो हि जगद्विस्मयफलाभिसन्धानेनैव । यथा — दोर्दण्डाचितचन्द्रशेखर धनुर्दण्डावभंगोद्यत (वीर चरिते — 2-54) इत्यादि ।' — अभिनव भारती, 6/32, पृ० 525.

2. हिन्दी अभिनव भारती, पृ० 525.

(4) जो रस समान विभाव वाला होने से नियमतः दूसरे रस का आक्षेप कराता है—

इसका उदाहरण वीभत्स है । उसके जो पीप आदि विभाव है वे अवश्य ही भय के हेतु (भयानक रस के विभाव) हैं । इसलिए उसके मरण मोह आदि व्यभिचारी एवं मुख सिकोड़ना आदि अनुभाव भयानक रस के भी व्यभिचारी भाव एवं अनुभाव होते हैं । जैसे वेणीसंहार में — "घोर रथे दुःशासन के पीने से बचे हुए रक्त को शरीर में मलने से भयंकर दिखायी देने वाले भीम को देखकर भगदड़ के घोर जिनके अस्त्र गिर जा रहे हैं इस प्रकार की रणभूमि से भागती हुई सेनाओं को रोको ।"[1] यहाँ स्पष्ट ही पीपसंदिग्ध भीम की आकृति भय के उत्पादन में अधिक समर्थ है ।

उपर्युक्त विवेचन की मीमांसा करने के पूर्व यह ध्यान रखना आवश्यक है कि भरत की दृष्टि मूलतः अभिनय व्यापार की ओर थी, अतः उन्होंने शृंगार से हास्य की सृष्टि का दृष्टान्त देकर बताया कि अनौचित्यप्रवृत्ति किसी भी रस को हास्य में परिणत कर सकती है । अतः कवि को प्रबन्धरचना के समय तथा अभिनेता को अभिनय काल में यथोचित रस निर्वाह के प्रति सावधान रहना चाहिए अन्यथा अंगीरस के हास्य रस में परिणत होकर विकृत हो जाने का भय है । यहाँ यह संकेत भी सुलभ ही प्राप्त होता है कि किसी भी रस को, यहाँ तक कि करुण को भी, हास्य में परिणत करने के लिए अभिनेयवान रस की अनुकृति (भयोल) प्रस्तुत कर देनी चाहिए ।

---

1. 'यत्तु रसस्तुल्यविभावत्वान्नियमेन रसान्तरं हि परमाक्षिपति तस्योदाहरणं बीभत्सः । तस्य हि ये भावा पीवरादयस्तेऽवश्यं भयहेतवः । तथा तद्व्यभिचारिणो मरणमोहापस्मारादयाः तदनुभावास्तु मुखविकूणनादयः । यथा वेणीसंहारे — "संलक्ष्यन्ते निरस्तद्युः शासनपीतशेषपीवरितलक्षित-बीभत्सवपुषोदरदर्शनैकव्यसनिनस्तस्य रणानि रभसादिच्छन्ति पलायितानि ।" इति ।

— अभिनव भारती, पृ० 526.

रौद्र से फल रस रूप दूसरे दृष्टान्त के द्वारा इस तथ्य पर प्रकाश डाला गया है, कि किस रस के बाद नियमतः अनुसारी परिणाम के रूप में कौन सा रस आ सकता है । रूपक में चल रहे एक रस के प्रवाह को यदि रूपककार बदलना चाहता है, तो उसे मनमाने ढंग से किसी रस के बाद कोई 'रस नहीं प्रस्तुत कर देना चाहिए जैसा कि फारसी थियेटर कम्पनियों या उन्हीं की सरणि से मंचन करने वालों में देखा जाता है । ये लोग तो हर घटना के बाद यहाँ तक कि मृत्यु के बाद भी प्रहसन अथवा संगीत-नृत्य का आयोजन कर देते हैं ।

अतः यदि एक रस अपनी चरम दिशा में पहुँच गया है तो उसके बाद उस रस के अनुसारी परिणाम को ध्यान में रख कर ही दूसरे रस का विधान करना चाहिए ।

दूसरे रस को फल के रूप में मानकर प्रवृत्त होने वाला तीसरा वर्गीकरण वीर से अद्भुत की उत्पत्ति के दृष्टान्त को लेकर प्रवृत्त हुआ है । अव्यवहित फल के रूप में दूसरे रस का आक्षेप कराने में अद्भुत रस का आक्षेपयोगी वीररस है । अभिनव ने 'परिकीर्तितः' की विशेष प्रकार की हेतुपरक व्याख्या करते हुए लिखा है कि — परितः सकलतात् सब ओर से जो कीर्ति (यश, प्रताप आदि रूप कीर्ति) उसके कारण उत्पन्न (अर्थात् वीररस से महापुरुषों की यश प्रताप आदि रूप कीर्ति सब ओर फैलती है और वह जगत के विस्मय का कारण होती है) वीर का अव्यवहित फल कभी-कभी शृंगार भी होता है । यह बात इस प्रकार कही गयी है कि — कारिका में आये हुए 'वीरस्यापि' में 'अपि' शब्द के बल से शृंगार भी वीर का आक्षेपयोगी फल है जैसे द्रौपदी स्वयंवर आदि में ।[1] इसी प्रकार दूसरे रसों में भी समझ लेना चाहिए।

---

1. 'वीरस्यापि च यत्कर्म सो ऽद्भुतः परिकीर्तितः' — ना०शा० 6/34. समनन्तरफलत्वेन रसान्तराक्षेपे उदाहरणं स्वव्यापारान्तरयोगी वीरः, 'वीरस्यापीति' वीरस्य शब्दाद् निकटे यत्कर्म सोऽद्भुतः । परितः सकलतात् या कीर्तिः यशः प्रतापरूपा ततो हेतोः । अपिशब्दात् शृंगारोऽपि वीरस्यानन्तरं फलं द्रौपदी-स्वयम्वरादौ ।" — अभिनव भारती, पृ० 528.

चौथे प्रकार की उत्पत्ति का उद्देश्य विभाव की तुलना के आधार पर दूसरे रस के आक्षेप से है । जो वीभत्स रस का विभाव है, वही भयानक का भी विभाव बन सकता है और भयानक का आक्षेप कर सकता विशेषतः युद्ध के वातावरण में तो वीभत्स-दर्शन से निश्चय ही भय का जन्म होता है ।[1]

अतएव प्रसंग का समाहार करते हुए अभिनवगुप्त ने लिखा है कि — "वे ही (चार) सौन्दर्यातिशय के जनन रूप है । रञ्जकाभास (रसाभास) आदि (उन रसों) के अनुगामी रूप में रूपकों में समाविष्ट किये जा सकते हैं ।"[2] स्पष्ट है कि यह उत्पत्ति सम्बन्धी सारा विचार रूपक निर्माण तथा रूपकाभिनय से सम्बद्ध है न कि मात्र जन्यजनकभाव से ।[3] 'रत्नावली नाटिका' के एक श्लोक —

दृशः पृथुतरीकृता जित निजाब्जपन्नत्विष-
श्चतुर्भिरपि साधु साध्विति मुखैः समं व्याहृतम् ।
शिरांसि चलितानि विस्मयवशाद् ध्रुवं वेधसो
विधाय ललनां जगत् त्रयललाम भूताभिमाम् ।।'

(अंक 2, श्लोक 16—रत्नावली नाटिका)

(त्रिभुवन की ललामभूता इस ललना को बनाकर विधाता की विस्मयवश निश्चय ही अपने (आसनभूत अथवा जन्मदायक) पद्मपत्रों की कान्ति को जीतनेवाली आँखें फैल

---

1. 'सहभावेन रसान्तराक्षेपे वीभत्स उदाहरणम् । यदेव वीभत्सस्य दर्शनं विभावादि रूपं स एव भयानकस्तद्विभावत्वात् ।' — अभिनव भारती, पृ0529.
2. 'हिन्दी अभिनव भारती, पृ0 529.
3. 'दशरूपक' में भी कार्य-कारणभाव (जन्य-जनकभाव) का निषेध करके संभेद की दृष्टि से हेतु-हेतुमद्भाव स्वीकार किया गया है क्योंकि उनमें एक सी चित्तभूमियाँ पाई जाती हैं । (हेतु-हेतुमद्भाव एव संभेदापेक्षयादर्शितो न कार्य-कारणभावाभिप्रायेण तेषां कारणान्तरजन्यत्वात्)। धनिक 4/44 की वृत्ति ।

गई होंगी । चारों मुखों से एक साथ वाह ! वाह ! करने लगे होंगे तथा उनके सिर हिलने लगे होंगे ।) के आधार पर शंकुक आदि प्राचीन आचार्यों ने शृंगार से अद्भुत रस की उत्पत्ति मानी है। प्रसंगानुसार कदलीवन में सागरिका कुमारी को देखकर विदूषक ने उदयन के सम्मुख उसके लोकोत्तर सौन्दर्य की प्रशंसा की, जिसे सुनकर उदयन उस मुग्ध बोधा की ओर आकृष्ट हुआ और चकित होकर उस मोहक सौंदर्य का वर्णन करने लगा । वस्तुस्थिति यह है कि उस अनिर्वचनीय सौंदर्य की लोकोत्तरता, अभिनवता आदि से अभिभूत उदयन अपने ही विस्मयावेश को स्रष्टा ब्रह्मा के माध्यम से व्यक्त कर रहा है । यह विस्मय ही उस आकर्षण का मूल बिन्दु है जो कालान्तर में उदयन में रतिभाव के रूप में परिणत हुआ ।

श्लोक की स्पष्ट ध्वनि यह है कि जब निर्माता ब्रह्मा स्वयं निर्माण समकाल में इस लोकोत्तर सौंदर्य के प्रति विस्मय विमुग्ध हो गये एवं प्रशंसा करके झुक उठे तो फिर इस पराकाष्ठा प्राप्त सौंदर्य से मुग्ध जैसे प्रणयी का विस्मयाभिभूत होना कौन सी बड़ी बात है ?

अतः यहाँ 'शृंगार (पूर्वराग) के अनन्तर अद्भुत की उत्पत्ति हुई है' शंकुक का यह कथन अंशतः सत्य है किन्तु अद्भुत यहाँ संचारी रूप में शृंगार के पोषण में सहायक होता है । चमत्कारी सौन्दर्य दर्शन जन्य विस्मय आश्रय के वैशिष्ट्य से तीव्र आकर्षण में बदलता हुआ रतिभाव को भक्तिष्ठा राग में परिणत कर देता है ।

शंकुक के मत का खण्डन करते हुए अभिनवगुप्त ने पहले आश्रयभेद की बात की है, फिर कालभेद की ।[1]

---

1. 'या त्वत्र शृंगारादद्भुतोत्पत्तेरारभ्य 'दृष्टः पृथुतरीकृता' (रत्नावली, 2-15) इत्यादौ सा निर्मूलैव । उदयने हि शृंगारो ब्रह्मणि विस्मयसम्भावना । सा च न तात्कालिकत्वेन नोत्तरकालिकत्वेन । किन्तु पूर्वतरमेवेति न किंचिदेतत् । — हिन्दी अभिनवभारती, पृ० 527.

कहने की आवश्यकता नहीं यहां अभिनवगुप्त ने खण्डन के अभिनिवेश से ही खण्डन किया है । युक्तिपूर्ण सुविचारित तर्क के आधार पर नहीं । श्लोक में प्रयुक्त उद्वेजा का वाचक शब्द 'शुचं' संभावना का सूचक है । अतः यहां ब्रह्मा का विस्मय उदयन द्वारा उद्वेजित है। ऐसी दशा में आश्रय भेद की चर्चा की आवश्यकता ही कहां रह जाती है । वस्तुतः एक ही आश्रय (उदयन) में शृंगार और विस्मय दोनों हैं । इसी प्रकार आश्रय भेद के आधार पर पूर्वकालिक विस्मय के उत्पाद्य तथा उत्तरकालिक शृंगार के उत्पादक होने की असंगति का उल्लेख स्वतः निरस्त हो जाता है ।

डा० शारी ने 'आचार्यों का रस दृष्टि दोष' दिखाने के अभिनिवेश में अनेक असंगत आक्षेप लगाये हैं । उनका विचार है कि शृंगार से अद्भुत की विशिष्ट स्वीकार करके 'भट्टनायक ने तो भूल की ही थी अभिनवगुप्त आचार्य के सामने भी कवि या सहृदय की अनुभूति का विचार नहीं रहा ।'[1] अन्यथा 'आचार्य अभिनवगुप्त को पूर्वकाल और उत्तरकाल की सफाई देने की आवश्यकता ही न पड़ती ।'[2]

पता नहीं डा० शारी यह क्यों भूल जाते हैं कि यहां प्रश्न साक्षात्कार का नहीं है कि सहृदय की दृष्टि से विचार किया जाय । यहां तो नाट्य रस की चर्चा है । नाटक में कवि को अपने व्यक्तित्व को नाटकीय पात्रों में ही समाविष्ट कर देना पड़ता है । उसकी समस्त अनुभूति आदि की अभिव्यक्ति किसी पात्र के माध्यम से ही संभव है। सहृदय को भी साधारणीकरण व्यापार द्वारा कवि अनुभूत नाटकीय पात्रों या व्यापारों से तादात्म्य स्थापित करना पड़ता है । ऐसी दशा में कवि या सहृदय नाट्य व्यापार में ही समाविष्ट होते हैं और हो जाते हैं नाट्य पात्रों के साथ समर्पित व्यक्तित्व । अतः उनका यह कथन कि "हम समझते हैं कि यदि श्लोक में

---

1. रस-निष्पत्ति और वैशेषिक रस का भारतीय विवेचन । डा०कृष्णदेव शारी, पृ० 53.
2. वही, पृ० 54.

सौन्दर्य दर्शन से उदयन को भी विस्मयानुभूति का वर्णन होता । तो भी पाठक-दर्शक विस्मय का भाव न ग्रहण करता ।"[1] एक विचित्र समझ का विचित्र निर्णय है । वस्तुस्थिति यह है कि विस्मय उदयन में ही है और साधारणीकृत पाठक या दर्शक उससे अभिभूत होने के लिए विवश है । यदि दर्शक पात्रों की अनुभूति में न डूब सका तो यह सहृदय नहीं है अथवा नाट्य रचना किंवा अभिनय दोष पूर्ण है । अतः सहृदय के विचार से अद्भुत रस की उत्पत्ति के खण्डन का अध्यवसाय हास्यास्पद ही है ।

डा० आरी को इस बात का कष्ट हुआ कि 'शृंगार ही नहीं सब रसों का विषय अनौचित्य पूर्ण होने पर हास्योत्पादक हो सकता है इस तथ्य को मानते हुए भी अभिनव गुप्त ने स्पष्ट शब्दों में भरतमुनि का खण्डन नहीं किया है बल्कि भरत के उक्त सूत्र का समर्थन ही किया ।"[2] अतः उन्होंने स्वयं खण्डन का बीड़ा उठाया और 'दोषोऽप्यविदुषामेव तत्त्विदस्तानां प्रकाशते' के अनुसार ग्रन्थ का स्वारस्य समझे बिना ही अनेक आक्षेप प्रस्तुत कर दिये हैं । मैं यह नहीं कह सकता कि 'यदा वाक्यं प्रमाणम्' मानकर उचित अनुचित सबको स्वीकार कर लिया जाय किन्तु यथासंभव वक्ता के उद्देश्य के अनुसार ग्रन्थ की संगति लगाने में प्रतिभा का सदुपयोग किया जाना चाहिए । यदि कथमपि संगति नहीं बैठती तो अवश्य विरोध किया जाय इससे व्यक्ति प्रतिष्ठित होता है तथा ज्ञान का क्षेत्र विकसित होता है, किन्तु तलस्पर्शी किये बिना मात्र आक्षेप विद्वज्जनों की अवज्ञा का कारण होता है ।

दशरूपककार ने रसास्वाद काल में चित्त की चार दशाओं का उल्लेख किया है – विस्तार, विस्तार, विक्षोभ तथा विक्षेप । ये ही दशाएँ क्रमशः शृंगार, वीर,

---

2. रसनिष्पत्ति और वीभत्स रस का शास्त्रीय विवेचन, कृष्णदेव आरी, पृ054.
2. वही, पृ० 48.

वीभत्स और रौद्र रसों में प्राप्त होती है तथा ये ही अवस्थायें क्रमशः हास्य, अद्भुत, भय एवं करुण में भी दृष्टिगोचर होती है ।[1] इनका विवरण यों समझना चाहिए —

रसास्वाद काल में सहृदयक चित्त दशा

विकास	विस्तार	विक्षोभ	विक्षेप
शृंगार	वीर	वीभत्स	रौद्र
हास्य	अद्भुत	भयानक	करुण

भाव प्रकाशन ने पौराणिक उत्पत्ति का उल्लेख इस प्रकार किया है । रस स्वयं भगवान शिव है । उन्होंने जब त्रिपुर दाह किया तब सभी रस उत्पन्न हुए । यहाँ उनकी अनन्य सामान्य लोकोत्तर वीरता से ही अद्भुत की उत्पत्ति हुई । विवरण इस प्रकार है :—

त्रिपुर ने लोहे, सोने और चाँदी के तीन पुर बनाये थे उनमें से एक-एक की रक्षा के लिए तपस्वी असुरों की तथा सैनिकों की अपार संख्या स्थापित की थी, किन्तु कामदेव को भस्म करने वाले भगवान शंकर ने (लीलापूर्वक) जगदीश्वरों की ओर तिरछी चितवन से देखते हुए तथा मुस्कराते हुए एवं असंख्य असुरों की बाण वर्षा को झेलते हुए अकेले ही एक बाण से भस्म कर दिया । उस समय इस घटना से लोगों को महान आश्चर्य हुआ । अतएव वीर से अद्भुत की उत्पत्ति होती है,

---

1. "स्वादः काव्यार्थ सम्भेदादात्मानन्द समुद्भवः ।
विकास विस्तर क्षोभ विक्षेपैः सचतुर्विधः ।।
शृंगार वीर वीभत्स रौद्रेषु मनसः क्रमात् ।
हास्याद्भुतभयोत्पत्तिकरुणानां तदत्र हि ।।
— दशरूपक 4/43-44.

ऐसा कहा जाता है ।[1]

अहंकार जब इन्द्रियों द्वारा बाह्य पदार्थ एवं वातावरण के संपर्क में आता है तब सत्व, रज, तम इन तीन गुणों के अनुकूल जिस गुण से अभिभूत होता है उसीके अनुकूल रसाभिव्यक्ति होती है, इसका उल्लेख करते हुए भारतातनय का कथन है कि अहंकार, रजोगुण एवं सतोगुण युक्त मन जब बाह्य अर्थों से सम्बद्ध होता है तो जो विकार उत्पन्न होता है, उसे वीर कहते हैं । उसी रज अहंकार से रहित, सत अहंकार से अद्भुत की उत्पत्ति होती है ।[2] अतएव अन्य आलंकारिकों ने भी अद्भुत को सत्वप्रधान बतलाया है । वीररस में सक्रियता होती है अतः जहाँ रजोगुण सक्रिय होता है किन्तु अद्भुत अपेक्षाकृत स्थिर एवं शान्तभाव है अतः सत्व की प्रधानता उचित है । वैसे अद्भुत में तीनों की उपस्थिति भी मानी गयी है जिसका विवेचन वर्गीकरण में किया जायेगा ।

---

1. पुरापित्रोर्णिबटितान्ययोरुत्त कांचनैः ।
   एकैकस्य तु रक्षार्थमसुराणां तपस्विनाम् ।।
   कोट्यः शतसहस्राणि स्थापितानि ततस्ततः ।
   द्विगुणोत्तरवद्धानि बलान्यासन्बलानि च ।।
   अभिवक्रामसितापाङ्गीमपाङ्गेनावलोक्यन् ।
   विसृजन्शरवर्षाणि क्षयमानः स्मरान्तकः ।।
   क्षेत्रणैकेन तान्येको वज्रसादकरोद्यदा ।
   तदासमस्त भूतानामद्भुतं यदभूत्परम् ।।
   तस्माद्दद्भुत निष्पत्तिर्वीरदेवेति कथ्यते ।।
   — भावप्रकाशन—शारदातनय, अधिकरण 3, पृ० 57, पं० 16-20 तथा पृ० 58 पं० 1—2.

2. अहंकारः रजः सत्व युक्ताद्बाह्यार्थ संगतात् ।
   मनसो यो विकारस्तु सवीरउति कथ्यते ।।
   तस्मादेवाद्भुतो जातो रजो हंकार वर्जितात् ।
   — भावप्रकाशन, शारदा तनय, अधि० 2, पृ० 47, पंक्ति 16-18.

इस प्रकार उत्पत्ति के सभी सिद्धान्त अद्भुत को वीररसजन्य मानते हैं । हां, सात्विक अहंकार से उत्पत्ति तथा विस्तार रूप चित्त दशा का विवेचन अद्भुत के मनोवैज्ञानिक स्वरूप के उद्घाटन में भी समर्थ है ।

वर्ण :

भरत के नाट्यशास्त्र[1] के अनुसार अद्भुत रस का वर्ण पीत है । साहित्य-दर्पणकार ने भी 'पीतवर्णः'[2] ही कहा है । अमरचन्द्र यति ने भी 'पीतवर्ण'[3] ही स्वीकार किया है । इसी परंपरा में हिन्दी के आचार्यों ने भी बहुतम से 'पीतवर्ण'[4] ही माना है । केवल सोमनाथ ने 'गौरवर्ण'[5] कहा है जबकि नाट्य-शास्त्र में 'गौरवर्ण' वीररस का बताया गया है ।[6] इसी प्रकार डा०रामदत्त भारद्वाज

---

1. 'पीतश्चैवाद्भुतः स्मृतः' ना०शा० 6/43 तथा 'स्वच्छपीतौशमाद्भुतौ' ना०शा०, वही पाठान्तर ।
2. साहित्यदर्पण, 3/243.
3. काव्यकल्पलतावृत्ति प्रतान 4, स्तवक 2, पृ० 117-122.
4. (क) 'पीतबरन वपुमानि'—केशव, रसिकप्रिया, 14/33.
   (ख) बैजनाथ, रामरहस्य (हस्तलिखित) 1/28, हिन्दी अनुशीलन, अमरनाथ सिन्हा, पृ० 7 से उद्धृत ।
   (ग) चिन्तामणि : कविकल्पतरु 8/138.
   (घ) पीत बरन अरु देवता ब्रह्म चित्त में ल्याय' रसप्रबोध, रसलीन, पृ० 134.
   (ङ) 'बरन बखानत पीत'— जगद्विनोद पद्माकर, 719.
   (च) पीत रंग अरु मनमथ, तासु देव कहि देव — बेनीप्रवीन, नवरसतरंग, दो०527.
   (छ) रंग बखानत पीत । काव्यप्रभाकर, जगन्नाथप्रसाद भानु, पृ० 436.
5. 'गौर बरन अद्भुत रस भाखा' —रसपीयूष निधि, 8/48-50.
6. 'गौरो वीरस्तु विज्ञेयः' ना०शा०, 6/43.

ने बिना किसी प्रमाण उपपत्ति या उक्ति के अद्भुत रस का वर्ण 'स्वर्णिम'[1] सिद्ध किया है और पीतवर्ण वाला रस का बतलाया है ।[2] जबकि साहित्यदर्पण में वीररस को 'स्वर्णवर्णः'[3] कहा गया है । हरिभक्ति रसामृत सिन्धु में इसे 'पिंगलवर्ण'[4] माना गया है । अमृतानन्द योगी ने भी अद्भुत को कनकच्छाय (स्वर्णिम) कहा है ।[5] जो भारद्वाज के लिए प्रमाण हो सकता है, इस प्रकार अद्भुत रस की वर्ण व्यवस्था में चार वर्णों की चर्चा मिलती है — (अ) पीत, (ब) श्वेत, (स) स्वर्णिम तथा (द) पिंगल । स्पष्ट होकि पीत वर्ण बहुमत से मान्य है और जैसा कि आगे स्पष्ट होगा अद्भुत रस का वर्ण पीत ही होना भी चाहिए ।

सम्भवतः डा० भारद्वाज ने पीतवर्ण को हल्दी के समान पीत मानकर ही उसे स्वर्णिम कहना चाहा है । वस्तुतः यहाँ पीत वर्ण को सूर्यादि के प्रकाश के समान मानना चाहिए । पीत वर्ण प्रकाश का स्वरूप है जैसे प्रकाश आँखों को चौंधिया देता है, उसी प्रकार अद्भुत भी चमत्कृत कर देता है । सामान्यतया व्यवहार में भी हम देखते हैं कि केवल दो ही रंग ऐसे हैं जिनमें सबसे अधिक तड़प होती है — वे हैं — लाल तथा पीला । लाल वर्ण उद्वेगी होता है, जबकि पीत शांति-दायक । पिंगल या स्वर्णिम का संकेत केसरिया रंग से है, जो प्रेरित वीरता एवं त्याग का प्रतीक है । वैष्णव आचार्यों ने श्रीकृष्ण की प्रेरित वीरता तथा औदार्य को ध्यान में रखकर अद्भुत रस को पिंगल वर्ण कहा है । सोमनाथ के गौर वर्ण में भी

---

1. काव्यशास्त्र की उपेक्षा, पृ० 112.
2. वही, पृ० 112.
3. 'हेमवर्णो यस्य समुदाहृतः'
   — सा०द० 3/232.
4. हरिभक्ति रसामृत सिन्धु, दक्षिण विभाग, लहरी 5, 99/2.
5. 'अद्भुतः कनकच्छायो ब्रह्मा तत्राधि देवता'
   — अलंकार संग्रह, अमृतानन्द योगी 3/62/1, पृ० 21.

ओज और दीप्ति से परिपूर्ण 'रक्तिम मुखाकृति का तारुण्य आरुण्य' संवलित गौर होना चाहिए न कि दूध या चूने जैसा अन्यथा उसे वे 'धवल' या 'सित' कहते ।

ऊपर की चर्चा से इतना स्पष्ट ही है कि वीर और अद्भुत रस के वर्णों में प्रायः व्यत्यय देखने को मिला है । उसका एकमात्र उद्देश्य यह है कि भरत ने वीर से अद्भुत की उत्पत्ति मानी है,[1] और पीत में अरुणाई का सन्निवेश जहां वीर को स्वर्णिम रूप देता है, वहां अद्भुत की भी सृष्टि करता है । वीर में उत्साह की वृत्ति होती है अतः वहां 'पीला पड़ना' अभीष्ट नहीं है । इसलिए वीर को 'स्वर्ण वर्ण' कहा गया । पीत रंग की कल्पना इस तथ्य की ओर भी संकेत करती है कि अद्भुत रस अथवा अद्भुत तत्त्व सभी रसों में अनुस्यूत है । जैसे प्रकाश-सूर्य प्रकाश — में सातों रंगों का मिश्रण उसे पीताभ बना देता है उसी प्रकार सभी रसों के प्रभाव से अद्भुत का पीतवर्ण हो जाना संगत ही है ।

पीला वर्ण भारतीय परम्परा में शुभ एवं सुखद है । शुभ अनुष्ठानों के समय हम पीतवस्त्र धारण करते हैं और इसीलिए विष्णु को पीताम्बर धारण करवाते हैं क्योंकि पीत पवित्रता, लोकमंगल तथा लोक आस्था का प्रतीक है। रसों की वर्ण कल्पना का उद्देश्य बतलाते हुए अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती में कहा[2] है कि रंग पूजा के समय तथा अभिनेय नाटक के अंगीरस की पूजा में ध्यान करने के लिए वर्ण कल्पना उपयोगी होती है । वस्तुतः यह वर्ण-दैवत

---

1. 'वीराच्चैवाद्भुतोत्पत्तिः' — ना०शा० 6/32.

2. 'वर्णविधानं पूजादौ ध्याने उपयोगि । मुखरागे पीत्यन्ये ।'
— अभिनव भारती, 6/66, पृ० 530.

कल्पना आगमानुसारी है । तन्त्रशास्त्र में बगलामुखी की पूजा में पीतपुष्प तथा हरिद्रा की माला का विधान है। और उक्त साधना के फलस्वरूप विरोधी का वाक्कीलन, स्तम्भन, जड़ता आदि की सिद्धि होती है । सम्भव है अद्भुतरस में भी पीतरंग का योग स्तब्ध विमुग्ध एवं चकित कर देने के लिए तान्त्रिक विधि से गृहीत हो ।[1] अन्नपूर्णा की मूर्ति का ध्यान करते समय भी उन्हें 'तप्तस्वर्णनिभा' कहा गया है ।[2] अतः ऐसा प्रतीत होता है कि रूप और सौन्दर्य के जगत में सबसे अधिक प्रभावी रंग होने के कारण पीत को ही गृहीत किया गया है ।

प्राकृतिक दृष्टि से प्रलय के बाद उषा की पहली किरणों में मनु ने जिस अलौकिक चमत्कार का दर्शन किया था वहाँ प्रकृति के भीषण रूप को परास्त करती हुई मंगलमयी उषा का दर्शन आह्लाद जन्य विस्मय था ।[3] वासन्ती परिधान में सजी-धजी प्रकृति की शोभा को देखकर कौन सौन्दर्य भोक्ता विस्मय विमुग्ध नहीं होता ? वस्तुस्थिति यह है कि पीतवर्ण का भोक्तृत्व पक्ष आनन्द भोग है और प्रभावपक्ष आह्लाद ; 'सोहत ओढ़े पीत पट, स्याम सलोने गात'[4] में इसी की व्यंजना है । मनोविज्ञान की दृष्टि से विस्मय का मूलप्रेरक तत्त्व जिज्ञासा मानव की प्रगति एवं विकास का कारण है और प्रगति शुभाकांक्षाओं तथा लोकमंगलकारी भावनाओं पर निर्भर है और पीतवर्ण उसीका प्रतीक है ।

अभिनवगुप्त ने एक दूसरा कारण भी प्रस्तुत किया (उस-उस रस के अभिनय के समय तत्तदनुरूप) मुख के राग (रंगने) में भी उपयोगी होता है ।

---

1. 'लसत्कनकचम्पकद्युतिमदिन्दुबिम्बाननाम्' —बगलामुखी स्तोत्र ।
2. 'तप्तस्वर्णनिभा शशांकमुकुटा रत्नप्रभा भासुरा आदि ।
3. उषा सुनहले तीर बरसती जय लक्ष्मी सी उदित हुई ।
   उधर पराजित काल रात्रि भी जल में अन्तर्निहित हुई ।।
   — कामायनी, आशासर्ग ।
4. बिहारी ।

(ऐसा अन्य व्याख्याताओं का मत है)[1] इस रूप में यह वर्ण कल्पना नेपथ्य-विधान एवं 'मेक अप' की ओर भी संकेत करती है । राजशेखर ने वर्ण कल्पना को भी कवि समय स्वीकार किया है । उनकी दृष्टि में इस प्रकार के गुणों के न होते हुए भी उनका निबन्धन किया गया है । यश आदि की धवलता, अपयश और पाप की कालिमा, क्रोध और अनुराग की लाली आदि सब कवि समय है ।[2]

देवता :

भरत ने अद्भुत का देवता ब्रह्मा को माना है । उसी परंपरा में हिन्दी के बहुसंख्यक आचार्यों ने भी ब्रह्मा को ही देवता स्वीकार किया है ।[3] विश्वनाथ ने उसका देवता गन्धर्व माना है,[4] इसी क्रम में कुछ अन्य आलंकारिकों ने भी 'गन्धर्व दैवत' कहा है ।[5] रीतिकालीन कुछ आचार्यों ने इसका देवता

---

1. अभिनव भारती, हिन्दी व्याख्या, पृ० 530.
2. 'असतोगुणस्य निबन्धनं यथा, यशोहास प्रभृतेः शौक्ल्यम् । अयशसः पाप प्रभृतेश्च कार्ष्ण्यम् । क्रोधानुरागप्रभृतेश्च रक्तत्वम् ।' का०मी० 15, पृ०201.
3. (क) 'अद्भुतो ब्रह्मदैवतः' ना०शा० 6/43.
   (ख) 'केशवदास, रसिकप्रिया, दोहा
   (ग) 'रसलीन : रसप्रबोध, पृ० 134.
   (घ) पद्माकर, जगद्विनोद, 719.
   (ङ) काव्यप्रभाकर, जगन्नाथ प्रसाद भानु, पृ० 436.
4. साहित्यदर्पण, 3/242.
5. अलंकार प्रकाश ~~किन्तु~~ कवि भूषण मुरलीधर : सम्पादक शूर सिंह, पंवार, षष्ठ उल्लास, कवित्त 245, पृ० 43.

कामदेव को माना है ।[1] हरिभक्ति रसामृत सिन्धु में अद्भुत के देवता कूर्मावतार माने गये है ।[2] इस प्रकार दैवत कल्पना में भी मतैक्य नहीं है ।

भरत की व्याख्या करते हुए अभिनवगुप्त ने लिखा है कि (अद्भुत रस का देवता ब्रह्मा को बतलाया गया है क्योंकि) ब्रह्मा अचिन्त्य (जिसकी मनुष्य कल्पना भी नहीं कर सकता इस प्रकार के) आश्चर्यजनक पदार्थों का रचयिता होता है[3] शारदातनय ने इसकी उपपत्ति इस तरह बतलायी है —

नाना शिल्पात्मिका बुद्धि ही अद्भुत का अधिष्ठान है । और वह बुद्धि ब्रह्मा की ही है । अतः ब्रह्मा ही इस अद्भुत रस के अधिदेवता हैं ।[4] इसी क्रम का अनुवर्तन करते हुए अन्य आचार्यों ने भी ब्रह्मा को अद्भुत का देवता स्वीकार किया है ।

विश्वनाथ ने गन्धर्व को इसका अधिदेवता मान लिया है । इसके दो कारण माने जा सकते हैं — (1) गन्धर्वों का मुख घोड़े के समान होता है । अतः वे स्वयं अद्भुत रस के रूप होते हैं ।[5] (2) गन्धर्व अतीव संगीत प्रिय माने गये है तथा विभिन्न रूप धारण करने में समर्थ भी । दूसरे शब्दों में उनका जीवन आनन्दभोग का जीवन है । सम्भवतः इसीलिए अद्भुत का अधिष्ठाता माना गया है ।

---

1. चिन्तामणि कविकल्पतरु 8/139-40.
   वेनी प्रवीन नवरसतरंग 527.
2. हरिभक्तिरसामृत सिन्धु, दक्षिण विभाग, लहरी 5, 101.
3. अभिनवभारती, हिन्दी व्याख्या, पृ० 531.
4. अद्भुतस्याप्यधिष्ठानं नानाशिल्पात्मिकैव धीः ।
   ब्रह्मणः सेयमस्तीति सोऽयमस्याधिदैवतम् ।।—
   — शारदातनय, भावप्रकाशन, साहित्यदर्पण, पृष्ठ 263 पर डा०सत्यव्रतसिंह द्वारा उद्धृत ।
5. नवरसः गुलाबराय ।

वैष्णव ग्रन्थों में भगवान विष्णु के कूर्मावतार को उसीलिए देवता स्वीकार किया गया कि दशावतारों में से कूर्मावतार में विलक्षण रूप से भगवान ने जगत का कल्याण किया है ।

स्वयं अनंग रहकर पूरी सृष्टि में व्याप्त रहनेवाला और पुष्पसायकों से जगत को बेधने की क्षमता रखने वाला अद्भुत कर्मा कामदेव भी अधिदेवता होने में समर्थ है किन्तु मेरी समझ में ब्रह्मा को ही अद्भुत रस का अधिष्ठाता मानना अधिक संगत है क्योंकि अचिन्त्याद्भुत कार्य में जितनी व्यापकता ब्रह्मा की है, उतनी किसी की नहीं । ब्रह्मा को देवता मानने से वर्ण संगति भी बैठ जाती है । सृष्टि के आरम्भ में स्वर्णाण्ड में उत्पन्न होने वाले ब्रह्मा को 'हिरण्यगर्भ' कहा गया है[1] और सृष्टि के निर्माण के लिए भी यह 'हेम चेतना' है ।[2] अतः स्वर्ण पीतिमा से आमण्डित ब्रह्मा को अधिदेवता मानना अधिक उचित है । गन्धर्वों को देवता नहीं देवयोनि कहा गया है[3] अतः उनकी दैवत कल्पना अधिक संगत नहीं । कूर्म की कल्पना अपेक्षाकृत अधिक शास्त्रीय है । कामदेव को अधिष्ठाता मानने में दो आपत्तियाँ हैं -- एक तो यह कि कामदेव शृंगार-रस से सम्बद्ध है । ऐसी दशा में अद्भुत तत्व का विस्तार केवल शृंगार तक सीमित हो जायगा । दूसरा यह कि कामदेव में प्रभावगत वैचित्र्य हो सकता है, सृष्टि विधानगत-वैचित्र्य नहीं है । ब्रह्मा में दृश्यगत वैचित्र्य भी है, सृष्टिगत वैचित्र्य भी है और प्रभावगत भी । अतः अद्भुत का वर्ण (स्वर्णाभ) पीत एवं अधिदेवता ब्रह्मा को मानना अधिक संगत है । रंगपूजा या रसविशेष की उपासना में आधिदैविक रूप का ध्यान तंत्रानुमोदित शिष्टाचार है ।

---

1. 'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्'
   — ऋग्वेद, हिरण्यगर्भसूक्त ।
2. यह विवर था किस चेतना नया रंग भरने को आज'
   — कामायनी, आशा सर्ग ।
3. अमरकोष ।

(क) अद्भुत रस का मित्र – शत्रु भाव :

मित्र-शत्रु भाव का सम्बन्ध रसों के आस्वाद से है । मित्र रस अंगी रस के आनन्द के उत्कर्ष में सहायक होता है और शत्रु रस अपकर्ष का कारण होता है । अतएव मम्मट आदि आचार्यों ने रस-विरोध का विवेचन रस-दोष प्रकरण में किया है । विश्वनाथ ने वीर, अद्भुत, तथा रौद्र का एवं शृंगार और अद्भुत का पूर्ण मैत्री भाव बताया है ।[1] पंडित राज के अनुसार वीर और अद्भुत तथा शृंगार और अद्भुत परस्पर मित्र रस हैं ।[2] भक्ति-रसामृत-सिन्धु में अद्भुत को शान्त का मित्र कहा गया है ।[3] जिस पर टीका करते हुए दुर्गम संगमनी में लिखा है कि – यह अद्भुत प्रीति, प्रेयान्, वत्सल एवं मधुर का मित्र है । जहाँ तक शान्तरस का प्रश्न है, वहाँ यह शान्त के लिए अथवा शान्तप्राय तपस्वियों के लिए दो प्रकार से भगवद्धेम जन्य चमत्कार को उत्पन्न करता है :– ब्रह्मानन्दानुभव से भी बढ़कर भगवान की माधुर्य लीला के आनन्दानुभव से तथा कहीं-कहीं शत्रुओं की निग्रह लीला के आश्चर्य से ।[4]

---

1. साहित्यदर्पण : विमला टीका, पृ० 263.
2. तत्र वीर-शृंगारयोः शृंगार-हास्ययोः वीराद्भुतयोः वीर-रौद्रयोः शृंगाराद्भुतयोश्चाविरोधः । –रसगंगाधर, प्रथम आनन्द (चौखम्बा सं० पु०), पृ० 192.
3. शान्तस्य प्रीतिर्बीभत्स धर्मवीराः सुहृद्वराः ।
अद्भुतश्चैव विज्ञेयः प्रीतादिषु चतुर्ष्वपि ।। – हरिभक्ति रसामृत सिन्धु, रूप गोस्वामी, अद्भुत रस लहरी, अच्युतग्रन्थमाला, पृ० 473-74.
4. एषोऽद्भुतः प्रीतिप्रेयोवत्सलमधुरेष्वपि सुहृद्वरो विज्ञेयः, किन्तु शान्तस्य शान्त-प्रायतपस्विनश्च दिवधामगवति चमत्कारो जायते । ब्रह्मानन्दानुभवादपि तन्माधुर्यानुभवानन्देन क्वचित् शत्रुपक्षनिग्रह लीलाया अप्याश्चर्यत्वेन ।
– वही, दुर्गम संगमनी, जीव गोस्वामी, पृ० 473-74.

अन्यत्र अद्भुत रस के मित्रों की चर्चा करते हुए रूप गोस्वामी ने शान्त आदिक पाँच तथा वीर रस को अद्भुत का मित्र बतलाया और करुण और भयानक को शत्रु ।[1] इसी श्लोक पर टिप्पणी करते हुए जीव गोस्वामी ने लिखा है कि अलौकिक वस्तु के अनुभव से उत्पन्न चमत्कार का भयानक और बीभत्स के अनुभव से विघात हो जाता है । विरोध से यहाँ यही अभीष्ट है ।[2] यहीं अन्यत्र भी अद्भुत को वीर का मित्र तथा करुण का वैरी कहा गया है ।[3] मिश्ररस के महत्व पर रूप गोस्वामी ने प्रकाश डाला है और कहा है कि – मित्र रस का मिश्रण रस को अच्छी प्रकार से आस्वाद्य बना देता है । चूँकि दो रसों का मिश्रण सर्वथा समान रूप तुला की तौल होना कठिन है अतः अंगांगि भाव से मिश्रण करना चाहिए ।[4]

रसार्णव सुधाकर में रौद्र और अद्भुत रस को परस्पर शत्रु बतलाया गया है और इस बात का निषेध किया गया है कि जो स्वभाव से विरोधी रस है, उनका अंगांगिभाव से मिश्रण विवेकी पुरुषों को आस्वाद्य नहीं होता – जैसे कन्य

---

1. अद्भुतस्य सुहृद्वीरः पंचशान्तादयस्तथा ।
   प्रतिपक्षस्तु करुणस्तथा प्रोक्तो भयानकः ।। – वही ।

2. अद्भुतस्येति–अलौकिक वस्त्वन्तरानुभवजातचमत्कारस्य भीषण–विभीत्सतयो-रनुभवेन विघातः स्यादित्येव विवक्षितम् । – दुर्गमसंगमनी, पृ० 475.

3. (क) वीरस्यात्यद्भुतः ----- सुहृद् । वही, श्लोक 10.
   (ख) करुणस्य वैरी अद्भुतः ----- । वही, श्लोक 11.

4. सुहृदामिश्रणं सम्यगास्वाद्यं कुरुते रसम् ।
   द्वयोस्तु मिश्रणे साम्यं दुःशकंस्यात्कुतापितम् ।।
   तस्मादंगांगिभावेन मेलनं विदुषां मतम् ।।
   – वही, श्लोक 15-16.

और गन्धक का मिश्रण।[1] देव कवि ने भी 'अद्भुत रिपु रौद्रहिं कहत' कहकर इसीका अनुवाद किया है ।

वस्तुस्थिति यह है कि अद्भुत का किसी अन्य रस से विरोध नहीं है ।[2] अतएव विश्वनाथ ने न तो अद्भुत का किसी अन्य रस से विरोध बतलाया है न किसी अन्य रस का अद्भुत से । कारण स्पष्ट है — आचार्यों ने अद्भुत रस के स्थायीभाव विस्मय को सभी रसों में संचारी माना है फिर किसी से विरोध कैसे संभव है ? रौद्र, करुण, भयानक, तथा बीभत्स के साथ जिन आचार्यों ने विरोध का उल्लेख किया है, उन्होंने अद्भुत में केवल कौतुक जनक आलम्बन को ध्यान में रखकर । हाँ उक्त रसों में अद्भुत का मिश्र भाव से सन्निवेश केवल प्रतिभाशाली कवियों के लिए ही संभव है ।

(ख) अन्य रसों से सम्बन्ध निरूपण :

शृंगाररस एवं अद्भुत रस — शृंगार तथा अद्भुत सर्वसम्मति से पूर्ण मित्र रस हैं । इन दोनों रसों का आलंबनैक्य ही इनकी मैत्री का मूल रहस्य है । शृंगार के आलंबन में उद्दीपन रूप से विद्यमान सौंदर्य एवं गुण होते हैं, वे ही अद्भुत के भी आलंबन होते हैं । अतएव शृंगार रस के प्रकरण में प्रायः रूपाद्भुतता के ही दर्शन होते हैं । सौंदर्य की लोकोत्तरता एक ओर आश्रय के हृदय में अतिशय आकर्षण उत्पन्न करती है, जिससे रतिभाव का उत्कर्ष होता है,

---

1. (क) रौद्राद्भुतावुभौ xxx प्रकृति विद्वत्तमौ ।
   (ख) स्वभाव वैरिणो रंगीग भावेनापि मिश्रणम् ।।
   विवेकिन्यो न रुचते गन्ध गन्धकयोरिव ।
   — रसार्णव सुधाकर, विलास—2.

2. न कोऽप्यद्भुतेऽष्ट चाद्भुतः —
   — अलंकारशेखर, केशवमिश्र (काव्यमाला), 20/30, पृ० 75.

तो दूसरी ओर अपनी अभिनवता, अपूर्वता एवं अनिर्वचनीयता के कारण अनुसंधानजन्य जिज्ञासामूलक विस्मय का उद्रेक करती है ।

प्रायः कविगण रूप वर्णन में अतिशयता का आधान करने के लिए विलक्षण पद्धति से वैचित्र्य का अनुसंधान करते हैं जिसके कारण कलातत्व में भी विस्मय का योग हो जाता है । कभी सुरम्य उपमानों के द्वारा सौंदर्य की कमनीयता का उन्मीलन होता है तो कभी दुरारूढ़ कल्पनाओं के द्वारा मात्र वैचित्र्य का आरोपण किया जाता है । कभी अलंकारों से सौंदर्य मीलित-उन्मीलित होता है तो कभी भूषण के भार से सुकुमार तन पीड़ित हो उठता है । कभी कीट की सूक्ष्मता पर ब्रह्म की भाँति अलक्ष्य होकर केवल कौतूहल का विषय बनती है तो कभी भोक्ता की वासना एवं आकांक्षा के प्रच्छन्न संस्पर्श से रूपायित होकर नेत्रों का उत्सव बन जाती है ।

चूंकि शृंगार में सौंदर्य का उपभोग्य पक्ष ही रूपायित होता है, अतः मूर्त उपकरणों द्वारा गतिमय कायिक चेष्टाओं, स्थिर मुद्राओं एवं अनुभावों की योजनाओं का कौशलपूर्ण कथन एवं संगुम्फन मनोजगत में एक साथ ही रमणीयता एवं चित्त विस्तार का प्रेरक बनता है । जहाँ कवि संभावनामूलक उपमानों की समायोजना से अतीन्द्रिय छवि की अभिराम उन्मीलन करता है, वहाँ कवि को सौंदर्य चेतना अतिप्राकृत धरातल की अलौकिक आभा से मंडित होती है ऐसे स्थलों में उपभोग की अपेक्षा विमुग्धता को ही सौंदर्य के निकष के रूप में देखा जाता है । श्रद्धा के रूप चित्रण का एक संभावनामूलक रूप चित्रण देखिए :—

कुसुम कानन अंचल में मन्द
पवन प्रेरित सौरभ साकार
रचित परमाणु पराग शरीर
खड़ा हो ले मधु का आधार ।। (कामायनी, श्रद्धा सर्ग)

यहाँ श्रद्धा के जिस सौरभ-सौन्दर्य को साकार मूर्ति के रूप में प्रस्तुत किया गया है, उसका आधार अतीन्द्रिय एवं अपार्थिव उपादान हैं । यहाँ कवि की सौंदर्य-चेतना संभावनामूलक उपादानों पर आश्रित है। पुष्परस से सिक्त पराग के परमाणु से श्रद्धा केशरीर का निर्माण कवि को उस दिव्य विद्यायिनी कल्पना का परिणाम है जो चेतना के अंतप्राकृत धरातल की अनुभूयमान कोमलता, मसृणता, मधुमयता, आदि को रूपायित करने का माध्यम बन गयी है । अतः प्रस्तुत प्रसंग में रूपांकन चित्त-स्वीकृतिजन्य चमत्कार का ही कारण होता है । यहाँ सिद्ध उपादानों के चयन से रूप का संघटन किया गया है । एक दूसरा चित्र देखिये :—

> सुषमा सुरभि सिंगार छीर दुहि मयन अभियमय कियो है दही री ।
> मथिमाखन सिय राम सँवारे सकल भुवन छवि मनहुं मही री ।।[1]

यहाँ रूप वर्णन उपादानों की साध्य योजना पर आश्रित है । इस दिव्य चित्र में इन अपार्थिव उपादानों की संभावना से सौंदर्य की जो लोकोत्तर प्राणप्रतिष्ठा की गयी है वह किसे विमुग्ध नहीं करती । सौंदर्य की सुरभि से शृंगार रूपी दूध और उसमें 'काम' के योग से विकार होने से दही का जमना तदनन्तर निरन्तर चिन्तन से मन्थन होने पर 'माखन' के रूप में राम-जानकी का उदय कवि की उस मानसिकता की देन है यहाँ वासना ईश्वरार्पण होने पर पुनीत बन जाती है । ऐसे स्थलों में कल्पना के रहस्य लोक में पहुँच कर भावक अभिभूत हुए बिना कैसे रह सकता है ।

सौंदर्य चित्रण के लिए कवि अप्रस्तुतों की योजना करते हैं । यह योजना साम्यमूलक भी होती है और वैषम्य मूलक भी । जिस प्रकार वर्णों की असंगति में निहित संगति की अन्तर्धारा हृदय को एक सुखद विस्मय से विभोर कर देती है, उसी प्रकार वैषम्यमूलक अप्रस्तुतों का चयन वैचित्र्य की सृष्टि के द्वारा विभोर कर देता है :—

---

1. गीतावली ।

नील परिधान बीच सुकुमार
मृदुल खुल रहा अधखुला अंग
खिला हो ज्यों बिजली का फूल
मेघ वनबीच गुलाबी रंग ।
आह! वह मुख पश्चिम के व्योम
बीच जब घिरते हों घनश्याम
अरुण रविमंडल उन को भेद
दिखाई देता हो छवि धाम
या कि नव इन्द्रनील लघु शृंग
फोड़ कर धधक रही हो कान्त
एक लघु ज्वाला मुखी अचेत
माधवी रजी में अशान्त ।।

यहां मेघों के बीच खिलती हुई बिजली, श्यामघन के बीच अस्ताचल गामी अरुण रविमंडल, इन्द्रनीलमणि के लघु शृंग को फोड़ कर धधकता ज्वाला मुखी श्रद्धाके सौंदर्य को अधिकाधिक भास्वरता प्रदान करने के लिए विरुद्धधर्मी अंधकार प्रकाश की एक ऐसी संगति प्रस्तुत करते हैं जिनकी प्रभावान्विति से सहज सौन्दर्य द्युतायित होकर चमत्कृत करता है । भोग्य सौंदर्य भी कम विस्मय विमुग्ध नहीं करता । सारा भक्ति एवं रीतिकालीन नखशिख वर्णन, इसीसे भरा हुआ है । उदाहरणों से कलेवर वृद्धि करके केवल इतना कहना है कि अतिशयोक्ति, रूपकातिशयोक्ति, विरोधाभास असंगति आदि के द्वारा जिस चमत्कार की सृष्टि की जाती है, वह वस्तुतः न तो हृदय में अद्भुत रस का ही परिपाक करा पाता है न शृंगाररस का ही । या तो वहीं स्थूल भौतिक भोग का वासनात्मक उद्गार होता है या सौंदर्य बौद्धिक इन्द्रजाल या तमाशा बन कर रह जाता है । इससे सिद्ध है कि सौंदर्य की सम्पूर्ण उद्दीपन धर्मिता अद्भुतानुप्राणित ही होती है । इतना होते हुए भी रीतिभाव

प्रायः व्यक्तिनिष्ठ ही होता है। प्रेम का आलम्बन चेतन ही हो सकता है । राष्ट्रप्रेम आदि में भी एक विराट् व्यक्तित्व की कल्पना अवश्य रहती है किन्तु अद्भुत रस जड़ चेतन सबको विभाव के रूप में स्वीकार करता है ।

वीररस एवं अद्भुत रस :

'उत्पत्ति' शीर्षक के अन्तर्गत हम यह देख चुके हैं कि सभी आचार्य एक मत से वीररस से अद्भुत रस की उत्पत्ति मानते हैं किन्तु वीर तथा अद्भुत में कुछ मौलिक भेद हैं जो निम्नलिखित हैं —

वीर रस का स्थायीभाव उत्साह है जो अपने आश्रय में इच्छा तथा प्रयत्न का प्रबल प्रवर्तक है । इसीलिए वीर पुरुषों में रजोगुणात्मक सक्रियता विद्यमान रहती है उनके उत्साहपूर्ण असाधारण कर्म ही उनके वीरत्व के परिचायक होते हैं । इसके विपरीत अद्भुत रस के आश्रय में कोई कर्मशीलता नहीं होती । यहाँ तक कि उसमें इच्छा और प्रयत्न भी नगण्य सा होता है जिस असाधारण व्यक्ति, वस्तु या कर्म के कारण विस्मय का जागरण होता है वह आलम्बन मात्र होता है । उसके प्रति अधिक से अधिक प्रशंसा, जिज्ञासा आदि का उदय हो सकता है ।

स्थायीभाव की दृष्टि से उत्साह तथा विस्मय दोनों सुखात्मक वर्ग के हैं ।[1] किन्तु विस्मय में निरनुसन्धानजन्य अर्थात् बिना विचार के आपाततः विद्युत सदृश क्षणिक दुःखानुविद्ध सुखात्मता रहती है[2] जबकि उत्साह में सुख-अनुसंधानजन्याविवेक जन्य- तथा स्थिर होता है।

---

1. रति, हास, उत्साह विस्मयानाञ्च सुख स्वभावत्वञ्च ।
   — अभिनव भारती, पृ० 219.
2. विस्मयस्य निरनुसंधान तड़ित् तुल्य सुखात्मता ।
   — नाट्यदर्पण, पृ० 220.

वीररस के आश्रय को अपने कर्म से उत्तरोत्तर उत्साह प्राप्त होता है, अपने ही कर्म से विस्मय नहीं होता । उत्तम प्रकृति के वीरों को स्वकर्मजन्य के विस्मय होता ही नहीं । अतः उत्साहपूर्ण कार्य से वीररस की तथा उसकी असाधारणता से अद्भुत रस की सृष्टि होती है । केवल असाधारण कार्य हमें चमत्कृत कर सकता है जैसे सर्कस आदि किन्तु उसमें उत्साह प्रदान करने की क्षमता नहीं होती क्योंकि वहाँ असाधारण कार्य चमत्कार प्रदर्शन एवं मनोरंजन के लिए है ।

यहाँ एक बात यह भी विचारणीय है कि वीररस का आश्रय महत् कर्म के प्रति उत्साहित होता है जबकि वीर के कर्म को अद्भुत या अद्भुत का आलम्बन बताया गया है, फिर उसी महत् कर्म के दर्शन से सहृदय में उत्साह कैसे जागृत होता है ? इसके समाधान में कहा जा सकता है कि यदि काव्य निर्माण काल में कवि का लक्ष्य, वीररस का आश्रय होगा तो साधारणीकरण द्वारा हृदय में उत्साह का ही संचार होगा इसके विपरीत यदि कवि की दृष्टि केवल चमत्कारी कर्म की ओर होगी तो अद्भुत रस होगा । उदाहरणार्थ- हनुमान के समुद्र लंघन को है, यह एक अत्यन्त अद्भुत कर्म है जो विस्मय स्थायी भाव का पोषण करता है किन्तु जिनका तादात्म्य हनुमान के साथ होगा उनमें उत्साह होगा विस्मय नहीं ।

एक दूसरा प्रसंग लीजिये – हनुमान द्रोणाचल लेकर आ रहे हैं । उनका उद्देश्य एक विशिष्ट कार्य (लक्ष्मण को जीवन दान) को पूर्ण करना है । अतः हनुमान में उत्साह है और वह उत्साहपूर्वक एक असाधारण कर्म में तत्पर है। किन्तु तुलसी का उद्देश्य कर्म सौन्दर्य की अभिव्यक्ति करना है । अतः 'लीन्हों उखारि पहार बिसाल चल्यो तेहि काल बिलम्ब न लायो' इत्यादि पद में यद्यपि आश्रय में उत्साह के दर्शन होते हैं किन्तु सहृदय को अद्भुत रस की सिद्धि प्राप्त होती है क्योंकि यहाँ हनुमान का लोकोत्तर कर्म आलम्बन है ।

वीररस मुख्य रस है । जबकि अद्भुत उपरस । यों आचार्यों ने दोनों के

स्थायीभावों को सभी रसों में संचारी माना है ।[1]

हास्य और अद्भुत रस :

बाबू गुलाबराय ने हास्य और अद्भुत का अंतर स्पष्ट करते हुए लिखा है कि इसमें भी हास्य की सी विपरीतता है किन्तु अंतर इतना ही है कि हास्य में विपरीतता साधारण होती है और उसका कारण ज्ञात नहीं होता । यदि उसका कोई कारण भी होता है तो दूसरे की भूल या मूर्खता नहीं । उसका कारण बिल्कुल लोकोत्तर ही होता है ।[2] कारण यह है कि हास्य भी विपरीतता पर आधारित है और अद्भुत भी । हास्य में बुद्धि का काम रहता है । अद्भुत में बुद्धि का काम अधिक रहता है यह स्वाभाविक नहीं ।"[3]

इससे स्पष्ट है कि बाबू गुलाबराय विस्मय में बौद्धिकता को अधिक महत्त्व देते हैं किन्तु डा० आनन्द प्रकाश दीक्षित के मत में हास्य और अद्भुत में यह भी अन्तर है कि पहले में बुद्धि और विवेक का त्याग नहीं होता जबकि दूसरे में घटना की अघटनीयता भय को उत्पन्न करने के साथ-साथ विवेक का भी क्षण भर के लिए हरण कर लेती है । अद्भुत में विवेक को कहीं कुछ देर में जुड़ती है और हास्य आरम्भ से ही उसका सहारा लेकर चलता है ।[4]

श्री ना०र०बहिरटपांडे ने रसों के सामान्यतः दो वर्ग बनाये हैं – एक बुद्धिजन्य रस दूसरा मनोजन्य रस । बुद्धिजन्य रसों में उन्होंने विनोद (हास्य) और अद्भुत रसों को स्थान दिया है । इनकी मान्यता में विसंगतिजन्य विस्मय

---

1. उत्साह विस्मयो सर्व रसेषु व्यभिचारिणो ।
2. गुलाबराय – नवरस, पृ० 6.
3. वही, पृ० 507.
4. रससिद्धान्त : स्वरूप विश्लेषण : डा० आनन्द प्रकाश दीक्षित, पृ० 371.

से ही अद्भुत और विनोद की उत्पत्ति होती है और विसंगति मूलतः बौद्धिक वृत्ति है । विसंगति बुद्धि को अनुकूल प्रतीत नहीं होती । अतः जहाँ जहाँ विसंगति दिखायी देती है वहाँ-वहाँ बुद्धि कुंठित हो जाती है और बुद्धि के कुंठित होने का नाम विस्मय है ।[1]

स्पष्ट है कि श्री पांडे भी डा० दीक्षित की भाँति अद्भुत में विवेक और बुद्धि को कुंठित मानते हैं । कुंठा हास्य में भी होती है किंतु अपेक्षाकृत कम । पहले अध्याय में स्पष्ट कर आये हैं कि ज्ञान की कड़ी जुड़ते ही विस्मय क्षीण होने लगता है क्योंकि दुर्बोधता असम्भाव्यता आदि से ही विस्मय का उद्रेक होता है। डा० कृष्णदेव झारी ने डा० दीक्षित के उक्त विश्लेषण को भ्रांत बतलाते हुए लिखा है कि सम्भवतः अलौकिकता के प्रभाव से ही डा० दीक्षित ने एक बहुत भ्रान्त धारणा प्रकट की है xxx हमारा (डा० झारी) निवेदन है कि बुद्धि और विवेक का न हर्ष में लोप होता है न अद्भुत में । यदि बुद्धि का यह लोप होने लगे तो हमें अविश्वसनीय और अस्वाभाविक घटनायें भी न अखरें । अद्भुत में विवेक कड़ी कभी नहीं टूटती ।"[2]

हमारा विनम्र निवेदन है कि विस्मय में सहसा आघात से बुद्धि का क्षणिक लोप हो जाता है और धीरे-धीरे चित्त विस्तार के द्वारा हम उस अस्वाभाविक असम्भाव्य, अनाख्येय, अपरिचित, असामान्य को अपने ज्ञान का विषय बनाते हैं, अतः विसंगति से कुंठित होकर पुनः धीरे धीरे विवेक की कड़ी जोड़ना उचित ही है । डा० दीक्षित ने लिखा है कि अद्भुत में विवेक की कड़ी कुछ देर में जुड़ती है और डा० झारी ने उसे तोड़ मरोड़ कर प्रस्तुत किया है कि अद्भुत में विवेक की कड़ी नहीं टूटती । डा० दीक्षित ने कड़ी टूटने की बात नहीं कही है । हाँ,

---

1. आधुनिक हिन्दी मराठी में काव्यशास्त्रीय अध्ययन : डा० मनोहर काले, पृ० 152.
2. रससिद्धान्त और भूमाभाव का मनोवैज्ञानिक विवेचन, डा० कृष्णदेव झारी, पृ० 495-496.

भय के साथ विवेक का भी क्षणभर के लिए हरण कर लेती है, ऐसा उनका विचार है । डा० शर्मा के विचार में अविश्वसनीय और अस्वाभाविक घटनाएँ अखरती हैं किन्तु हमारे विचार में काव्य जगत में इनसे आनन्द मिलता है । यह अखरना लौकिक जीवन में किसी घटनाविशेष के साथ हो तो आपत्ति नहीं ।

रामचरितमानस में शिव विवाह प्रकरण में हास्य के साथ अद्भुत रस का सुन्दर मिश्रण है :—

सीस जटाट सुन्दर सिर गंगा । नयन तीनि उपवीत भुजंगा ।।
गरल कंठ उर नर सिर माला । असिव वेष सिव धाम कृपाला ।।
कर त्रिसूल अरु डमरु विराजा । चले बसहँ चढ़ि बाजहिं बाजा ।।[1]

यहाँ तक आलम्बन का विचित्र वेष विस्मय की सृष्टि करता है किन्तु यही वेष वैचित्र्य देवांगनाओं के लिए हास्य-व्यंग्य का आलम्बन बन जाता है । अतः हास्य के साथ अद्भुत तथा अद्भुत के साथ हास्य का योग चमत्कारजनक होता है ।

भयानक, रौद्र, वीभत्स एवं करुण तथा अद्भुत रस :

ये सभी रस दुःखात्मक वर्ग के हैं। अतः इनमें दुःखानुविद्ध रस्यमानता प्राप्त होती है । विस्मय सुखात्मक है । अतएव सामान्यतः इन रसों को कुछ आचार्यों ने अद्भुत का वैरी बतलाया है किन्तु जैसा पहले निवेदन किया जा चुका है, इन रसों में भी अद्भुत का समावेश कुशल कवि कर सकते हैं ।

भयानक रस : चूँकि भय का सम्बन्ध विस्मय के साथ बहुत दूर तक चलता है क्योंकि अप्रत्याशित, आकस्मिक और असामान्य विभाव से दोनों का उद्रेक

---

1. मानस : बालकांड : दोहा-99 के बाद ।

होता है किन्तु दोनों का मेलक तत्व विषज्जनकता है । यदि आलंबन के प्रति विषज्जनक का बोध हो गया तो वह अपनी स्थिति के अनुसार भय, त्रास आतंक आदि में परिणत हो जायेगा । आतंक संभावित भय है और त्रास भय का अतिशय रूप है ।

बात यह है कि अप्रत्याशित अपरिचित आलंबन वस्तु व्यक्ति अथवा घटना के द्वारा उस समय निश्चय ही आतंक या भय की स्थिति उत्पन्न होती है जब उसके सम्बन्ध में कार्य-कारण का ज्ञान नहीं हो पाता । प्रायः महान अथवा उदात्त के सम्बन्ध में भय का भाव निहित होता है । वस्तुतः विस्मय और भय के आलंबनों में भेद करना कठिन नहीं । परिचित और ज्ञान से साध्य रहता हुआ अपरिचित और अज्ञात अथवा परिचित में ही अपरिचित का गूढ़ बोध प्रायः विस्मय का ही उद्रेक करता है, किन्तु जब तक आलंबन किसी प्रकार से परिचय की सीमा में नहीं आ जाता तब तक आत्मरक्षात्मक जिज्ञासा और भय का उत्पन्न होना अनिवार्य है । अतः भय और विस्मय प्रायः घुले मिले रहते हैं ।

विस्मय की भाँति भय भी ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष से उत्पन्न होता है । अनुभाव की दृष्टि से भय आदि में भी आँखें फैली हुई, भौंहें तनी हुई और मुँह खुला हुआ होता है । व्यक्ति प्रायः मूर्तिवत् गतिहीन हो जाता है और साँस रोक लेता है । हृदय की गति बढ़ जाती है किन्तु रक्त की गति नहीं बढ़ती जिसके कारण भयाक्रान्त व्यक्ति पीला पड़ जाता है । रोमांच, मुखशोष, कंठावरोध अस्पष्ट वाणी और कभी-कभी डरावना स्वर, स्वेद तथा मूर्छा तक देखा जाता है । त्रास में मस्तिष्क उत्तेजित होता है और आँखें फैल जाती हैं, इसमें ऊर्जा बढ़ जाती है । शरीर में तनाव अधिक होता है ।

काव्य साहित्य में भी दिव्य एवं उदात्त परिवेशों में विस्मय का स्वरूप भय से मिश्रित देखा गया है । विराट स्वरूप के दर्शन के क्षणों में अर्जुन की विस्मयानुभूति में इसी भय का मिश्रण देखा जा सकता है यद्यपि भय एक दुःख

भाव है तथापि कविगण इस दुःखद वातावरण को सहसा सुखात्मकता में परिणत करके चमत्कार की सृष्टि करते हैं । यों भी काव्य के भाव सर्व विभाव लौकिक अनुभूतियों से भिन्न होते हैं । अतः उनका पर्यवसान सुखात्मक विस्मय में अनायास ही ~~[illegible]~~ हो जाता है ।[1]

सामान्य जीवन में भी भय या आतंक यदि तीव्र आघात के रूप में न हो तो सुख उत्पन्न करता है । आतंक अनागत के प्रति होता है और उसकी कल्पना में हम मोद का अनुभव करते हैं । दूसरे शब्दों में आतंक का प्रत्यक्ष अनुभव दुःखद और परोक्ष अनुभव मोदपूर्ण होता है । जब भय का बिन्दु कल्पना की तरंगों पर चढ़कर अनन्त हो जाता है तभी वह उदात्त की सीमा में पहुँच जाता है । उदात्त में आलम्बन की भयंकरता के साथ आश्रय की तीव्र भावुकता भी जुड़ी हुई है । निःसीमता और अनन्त शक्ति के उदात्त भय का जन्म होता है । इसके अतिरिक्त शून्यता, निर्जनता, एकान्त, महामौन, महाशान्ति, घनान्धकार भी हमें उदात्त भय से अनुप्राणित करते हैं । कामायनी के आरम्भ में चिन्ता सर्ग में प्रलय का जो दृश्य प्रस्तुत है, उसमें एक ओर विस्मय का आलोड़न है तो दूसरी ओर आत्मा का अपकर्षमूलक आश्चर्यपूर्ण अवसादन । इसी प्रकार 'राम की शक्तिपूजा' में नीरवता और अंधकार का औदात्यमूलक चित्रण दर्शनीय है —

है अमा निशा, उगलता गगन घन अन्धकार
खो रहा दिशा का ज्ञान स्तब्ध है पवन चार
अप्रतिहत गरज रहा पीछे अम्बुधि विशाल
भूधर ज्यों ध्यान मग्न केवल शशांक ।।[2]

इन पंक्तियों में जिस वातावरण का चित्रण किया गया है, उसमें भय, सम्भ्रम,

---

1. प्रस्तुत विवेचन के लिए देखिये — रससिद्धान्त : डा० नगेन्द्र, पृ0227-32.
2. निराला : राम की शक्तिपूजा ।

विस्मय आदि भावों का सम्मिलन एक उदात्त भाव की सृष्टि कर रहा है । अतः भय की वह अनुभूति जो अंत में विस्मय या उदात्त विस्मय में परिणत होती है, अपने सांगिक अर्थों में सुखद ही होती है ।

रौद्ररस :

रौद्ररस में क्रोध की अतिशयता के परिणाम स्वरूप प्रायः भय जैसे अनुभावों का ही उदय होता है । वल्गन तथा आत्मकथन क्रोध का मुख्य अंग है । रामचरित मानस में परशुराम के प्रसंग को ले-- परशुराम लक्ष्मण के व्यंग्य से तिलमिला उठते हैं और उनका रौद्र रूप अतिरौद्र में बदल जाता है किन्तु के बीच-बीच में स्वनिष्ठ विस्मय से अभिभूत हो जाते हैं ।

बहुइन हाथ दहउँसिर छाती
मा कुठार कुंठित नृप घाती
भयउ बाम विधि फिरेउ सुभाऊ
मोरे हृदय कृपा सिस काऊ ।।"[1]

में उनका विस्मय ही पराकाष्ठा को प्राप्त हो जाता है । अंत में कवि ने अपने प्रतिभा कौशल प्रसंग को अद्भुतान्त कर दिया है ।[2] जहाँ हास्य, भयानक, रौद्र आदि रसों की ऊर्मियाँ अद्भुत के तट पर विश्राम कर सहृदय को आश्वस्त ही नहीं करतीं अपितु राम की लोकोत्तर महिमा के प्रति प्रणतवनत भी करती है । अतः रौद्र रस के साथ भी अद्भुत की सुन्दर योजना की जा सकती है ।

---

1. मानस बालकांड : दोहा 279 के बाद ।
2. राम रमापति कर धनु लेहू । खैंचहु चाप मिटै सन्देहू ।।
देत चाप आपुहि चलि गयऊ । परशुराम मन विस्मय भयऊ।।
— वही,

वीभत्सः

घृणा चाहे स्थूल वस्तु जन्य घृणात्मक हो अथवा समाजीकृत सापेक्ष वैचारिक धरातल पर हो अपनी अंतर्व्यापकता में विस्मय को भी समेट लेता है । युद्धभूमि के दृश्यों में कबन्धों का युद्ध आदि प्रसंग में घृणा के साथ विस्मय का अनिवार्यतः योग होता है । इसी प्रकार जहाँ चोरी, हत्या, लूट, भ्रष्टाचार, शोषण आदि के विरुद्ध घृणा का उद्रेक होता है, वहाँ हम स्पष्ट ही 'ओह ! इतनी नीचता । ऐसा जघन्य अपराध । नारकी कीड़े ।' आदि के द्वारा विस्मय प्रकट करते हैं किन्तु इससे यह न मान लेना चाहिए कि वीभत्स के साथ अद्भुत की योजना अत्यन्त स्वाभाविक अथवा सुगम है। हाँ, कुशल कवि क्या नहीं कर सकता ।

करुणरस :

सामान्यतः तो करुण रस में शोकाकुल होने के कारण चित्त वृत्ति विक्षुब्ध होती है और चित्त-विकास के लिए अवसर नहीं होता किन्तु कभी-कभी विस्मय का योग करुण रस की अनुभूति को तीव्र करने में सहायक होता है । भरत के बाण से विद्ध हनुमान मूर्च्छित होकर धरती पर पड़े हैं और राम-राम का उच्चारण कर रहे हैं । ऐसी स्थिति में शोक का समुद्र उमड़ पड़ा :—

मुख मलीन मन भए दुखारी । कहत वचन भरि लोचन बारी ।।
जेहि विधि राम विमुख मोहिं कीन्हा । तेहिं पुनि यह दारुन दुख दीन्हा ।।[1]

किन्तु ज्योंही हनुमान उठ बैठे त्योंही भरत का शोक विस्मय में परिणत हो गया । उनका तन पुलकित हो गया आँखें अश्रुपूर्ण हो गयीं ।

इसी प्रकार अन्य प्रसंगों में भी विस्मय या तो शोक को तीव्र करने में

---

1. मानस, लंका कांड, दोहा 58 के पश्चात् ।

सहायक होता है या रस परिवर्तन करने में ।

भक्तिरस :

भक्तिरस में भक्त के हृदय में प्रभु के प्रति अनन्य अनुराग विद्यमान रहता है । वह उसी अनुराग से सिंचित होकर भागवती लीलाओं का श्रवण और कीर्तन करता है । परिणामतः वहां अद्भुत् तत्त्व भगवत प्रेम का संचारी मात्र होकर आता है । भगवान की उन दिव्य लीलाओं की चर्चा भक्तों के हृदय में भक्ति भावना का आवेश उत्पन्न करती है । उदाहरणतः सूरदास द्वारा रचित 'कर गहि पग अंगुठा मुख मेलत' पद में भगवान की जिस दिव्य लीला का वर्णन किया गया है उसका उद्देश्य भक्त के हृदय में अनुराग की वृद्धि करना तथा पुष्टि मार्गानुकूल भगवत्कृपा के विस्तार का प्रदर्शन करना है । ऐसे स्थलों में हम चकित नहीं होते और न अद्भुत रस की निष्पत्ति होती है । एक बात और है कि अद्भुत का आलम्बन प्रायः अप्रत्याशित एवं अज्ञात होता है अथवा घटना असाधारण होती है जो हमें चकित कर देती है, किन्तु भक्ति में आलंबन ज्ञात रहता है और उसकी लीलाओं की चर्चा सोद्देश्य उद्दीपन रूप में की जाती है । इसीलिए वैष्णवों ने विस्मय गौण रस माना है और ईश्वर रति को प्रधानता दी है । भगवत् तत्त्व के साक्षात् एवं अद्भुत अनुभव से भक्त सान्द्रानन्द रूप भक्ति-रस का आस्वादन करता है । अतः अद्भुत भक्तिरस का पोषक है ।

प्रकृतिरस तथा अद्भुत् रस :

आधुनिक युग में प्रकृति परक रचनाओं को ध्यान में रखकर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने स्वतंत्र प्रकृति रस को मान्यता देना उचित समझा । उनकी दृष्टि में स्वतंत्र

---

1. तदत्र सर्वथा साक्षात् कृष्णाद्यनुभवादद्भुतः ।
प्रौढानन्द चमत्कारो भक्तैः कोऽप्यनुरूप्यते ।।
– भक्तिरसामृत सिन्धु, दक्षिण विभाग लहरी 5/65, पृ० 301.

प्रकृति रस को मान्यता देना उचित समझा। उनकी दृष्टि में स्वतंत्र आलम्बनात्मक रूप में वर्णित प्रकृति चित्र रसानुभूति में पूर्णतः समर्थ है। अतः प्रकृतिपरक रचनाओं के लिए भी उन्होंने राग या रति को ही स्थायी भाव माना है। किसी स्वतंत्र, स्थायी और नवीन रस संज्ञा का निरूपण नहीं किया। उनका विचार है कि जो वस्तु मनुष्य के भावों का विषय या आलम्बन होती है, उसका शब्द चित्र यदि किसी कवि ने खींच दिया है तो वह एक प्रकार से अपना काम कर चुका है। उसके लिए यह अनिवार्य नहीं कि आश्रय की भी कल्पना करके उसे उस भाव का अनुभव कराता हुआ ××× दिखावे। ××× मैं आलम्बन मात्र के विशद वर्णन को श्रोता में रसानुभव (भावानुभव सही) उत्पन्न करने में पूर्ण समर्थ मानता हूँ।"[1]

पंडित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने स्पष्ट शब्दों में स्वतंत्र प्रकृति रस की स्थापना की और कहा है कि प्रत्यक्षानुभूति और काव्यानुभूति दोनों में प्रकृति के आलम्बनत्व से उत्पन्न मनःस्थिति रसमयी होती है।[2] डा० काले का विचार है कि मानव प्रकृति के प्रति आकर्षण उसकी मूलभूत सौंदर्य भावना की परितृप्ति के कारण है ××× सौंदर्य की वस्तुगत स्थिति भी है और व्यक्तिगत भी, परन्तु सौंदर्यभाव की स्थिति व्यक्तिमात्र में ××× निहित है।[3] अतः उन्होंने प्रकृतिरस के मूल में प्राकृतिक आलम्बनों से परिपुष्ट सौंदर्य भाव को ही स्थायीभाव मानना आवश्यक समझा है। मराठी के विद्वानों ने इसे ही उदात्त रस नाम दिया है।[4] किन्तु दूसरी ओर डा० वाटवे की मान्यता है कि "प्रकृति के उदात्त

---

1. रस मीमांसा, पृ० 115.
2. वाङ्मय विमर्श : विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, काव्य और प्रकृति : पृ० 233-34.
3. आधुनिक हिन्दी मराठी में काव्यशास्त्रीय अध्ययन, पृ० 142.
4. वही, पृ० 148 पर उद्धृत अधोलिखित निरूपण, पृ० 209.

गम्भीर दृश्य अथवा असामान्य विभूति के विशाल मनोधर्म को देखकर और अनुभव कर उदात्त भावना का निर्माण होता है । परन्तु इसमें न्यूनाधिक रूप से भय, भक्ति और विस्मय भावना का मिश्रण रहता है । अतः इसका अन्तर्भाव भयानक भक्ति और अद्भुत रस में किया जाये ।[1] किन्तु डा० काले इसको स्वीकार नहीं करते । उनका कहना है कि "संस्कृत काव्यशास्त्र के स्थायीभावों में रति के अतिरिक्त विस्मय स्थायीभाव भी सौंदर्य भावना का नितान्त स्वरूप प्रतीत होता है । विस्मय स्थायीजन्य अद्भुत रस और सौंदर्य भाव स्थायीजन्य प्रकृति रस कहीं-कहीं तो प्रकृति के भव्य विराट् रूप आलम्बन भी एक से ही रहते हैं ।"[2] किन्तु उनका विचार है कि जैसे रति के आलम्बन भेद से भक्ति तथा वात्सल्य का भेद उचित माना गया है उसी प्रकार सौन्दर्य स्थायीभाव और विस्मय स्थायीभाव के रसों का स्वरूप भी भिन्न-भिन्न है। प्रथम एकांततः प्राकृतिक सौंदर्य वर्णन पर अधिष्ठित है तो दूसरा विस्मय विमुग्धकारी असम्भाव्य ऐन्द्रजालिक पदार्थ वर्णनों पर । अद्भुत रस के आलम्बन अप्राकृतिक पदार्थ तथा विस्मयकारी भी हो सकते हैं परन्तु प्रकृति रस के नहीं ।[3] ××× सौन्दर्य भावना का एकान्ततः रति या विस्मय भाव में अन्तर्भाव करना कवि तथा सहृदय दोनों की प्रकृति रस के वर्णन तथा आस्वादकालीन स्थिति के प्रतिकूल सा प्रतीत होता है । हमारे विचार में अद्भुत रस के सम्बन्ध में डा० काले की धारणा परंपरा मुक्त होने के कारण स्पष्ट नहीं है । पहली बात तो यह है कि डा० वाटवे ने प्रकृति रस का केवल अद्भुत रस में अन्तर्भाव ही किया है । साथ ही सम्पूर्ण प्राकृतिक सौंदर्य वर्णन का अद्भुत में समाहार न संभव है न उचित । किन्तु यह कहना कि "विस्मय विमुग्धकारी असम्भाव्य

---

1. डा० वाटवे : रस विमर्श : पृ० 253, यही पृ० 155 पर उद्धृत ।
2. वही, पृ० 143.
3. वही, पृ० 143.

ऐन्द्रजालिक पदार्थ वर्णनों पर अधिष्ठित है, उचित नहीं है, जैसा कि हम पहले ही सिद्ध कर चुके हैं । विस्मय तत्त्व जीवन और काव्य के सम्पूर्ण अभिनव सौन्दर्य तत्त्वों को अपने में समेटने में समर्थ होता है । नूतनता से अवधान, अवधान से रागमूलक आकर्षण और उसके कारण विस्मय विमुग्ध स्थिति से सहृदय अपरिचित नहीं है । उन्होंने एक और विचित्र बात कही है कि — "अद्भुत रस के आलम्बन अप्राकृतिक पदार्थ तथा विस्मयकारी कार्य भी हो सकते हैं परन्तु प्रकृति रस के नहीं ।" यहां निवेदन है कि अद्भुत और प्रकृति रस को पर्याय के रूप में न किसी ने माना है न मानना चाहिए । विस्मय का क्षेत्र निश्चय ही प्रकृति रस से व्यापक है । जहां तक कवि प्रकृति पर मुग्ध होता है और उसके विराट तथा रहस्यमय रूप को देखकर कुतूहल तथा जिज्ञासा से पूर्ण होता है वहां तक प्रकृति चित्रण में अद्भुत रस का प्रभाव है, इसे स्वीकार किया है। वस्तुतः उदात्त एवं सौन्दर्यमयी प्रकृति के चित्रण प्रसंग विस्मयमूलक प्रशंसा का उद्रेक अनुभव सिद्ध है । सौंदर्यभावना में रीति और विस्मय दोनों तत्त्वों का सम्मिश्रण होता है । परिणामतः आकर्षण और प्रशंसा की स्थिति ही सौंदर्य भावना को परिपूर्ण करती है । अतः प्रकृति रस में विस्मय का महत्त्वपूर्ण योग है, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता ।

चमत्कार चन्द्रिका के आधार पर चर्चा की जा चुकी है कि काव्य के सौंदर्य वर्द्धक और चमत्कार को उत्पन्न करनेवाले गुण, रीति, रस, वृत्ति, पाक, शय्या और अलंकार ये सात तत्त्व हैं ।[1] अतः रस एवं अलंकार को छोड़कर क्रमशः इनका विवेचन प्रस्तुत है। रस एवं अलंकार का विवेचन अन्यत्र विस्तार से किया गया है ।

अद्भुत रस और वृत्ति :

भरतमुनि का विवेचन नाट्य के सम्बन्ध में था । अतः उन्होंने नाट्यशास्त्र में सात्वती, भारती, कैशिकी एवं आरभटी नामक चार वृत्तियों का उल्लेख किया है ।

---

1. चमत्कार चन्द्रिका : विश्वेश्वर, पृ० 2.

उनके अनुसार सात्वती का प्रयोग वीर, रौद्र तथा अद्भुत रस में तथा भारती का प्रयोग करुण एवं अद्भुत रस में करना चाहिए । शिंगभूपाल तथा विश्वनाथ ने भी भरत के ही अनुकरण पर इन्हीं चार वृत्तियों का उल्लेख किया है ।

वस्तुतः भारती शब्द वृत्ति है[1] और शेष अर्थ वृत्तियां हैं । इसीलिए अभिनव भारती में 'पाठ्य प्रधाना' अथवा 'वाग्वृत्ति' कहा गया है । भरतमुनि ने स्वयं इसे 'वाक् प्रधाना' कहा है ।[2]

इससे स्पष्ट है कि भारती वृत्ति रूपक प्रबन्धों में चित्रित चरितों का वाग्व्यापार है । ऐसी दशा में कलात्मक सौंदर्य एवं तज्जन्य विस्मय का भारती में समावेश उचित ही है ।

अद्भुत रस से सम्बद्ध दूसरी वृत्ति सात्वती है । इस वृत्ति का अभिप्राय जहां अनुकार्य पुरुषों के विविध मानसिक व्यापार के साथ ही उनके आंगिक वाचिक और सात्विक अभिनय से युक्त होना है वहीं अनुकर्ता नट के मानस कार्य-कलाप का भी इसमें समाहार होता है ।[3] सात्वती वृत्ति का सम्बन्ध सात्विक अभिनय से है और इसमें वीर, रौद्र तथा अद्भुत रसों के अभिव्यंजन की शक्ति निहित है । धर्म प्रेमी वीर पुरुषों का मनोव्यापार सात्वती की कल्पना का मूल है ।

---

1. (क) भाषतो वाक्यभूयिष्ठा भारतीयं भविष्यति – ना०शा० 22/9.
   (ख) आसां तु मध्ये वृत्तीनां शब्दवृत्तिस्तु भारती ।
   तिस्रोऽर्थ वृत्तयश्शेषाः तच्चतस्रो हि वृत्तयः ।।
   –रसार्णव सुधाकर – शिंगभूपाल 1/286.
2. सा वाग्प्रधाना पुरुषप्रयोज्या×××भारतीनाम भवेत्तु वृत्तिः–ना०शा० 22/25.
3. वागंगाभिनयवती सत्वोत्थानवचन प्रकरणेषु। सत्वाधिकारयुक्ता विज्ञेया सात्वती वृत्तिः । वीराद्भुत रौद्र रसा निरुक्त शृंगार करुण निर्वेदा। उद्धृत पुरुष प्राया परूपराधर्षण कृता च । – ना०शा०, 20/42-43.

इसीलिए धीरोदात्त नायक के मानसिक व्यापार का विश्लेषण सात्वती के रूप में किया जा सकता है । इस सम्बन्ध में शृंगार, करुण तथा निर्वेद का निषेध किया गया है । उसका उद्देश्य यह है कि उत्साह क्रोध और विस्मय भावों के आवेश में मानसिक व्यापार जितना उदात्त और स्फूर्तिमन्त होता है, उतना उक्त भावों में नहीं । विस्मयावेश की आनन्दमयी स्थिति में व्यक्ति के मन की स्फूर्ति कुछ विचित्र होती है । कभी भावों का परिस्पन्द मन को अधिक से अधिक ऊपर उठाता है तो कभी आवेश में जिधर चाहे उधर चल पड़ता है । सहसा मनोदशा की उच्चावच भूमिका एक व्यापक और स्फूर्तिमय व्यापार का सृजन करती है ।

परवर्ती काल में जब वृत्तियों को काव्यरस से सम्बद्ध किया गया तो वहाँ भी वर्ण्यचरित के सम्पूर्ण सक्रिय व्यक्तित्व और काव्य की वृत्ति में बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव देखा गया और ऐसा अनुभव किया गया कि जब तक कवि का हृदय वर्ण्य चरित्र से पूर्णतः उपरक्त नहीं हो जाता तब तक काव्य सृजन सम्भव नहीं है । इस तरह वृत्तियों का अनभिनेय काव्य से भी सम्बन्ध हो गया । सिद्धान्ततः वृत्ति तत्त्व एक ही है । जैसे व्यक्तित्व एक असंभिन्न तत्त्व है किन्तु कायिक वाचिक और मानसिक व्यापारों का परस्पर प्रति संक्रमण अपरिचित नहीं है उसी प्रकार विश्लेषण की दृष्टि से उपर्युक्त व्यापारों के प्राधान्य को देखकर चार वृत्तियाँ कही गयी है ।

परवर्ती काल में भोज आदि आलंकारिकों से प्रभावित होकर विश्वेश्वर ने भी वृत्तियों के छः भेद स्वीकार किये हैं और चित्तवृत्ति की चार अवस्थाएँ कल्पित

---

१. शब्दोल्लिखितं मनः प्रत्ययं विना रंजकस्य काव्य व्यापार परिस्पन्दस्यासंभवात् ।
××× आश्रोढि वर्णनीयत्वेन कवि हृदये व्यवस्थिताभ्यः काव्यमुत्पद्यते ।
नाट्य इति च प्रस्तावापेक्षम् । तेनानभिनेयेऽपि काव्ये वृत्तयो भवन्त्येव ।
नहि व्यापार शून्यं किंचित् वर्णनीयमस्ति ।
— नाट्यदर्पण : तृतीय विवेक ।

की हैं ।[1] वहीं पर हास्य और अद्भुत को ईषत् मृदु माना गया है ।[2] प्रतापरुद्रीय और रसदीपिका में भी हास्य शान्त और अद्भुत को ईषत् सुकुमार कहा गया है[3] और उन्होंने ईषत् सुकुमार संदर्भ में भारती वृत्ति का विधान किया है तथा उसकी व्याख्या करते हुए लिखा है कि जहां पर ईषत् सुकुमार हास्य, शान्त और अद्भुत का ईषत् सुकुमार संदर्भ में संगुंफन किया जाता है, वहां भारती वृत्ति होती है ।[4]

अतः स्पष्ट है कि नाट्य की भांति काव्य चरित्रों में भी जहां सुकुमार वृत्तियों का विवेचन सुकुमार शब्दावली में होता है, वहां सात्वती और भारती वृत्तियां होती हैं और उनमें मन का आवेग उन्मुक्त रूप से प्रवाहित होता है ।

अद्भुत रस और रीति :

कालान्तर में वृत्तियों के स्थान पर 'रीति' 'मार्ग' और 'पन्था' जैसे शब्दों का प्रयोग होने लगा है क्योंकि रीति शब्द का अर्थ भी गति है ।[5]

---

1. या विकासे च विक्षेपे विक्षोभे विस्तरे तथा
   चेतसो वर्तयित्री स्यात् सा वृत्तिः सापि षड्विधा ।
   कैशिक्यारभटी चैव भारती सात्वती तथा
   मध्यमारभटी चैव तथा मध्यम कैशिकी ।।—चमत्कार चन्द्रिका, पृ० 99.
2. मृदू शृंगारकरुणौ सकल्पौ हास्याद्भुतौ पुनः— वही, पृ० 99.
3. क— हास्यशान्ताद्भुताः किंचित् सुकुमाराः प्रकीर्तिताः—प्रतापरुद्रीय रत्नापण टीका, विद्यानाथ, काव्यप्रकरण।8/1.
   ख— ईषन्मृदुनिसर्गाश्च शान्तहास्याद्भुताः रसाः—वही, 4/77.
4. ईषन्मृद्वर्थसंदर्भा भारती वृत्तिरिष्यते — वही, 16/1.
   यत्र नाति सुकुमारा हास्य शान्ताद्भुता ।
   नाति सुकुमारेण सन्दर्भेण ग्रथ्यन्ते तत्र भारती ।। — वही, पृ० 59.
4. वैदर्भादिकृतः पन्थाः काव्येमार्ग इतिस्मृतः ।
   रींगताविति धातोस्सा व्युत्पत्यारीतिरिष्यते ।। —भोज(चमत्कार चन्द्रिका-भूमिका, पृ० 157 [illegible] उद्धृत)

डा० नगेन्द्र ने रीति के विकासात्मक स्वरूप पर विचार करते हुए लिखा है कि "अन्तर केवल यह है कि वामन ने जहां शब्द और अर्थ के शोभाकारक धर्मों के शोभाकारक रूप में गुणों को और उनसे अभिन्न रीति को अपने-आप में सिद्ध माना है, वहां आनन्दवर्द्धन तथा परवर्ती आचार्यों ने गुणों को रस का धर्म माना और उनके आश्रय से रीति को भी रसाभिव्यक्ति के माध्यम में ही स्वीकार किया । उनके अनुसार रीति, शब्द और अर्थ पर आश्रित रचना चमत्कार का नाम है जो माधुर्य, ओज तथा प्रसाद गुण के द्वारा चित्त को द्रवित दीप्त और परिव्याप्त करती हुई रस दशा में पहुंचाने में साधन रूप से सहायक होती है ।"[1]

राजशेखर ने रीति, वृत्ति और प्रवृत्ति का पृथक् पृथक् विवेचन किया है । उनके अनुसार वेश-विन्यास के क्रम का नाम प्रवृत्ति, नाच गान आदि विलास विन्यास का नाम वृत्ति और वचन विन्यास का नाम रीति है ।[2] रीतियां उन्होंने तीन मानी हैं और उनका विश्वास है कि इनमें साक्षात् सरस्वती निवास करती हुई सी प्रतीत होती है । काकु इन रीतियों वाले वाक्यों को अनेक प्रकार की बना देती है ।[3] रुद्रट ने रीतियों का विवेचन सामासिक शब्दों के आधार पर किया है । उन्होंने रस के आधार पर रीतियों का विभाजन करते हुए भयानक तथा अद्‌भुत रस को लाटी और गौड़ी रीतियों में उपयुक्त माना है ।[4]

---

1. हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास, रीतिकाल रीतिबद्ध, पृ० 79-80.
2. तत्र वेश विन्यास क्रमः प्रवृत्ति, विलासविन्यास क्रमोवृत्तिः, वचनविन्यास क्रमोरीतिः । — काव्य मीमांसा (पटना), पृ० 21.
   द्रष्टव्य— पद संघटना रीतिः । — विश्वनाथ, सा०द०, 9/1.
3. का०मी०, पृ० 75.
4. वैदर्भी पांचाल्यौ प्रेयसि करुणे, भयानकाद्‌भुतयोः
   लाटीया गौड़ीयौ, रौद्रे कुर्यादुचौचित्यम् ।।
   — काव्यालंकार, रुद्रट, 15/20.

डा० काले ने जो शृंगार, वीर, करुण, भयानक तथा अद्भुत में पांचाली और वैदर्भी रीति की बात कही है[1] वह उनका भ्रम है उससे ग्रन्थ की संगति नहीं बैठती । रसदीर्घिका में विद्याराम ने मागधी रीति का अनुमोदन किया है और उसमें भारती वृत्ति में कोमल संदर्भ योजना को उचित माना है ।[2] साहित्य-मीमांसा में पांचाली रीति को भी अद्भुत के अनुकूल माना है ।[3]

अतः निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि अद्भुत रस किंचित् सुकुमार होने के कारण तीनो रीतियों में सौन्दर्य प्राप्त कर सकता है ।

अद्भुत रस और गुण :

गुणों की संख्या के विषय में यद्यपि विद्वानों में मतैक्य नहीं है तथा बहुमत ओज माधुर्य और प्रसाद इन तीन गुणों के ही पक्ष में है । पंडित राज जगन्नाथ ने अद्भुत रस के सम्बन्ध में दो प्रकार के मत दिये हैं । उनका कहना है कि अद्भुत, हास्य और भयानक रसों में ओज और प्रसाद दोनों गुण रहते हैं, यह कुछ विद्वानों का मत है । दूसरे वर्ग के विद्वान उक्त तीन गुणों में केवल प्रसाद गुण को ही मानते हैं क्योंकि प्रसाद गुण सभी रसों और रचनाओं में सामान्य रूप से रहता है ।[4]

---

1. आधुनिक हिन्दी-मराठी में काव्यशास्त्रीय अध्ययनः डा०मनोहर काले, पृ०414.
2. (क) मागधी यथा—इयं रीतिर्हास्यशान्ताद्भुतानां प्रबन्धेयोजनीया, पृ० 53.
   (ख) हास्यशान्ताद्भुतारीत्या मागध्यर्हन्ति वर्णनम् । वृत्तिर्वैभारती तत्र संदर्भोऽपिमनाङ्मृदु । — वही, 4/80.
3. पांचाल्यामपि शोभन्ते वीरहास्याद्भुता पुनः । —सा०मी०प्रकरण6, श्लोक 89.
4. अद्भुतहास्य भयानकानाम् गुणद्वययोगित्वम् केचिदिच्छन्ति । अपरे तु प्रसादमात्रम्। प्रसादस्तु सर्वेषु सर्वासु रचनासु च साधारणः । —रसगंगाधर (चौखम्बा), प्रथम आनन, पृ० 220.
   दीप्त्यात्मविस्तृतेर्हेतुरोजो वीररसस्थितिः । चित्तस्यविस्ताद्रूपदीप्तत्वजनकमोजः ।।
   —काव्यप्रकाश, अष्टम उल्लास, पृ० 294, व्याख्याकार डा०सत्यव्रत सिंह ।

मम्मट ने ओजगुण को वीररस में माना है । उनका कहना है कि ओजगुण सामाजिक के चित्त के विस्तार रूप दीप्तत्व का जनक है । आचार्य आनन्दवर्द्धन ने भी ओज का स्वरूप चित्त की दीप्ति को ही बताया है । चित्त की दीप्ति का अभिप्राय है सहृदय के हृदय का विकास तथा विस्तार, जिसका स्वभाव एक उज्ज्वल ज्योति से मंडित होना है ।[1] स्पष्ट ही यहां कार्यकाल भाव माना गया है । चित्त विकृति एक अवस्था है, जिसका सम्बन्ध दीप्ति से है । दीप्ति एक आस्वाद विशेष है जिसको चमत्कार कहा जा सकता है । विश्वनाथ ने दीप्ति और चित्त विस्तार में कार्य कारण नहीं माना है वरन् जो चित्त विस्तार है वही दीप्ति है और वही ओज है ।[2]

हम पर्याप्त विवेचन कर चुके हैं कि विस्मय चित्त विस्तार रूप है और वीर से अद्भुत की उत्पत्ति भी सबको मान्य है, अतः अद्भुतरस में ओज गुण का होना सर्वसम्मत है इसीलिए अलंकार संग्रह में अमृतानन्द योगी ने वीर, रौद्र अद्भुत, भयानक और वीभत्स इन पांचों रसों में ओजगुण को मान्य ठहराया है ।[3]

जहां तक प्रसाद गुण का सम्बन्ध है उसे विद्वानों ने वैदर्भी रीति की भांति सभी रसों और सभी रचनाओं में समान रूप से सौन्दर्याधायक माना है । ध्वन्यालोक में प्रसाद गुण उसे माना गया है जो सहृदय के हृदय में इस प्रकार अपने आवेश को व्याप्त कर देता है जैसे सूखे काष्ठ में अग्नि अथवा जैसे स्वच्छ जल । इन्होंने लक्षणा वृत्ति से रस के धर्म को शब्द और अर्थ का गुण भी मान

---

1. दीप्तिः प्रतिपत्तुर्हृदये विकास विस्तार प्रफुल्लन स्वभावा । सा च मुख्यतया ओजः शब्द वाच्या । — ध्वन्यालोक लोचन, 2/9.

2. ओजश्चित्तस्य विस्तार रूपं दीप्तत्वमुच्यते — साहित्य दर्पण, 8/4.

3. वीर रौद्राद्भुतमयवीभत्सेष्वोज इष्यते ।
— अलंकार संग्रह, अमृतानन्द योगी, 5/13.

लिया है ।[1] मम्मट[2] तथा विश्वनाथ[3] ने भी इसी लक्षण को स्वीकार किया है । पंडितराज का मत पहले ही दिया जा चुका है । अतः स्पष्ट है कि प्रसाद गुण मन की प्रसन्नता के क्षणों में चित्त का विकास करता है । अद्भुत रस जिसका मूल स्वरूप ही चित्त विस्तार या चित्त विकास है, वह यदि प्रसाद गुण सम्भृत हो तो निश्चय ही सहृदय के हृदय को द्रवीभूत करने में समर्थ होगा ।

काव्य-पाक और अद्भुत रस :

पाक रस के अनुकूल उचित शब्द और अर्थ के द्वारा सुन्दर उक्ति के निबन्धन को पाक कहते हैं । अवन्ति सुन्दरी का कथन है कि विज्ञ सहृदयों को काव्य में गुण, अलंकार, रीति, उक्ति, शब्द तथा अर्थ का समुचित गुम्फन ही आकर्षक और स्वादु प्रतीत होता है अतः मुझे लगता है कि यही वाक्य पाक है ।[4]

वामन ने गुणों की समग्र स्फुटता और समग्रता को काव्यपाक कहा है ।[5]

---

1. समर्पकत्वम् काव्यस्य यत्तु सर्वरसान् प्रति।सप्रसादो गुणो ज्ञेयः सर्व-साधारणक्रियः । – ध्वन्यालोक 2/10.
समर्पकत्वं सम्यगर्पकत्वं हृदयसंवादेन प्रतिपत्तृप्रतीति स्वात्मावेशेन व्यापारकत्वं प्रतीति शुष्ककाष्ठाग्नि दृष्टान्तेन अकलुषीवक दृष्टान्तेन च । तदकालुष्यं प्रसन्नत्वं नाम सर्वरसानां गुणः उपचारात्तु तथाविधे व्यंग्येऽर्थे यच्छब्दार्थयोः समर्पकत्वं सदपि प्रसादः । – ध्वन्यालोकलोचन, 2/10.
2. काव्यप्रकाश, 8/70-71.
3. साहित्यदर्पण 8/7-9.
4. रसोचित शब्दार्थसुश्लिष्ट निबन्धनं पाकः यदाह – गुणालंकाररीत्युचितशब्दार्थग्रथनक्रमः स्वदते सुधियां येन वाक्य पाकः स नः मतः प्रति । – काव्यमीमांसा, पंचम अध्याय, पृ० 49.
5. गुणस्फुटत्वसाकल्ये काव्य पाकं प्रचक्षते – काव्यालंकार सूत्र 3/2/15.

वस्तुतः वामन की दृष्टि में वैदर्भी रीति में ही समस्त गुणों की स्थिति होती है । अतः उन्होंने सहृदय हृदयरंजक पाक का उदय वैदर्भी रीति में माना है ।[1] विश्वेश्वर ने चमत्कार चन्द्रिका में पाक को चमत्कार के आलम्बनों में माना है । पाक उनकी दृष्टि में अभिव्यक्ति की प्रौढ़िमा का द्योतक है । पाक की परिभाषा करते हुए उन्होंने लिखा है कि वाणी के आस्वादमेदुर परिपाक का नाम ही पाक है ।[2]

भामह ने पाक के दो प्रकार माने हैं अहृद्य और हृद्य । वामन ने भी पाक के दो ही भेद किये हैं । राजेश्वर ने नौ भेद किये हैं । विश्वेश्वर ने मृदु और खर दो भेद किये हैं ।

यद्यपि आचार्यों ने पाक का सम्बन्ध किसी रसविशेष से नहीं किया है, तथापि यह कहने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि अभिव्यक्ति की पूर्णता अथवा उक्ति की प्रौढ़ता आस्वादजन्य आनन्द को प्रदान करनेवाली और काव्य में चमत्कार उत्पन्न करनेवाली है ।

अद्भुत रस और शय्या :

शय्या शब्दों की वह अत्यन्त परिनिष्ठित योजना है जिसमें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता ।[3] वामन ने यही विशेषता पाक की बतलायी है और भोज ने शय्या और पाक को क्रमशः अलंकार और शब्द गुण में समाहित कर दिया । यों तो शय्या और पाक दोनों का सम्बन्ध काव्य के उस बहिरंग तत्त्व

---

1. उदयति हि सतामुद्यं क्वापि वैदर्भरीतौ ।
   सहृदय हृदयानामुज्जवः कोऽपि पाकः ।।—काव्यालंकारसूत्र, 3/2/15.
2. पाकं वाचां परं पाक माहुरास्वादमेदुरम् । — चमत्कारचन्द्रिका, विश्वेश्वर, पृ० 102.
3. शय्या पदानामन्योन्यमैत्री विनिमयासहा — वही, पृ० 5.

से है जो अपनी समग्रता और प्रौढ़ता के कारण आस्वाद प्रदान करते हैं किन्तु वस्तुतः पाक का सम्बन्ध कौशलपूर्ण होते हुए भी हृदयमूलक है जबकि शय्या कौशलकर्म की आत्यन्तिक परिणति से सम्बन्ध रखती है । पाक की अवधारणा रसानुगुण है, जबकि शय्या कलामूलक है ।

अद्भुत रस बुद्धि प्रधान है :

श्री रामदहिन मिश्र ने मानसिक अवधान के आधार पर रसों के तीन विभाग किये हैं । (1) ज्ञान सम्बद्ध, (2) भाव सम्बद्ध और (3) क्रिया सम्बद्ध । इनमें ज्ञान सम्बद्ध के अन्तर्गत उन्होंने शान्त, अद्भुत और हास्य को माना है तथा गुणों के आधार पर अद्भुत में सतोगुण की स्थिति स्वीकार की है ।[1] इसी प्रकार मराठी में डा० बहिरटपांडे ने दो वर्गों में रसों को विभक्त किया है :— (1) बुद्धिजन्य तथा (2) मनोजन्य ।[2] बुद्धिजन्य के अन्तर्गत उन्होंने केवल अद्भुत और विनोदन (हास्य) को लिया है तथा यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि विसंगति बौद्धिक वृत्ति है और इन दोनों रसों के मूलप्रेरक के रूप में विसंगति है अतः ये बुद्धिजन्य रस है ।

मनोवैज्ञानिक भी मूलवृत्ति जिज्ञासा को मानते हैं जो नवीन वस्तुओं के अन्वेषण की प्रवृत्ति है । इसी जिज्ञासा से विस्मय का उदय होता है । डा० नगेन्द्र का विचार है कि — "निर्वेद या शम एक शुद्ध मनोविकार नहीं है । एक से अधिक मनोविकारों का सम्मिश्रण होने के कारण तथा बौद्धिक तत्त्व का प्राधान्य होने के कारण यह एक व्यवस्थित मनोदशा ही है । अद्भुत रस का स्थायीभाव विस्मय भी स्पष्टतः ही एक मिश्र भाव है ।"[3]

---

1. काव्यदर्पण, द्वि० सं०, पृ० 162–63.
2. मराठी मानस शास्त्र : लेखांक प्रथम, ज्योत्स्ना, 1941. में प्रकाशित लेख डा० काले द्वारा पृ० 152 पर उद्धृत ।
3. रससिद्धान्त : डा० नगेन्द्र, पृ० 222.

स्पष्ट है कि मिश्रभाव में बौद्धिक तत्व की प्रधानता मानी गयी है। यों न तो कोई भाव विचार से रहित होता है और कोई विचार भावशून्य। अतः काव्य में बौद्धिकता एवं भावात्मकता को सर्वथा पृथक् नहीं किया जा सकता, किन्तु बुद्धि सदैव भावना की अनुगामिनी सेविका के रूप में आती है[1]।

क्रोचे ने साहित्य बोध या रसास्वाद को बौद्धिक आनन्द के रूप में स्वीकार किया है[2] और उन्होंने भावों के दो भेद किये हैं – मौलिक भाव एवं परतंत्र भाव। मौलिक भाव के भी दो वर्ग है – पहले वे जो सीधे मनोलक्ष से या बुद्धि की प्रेरणा से उत्पन्न होते हैं – केवल आश्चर्य। दूसरे जो भावानुभूति से सम्बद्ध हैं – प्रेम, घृणा, इच्छा, आनन्द, शोक।[3]

अतः यह मानते हुए भी कि विलय बुद्धि से आरम्भ होता है हम यह कहना उचित समझते हैं कि 'काव्य में बुद्धि हृदय से अनुशासित होकर ही सक्रियता पाती है।[4] अतएव रामचन्द्र शुक्ल का कथन है कि –"स्थायी दशा में भाव का अधिकार बुद्धि पर भी हो जाता है अर्थात् निश्चयात्मिका वृत्ति भी भाव के आदेश पर परिचालित होने लगती है।"[5]

---

1. In literature there is no such thing as pure thought, thought is always the handmaid of emotion.
   - The Problem of Style, Page 73.

2. Aesthetic experience, according to him, is intellectual joy, accompanied by a 'passion' or 'emotion' that may be aroused by reading a strange venture, a creation of free imagination or by presentation of it on the stage.
   - Western Aesthetics : K.C. Pandey, Page 177.

3. वही, पृ० 190-210.
4. महादेवी वर्मा, काव्यकला शीर्षक निबंध, महादेवी का विवेचनात्मक गद्य, पृ० 20 पर उद्धृत।
5. रसमीमांसा, पृ० 150.

अष्टम अध्याय

चिन्मय तत्त्व परिपाक एवं आस्वाद

अष्टम अध्याय

विस्मय तत्त्व का परिपाक एवं आस्वाद

हम द्वितीय अध्याय में इस विषय पर विस्तृत रूप से विचार कर चुके है कि हमारे अवधान के आकर्षण का मुख्य प्रेरकतत्त्व नूतनता है । यद्यपि नूतनता के विधायक अनेक तत्त्व हैं किन्तु मुख्य रूप से प्रेरणादायक तीव्रता एवं विरोध हैं । तीव्रता का तात्पर्य है किसी वस्तु, भाव या विचार में पूर्वापेक्षया मात्रात्मक या गुणात्मक आधिक्य । यह आधिक्य अपनी उपस्थिति से वस्तु, अनुभूति या बोध में अपूर्वता एवं तत्क्षण अनोखापन एवं वैचित्र्य उत्पन्न करता है जिसे हम नूतनता के नाम अभिहित करते हैं । विरोध अनुभव एवं संस्कार के धरातल पर पूर्व संचित रूप, गुण, स्वभाव आदि की तुलना में अतिशयतायुक्त उत्कृष्ट, अपकृष्ट, लघु या महान से जन्म लेता है । परिणामतः उपलब्धि अपनी अपूर्वता के कारण अन्ततः नूतनता की ही परिधि में आ जाती है । यह नूतनता चेतना को एक सुखद झटका देकर विस्तृत करती है जिससे विस्मयतत्त्व की उपलब्धि होती है । अतः विस्मयतत्त्व का प्रधान आलंबन नूतनता है ।

विचारकों ने इसी नूतनता को सौन्दर्य या रमणीयता के नाम से पुकारा है । जहां तक साहित्य का प्रश्न है, उसमें नूतनता का अनिवार्य एवं अप्रतिम योग है । कवि की कल्पना या प्रतिभा तत्त्व एवं निर्मिति दोनों धरातलों पर सामान्य या स्वाभाविक में असामान्य या अस्वाभाविक का अन्वेषण करके अथवा संगति में असंगति या असंगति में संगति का अनुसंधान करके कथन में एक ऐसी विचित्रता, भंगिमा या लोकोत्तरता की सृष्टि करती है, जिससे सहृदय का हृदय सहसा आकृष्ट, अभिभूत एवं चमत्कृत हो जाता है । इस नूतनता का जो आस्वाद सहृदय को प्राप्त होता है, उसका एक पक्ष सौंदर्य है तो दूसरा विस्मय । वस्तुतः प्रत्येक सौंदर्य का आस्वाद विस्मय रूप

ही होता है और प्रत्येक विस्मय एक अभिनव सौंदर्य का उन्मीलन करता है । अतः सौंदर्य एवं विस्मय अन्योन्याश्रित होते हुए एक-दूसरे के पूरक एवं प्रेरक भी है ।

जहाँ तक कविकर्म का सम्बन्ध है, उसका मुख्य आधार निर्मिति या अभिव्यक्ति है । यद्यपि तत्त्व का अयस् भी कल्पना के पारस-स्पर्श से सुवर्ण हो जाता है किन्तु सौन्दर्य सृष्टि का मूल उपादान एवं अनिवार्य माध्यम भाषा है । इसी भाषा की सौन्दर्य से अनुप्राणित काव्यात्मक विशिष्ट अभिव्यक्ति को 'सूक्ति' कहते हैं ।

इस सूक्ति में चमत्कार उत्पन्न करने के लिए जहाँ एक ओर तत्त्व की वैचित्र्य एवं वैलक्षण्य के साथ योजना की जाती है, वहीं विलक्षण कथ्य को अभिव्यक्त करने के लिए तदनुरूप विलक्षण शब्दों का चयन किया जाता है । फलतः वाग्वैदग्ध्य एवं उक्ति वैचित्र्य का मणि-कांचन संयोग होता है । इस प्रकार की रचना को सूक्ति, सुभाषित, सौशब्द्य आदि नामों से पुकारा जाता है । सूक्ति की भी अपनी एक विलक्षण रम्यमानता है। सहृदयों का अनुभव साक्षी है कि कर्णामृत सूक्ति रसायन का आस्वाद कितना हृदयावर्जक होता है । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तथा लक्ष्मी-नारायण सुधांशु जैसे विद्वानों ने यद्यपि सूक्ति को प्रथम श्रेणी का काव्य नहीं स्वीकार किया है किन्तु इतने से ही सूक्तियों का महत्त्व नहीं समाप्त हो जाता । संस्कृत के अनेक आचार्य, जिन्हें अलंकारवादी कहा जाता है, इसी सौशब्द्य के उपासक हैं ।

सूक्ति के प्रति रसवादी आचार्यों की उपेक्षा का कारण यह है कि जब दर्शन के प्रभाव से काव्य के आत्मतत्त्व का विचार ही काव्य के आस्वाद का मानक बन गया तो नाट्यशास्त्र से उधार लिये गये भाव-रस को ही काव्य का भी सर्वस्व मान लिया और सूक्ति रस नगण्य हो गया जबकि सत्य यह है कि काव्य में भाषा का महत्त्व अक्षुण्ण है । डा० देवराज का तो स्पष्टमत है कि 'भाव कविता नहीं, शब्द अथवा भाषा ही कविता है – वह भाषा जिसमें शब्द परस्पर विरोधी जटिलता,

संघर्ष, बौचातानी और व्याकुलता में आबद्ध रहते है, और इसी रूप में वह सार्थकता की सिद्धि का लाभ करते हैं । एक विशेष ढंग से भाषा का प्रयोग ही कविता है ।[1] उनके मत में श्रेष्ठ या क्रान्तिकारी कवि उसीको कहना चाहिए जो भाषा को एक नूतन भावभंगी से सम्बद्ध करके प्रस्तुत करता है ।[2]

अतः सूक्तियों में जहाँ एक ओर कल्पना के योग से तत्व में अतिशयता का सन्निधापन होता है, वहीं अलंकार, प्रतीक, बिम्ब, अप्रस्तुतविधान आदि के माध्यम से अभिव्यक्ति में भंगिमा उत्पन्न करके विस्मयावह काव्य की सृष्टि की जाती है ।

प्रसंगतः काव्य-भाषा की चमत्कारजनकता का विश्लेषण भी आवश्यक है । काव्य का अर्थतत्व जहाँ कवि के समग्र मानस परिवेश का पर्याय है, वहीं शब्द तत्व उस परिवेश को बाह्य यथार्थ के साथ रागात्मक धरातल पर जोड़ने का उपादान है । चूँकि कवि की अवधारणाएँ एवं बौद्धिक प्रक्रियायें उसके संवेगिक उद्वेलन का कारण होती है, अतः कवि को शब्द की रूढ़ एवं पारम्परिक अर्थवत्ता का परित्याग करके नवीन भावभूमियों के अनुकूल, नवीन अर्थव्यंजक शब्द-संरचना करनी पड़ती है । शब्दों में निहित रूढ़ अर्थों के पीछे जो विशिष्ट भंगिमाएँ झलमलाती रहती हैं, उन्हें नया विन्यास एवं नया प्रभाव देने से ही काव्य में वैशिष्ट्य उत्पन्न होता है ।

सामान्यतः शब्द का व्यवहार एक सामान्य सामाजिक चेतना के अनुकूल होता है, किन्तु काव्य की निर्मिति के क्षणों में वह अनेक विशिष्ट संदर्भों, अवधारणाओं एवं आनुभूतिक स्पंदनों आदि से संयुक्त होकर कवि की मानसिकता के साँचे में ढल जाता है ।

---

1. साहित्य का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, डा० देवराज, पृ० 27.

2. वही, पृ० 23.

जब पारम्परिक शब्द नवीन अर्थवत्ता से संश्लिष्ट होकर सूक्ष्म एवं जटिल अर्थ संघात की अभिव्यक्ति करते हैं, उस समय वाच्यार्थ अनुपपन्न हो जाता है। लक्षणाशक्ति के द्वारा जब इसी तार्किक असंगति को संगति से अन्वित करके अर्थग्रहण होता है, तो एक विशिष्ट चमत्कार की सृष्टि होती है ।

तुम्हारे छूने में था प्राण, संग में पावन गंगास्नान
तुम्हारी वाणी में कल्याण त्रिवेणी की लहरों का गान ।।[1]

यहाँ 'प्राण' शब्द को लें । 'प्राण' सामान्यतः जीवन का उपलक्षण है किन्तु इस उक्ति में कवि का मुख्य अर्थ है कि "प्रिये तुम्हारे स्पर्श से मुझ में प्राणों का संचार हो जाता था ।" स्पष्ट है कि न तो कवि निष्प्राण है और न ही किसी नारी के स्पर्श से मृतक को जीवन प्राप्त हो सकता है । अतः वाच्यार्थ की अनुपपन्नता के कारण वाच्यार्थ से सम्बद्ध अर्थ भंगिमा प्राप्त होती है कि "प्रिये तुम्हारे स्पर्श से मुझ में एक नयी जीवन्तता आ जाती है ।" तुम मेरे लिए उल्लास एवं कर्मण्यता की शक्ति प्रदान करनेवाली हो । इसी प्रकार गंगास्नान में संसर्गजन्य पुनीतता के साथ मल आदि दोषों से मुक्ति अथवा वासना की निवृत्ति का अर्थ तथा 'त्रिवेणी की लहरों का गान' में कलकल ध्वनि की माधुरी से मण्डित वाणी की पवित्रता का अर्थ प्राप्त होता है ।

अथवा बच्चन की इन पंक्तियों में —

मिट्टी का तन, मस्ती का मन,
क्षण भर जीवन मेरा परिचय ।।[2]

प्रत्यक्षतः तो प्याले का आत्मकथन है, किन्तु कवि का अभिप्राय मानव शरीर की नश्वरता को ही अभिव्यक्त करना है । संसार की असारता और क्षणमात्र में टूट

---

1. पल्लव, सुमित्रानन्दन पंत, पृ० 72.
2. सोपान, हरिवंशराय बच्चन, पृ० 47.

जानेवाला नश्वर शरीर इस संसार में इतीतिए काव्य है कि उसमें 'मस्ती का मन' है । तात्पर्य यह है कि यद्यपि मेरा जीवन भौतिक उपादानों से निर्मित है और इसके स्थायित्व का कोई भरोसा नहीं है, फिर भी इन सीमित क्षणों को आनन्द और उल्लास से जी लेना चाहिए ।

काव्य में वाच्यार्थ के अतिरिक्त अन्य अर्थों के जो अनुषंग एवं संस्कार सम्पृक्त रहते हैं उनकी अर्थवत्ता व्यंजना शक्ति के द्वारा व्यक्त होती है । व्यंजना शक्ति भी दृढ़ अर्थतत्व की आधारभूमि में नवीन संदर्भों, परिदृश्यों एवं मानसिकता से संश्लिष्ट होकर नूतन अर्थ व्यंजना करती है जिसमें परिवेश के साथ समीकरण के क्षणों में संगति एवं विसंगति की अनंत अरूप छायाओं का संक्रमण - प्रतिसंक्रमण होता रहता है । एक उदाहरण देखिये :—

कालिमा घुलने लगी, घुलने लगा आलोक
इसी निभृत अनन्त में बसने लगा अब लोक ।।[1]

शारदी ज्योत्स्ना के स्निग्ध वातावरण में श्रद्धा का सान्निध्य मनु के हृदय को अवसादहीन बनाता जा रहा है और आनन्द का आलोकवादी स्वरूप निरंतर प्रगाढ़ होता चला जा रहा है । अंधकार के नाश और प्रकाश के उदय की पृष्ठभूमि में यह चित्र मनु की अनुभूति को बड़े ही सशक्त ढंग से व्यक्त कर रहा है । इसीके साथ एक तीसरा चित्र भी कवि के अवचेतन में जुड़ा हुआ है । वह है साबुन से वस्त्र धोने का बिम्ब । चन्द्रमा मानो साबुन की टिकली है और यह अनन्त अंबर मलिन वस्त्र ज्यों ज्यों साबुन घुलने लगता है त्यों त्यों मलिन वस्त्र की मलिनता घुलने लगती है और साबुन का फेन जैसे मलिन वस्त्र की मलिनता को मिटाता हुआ बुद बुद के रूप में घेरे वस्त्र पर छा जाता है, ठीक इसी प्रकार संध्या के शांत वातावरण में तारे जगमगाने लगे हैं और इसीप्रकार मनु के अन्तर में अनन्त कामनाओं का विस्तार होने लगा है । यहाँ कालिमा शब्द में

---

1. कामायनी, वासना सर्ग, प्रसाद ।

अवसाद, तिमिर एवं मलिनता की छाया में एक साथ संश्लिष्ट होकर एक संघादी प्रभाव जगाती है । आलोक में उल्लास, प्रकाश आदि का संक्षोभण है । आलोक के घुलने में क्रमशः तीव्रता एवं घनत्व की व्यंजना है ।

दूसरी पंक्ति में वातावरण के परिणामी प्रभाव का समन्वय किया गया है । श्रद्धा का व्यक्तित्व वातावरण के साथ समीकृत होकर अपने सौंदर्य की दीप्ति से मनु के हृदय में जिस संवादी आनंद-धारा की सृष्टि कर रहा है, उसके कारण मनु में अनंत कामनाओं का उदय अस्वाभाविक नहीं है । साध्य अंधकार की पृष्ठभूमि में चमकता हुआ चन्द्रबिम्ब आकाश में है तो उसी वातावरण में श्रद्धा का मुख भी पूर्ण चन्द्रमा की भाँति देदीप्यमान है। इस प्रकार श्रद्धा के मुख का चन्द्रमा के साथ साम्य, व्यंग्य होकर अतिशय चमत्कारजनक है ।

एक अन्य रचना देखिए । कवि नैनीताल गया हुआ था । बदली के कारण न धूप के दर्शन हुए और न प्राकृतिक दृश्य का आनंद प्राप्त हुआ । अतः कवि के मन में जो खीझ और असंतोष भरा हुआ था, उसे उसने इन शब्दों में व्यक्त किया —

आये थे हम तेरे रूप के लिए
तरस गये अंजुरी भर धूप के लिए
चंचल घाटी ने बाँटी इतनी पीर
धरती पर उग आई दर्द की लकीर
माटी का फटा जिया क्यों कोई सिये ?
प्यास नयन की, बादल किस तरह पिये ?

रूप की उद्दाम तृषा, सौंदर्योपभोग की बुभुक्षा, अतृप्ति, उत्कंठा, पीड़ा जैसे न जाने कितने अवचेतन में छिपे हुए भाव उस परिवेश में उद्दीप्त हो उठे ।

---

1. हरिराम द्विवेदी की एक अप्रकाशित रचना ।

रूप दर्शन के लिए गया हुआ कवि 'अंजुरी भर धूप' के लिए तरस गया है । वस्तुतः 'अंजुरी भर धूप' में जहाँ एक ओर धूप को पकड़ लेने की आतुरता है, वहीं एक अंजलि से नापने योग्य एक छोटे से धूपखंड के अभाव का संकेत धूप के अत्यन्ताभाव का चमत्कारपूर्ण कथन है ।

रूपदर्शन के लिए जाना और धूप के लिए तरसना में प्रत्यक्षतः विसंगति है किन्तु धूप से ही रूप का दर्शन संभव है, इस संगति में परिणत होते ही यह चमत्कारजनक हो उठती है । वस्तुतः बादलों के अवगुंठन में छिपी हुई धूप के लिए तरसना रूप के लिए ही तरसना है । यदि कोई घूंघट हटा लेता तो क्या उस आलोकमय रूप का दर्शन कवि को न प्राप्त होता ? इस अनुप्ति के कारण कवि का वेदनासिक्त मन सर्वत्र प्रकृति में पीड़ा का दर्शन करता है और उसे झरने के जलप्रवाह में पीड़ा ही पीड़ा दिखायी पड़ती है ।

चंचल झरने की चंचलता बादी पर आरोपित करके लाक्षणिकता का सौंदर्य उभारा गया है । समतल के जलप्रवाह को दर्द की लकीर बताकर उस आई क्रिया के द्वारा अपेक्षाकृत स्थिरता प्रदान की गई है । प्रवाह के दोनों कूलों के न मिल सकने के भाव को 'क्यों कोई सिये' बड़ी सुन्दरता से व्यक्त कर रहा है और इस तरह बादल पीने से आँखों की प्यास नहीं बुझती का मुहावरेदार प्रयोग कम आकर्षक नहीं है ।

यहाँ शब्द और अर्थ की अनुपपन्नता के योग से एक अतिशायी अर्थ की व्यंजना और लाक्षणिकता की विशिष्ट भंगिमा से मूल अर्थ के ग्रहण एवं त्याग की युगपद् स्थिति समन्वित होकर एक विशिष्ट चमत्कार की सृष्टि कर रही है ।

अतः शब्द शक्तियों के चमत्कार से बुद्धि की अग्राह्यता जब ग्राह्यता में परिणत होती है, तो निश्चित रूप से भावक का आनुभूतिक धरातल विस्तृत एवं विकसित होता है और वह कुछ क्षण के लिए उस चमत्कारजनक काव्यसृष्टि

में सो जाने के लिए अथवा वाह ! वाह ! करके झूम उठने के लिए विवश हो उठता है । फलतः ऐसे स्थलों में विस्मय तत्व का परिपाक एवं आस्वाद सहृदय के हृदय को अभिभूत करने में समर्थ होता है ।

यद्यपि काव्य एकभाषिक संरचना है, अतः निर्मितिगत समस्त सौंदर्य शब्द-सौंदर्य में ही अन्तर्भुक्त हो जाता है तथापि विशिष्ट प्रकार के चमत्कार को मूर्त करने की उद्दाम आकांक्षा से जब कवि अभिव्यंजना की अनन्त भंगिमाओं का प्रयोग करता है, तो अलंकार, बिम्ब, प्रतीक आदि का आश्रय लेना पड़ता है । इस कारण वैषम्य में विशिष्ट सामंजस्य एक आह्लादजनक भावात्मक आन्दोलन को जन्म देता है । अतः अलंकार आदि का विवेचन प्रस्तुत है ।

अलंकार और विस्मय तत्व :

कवि के अवचेतन में स्थित अस्पष्ट और अमूर्त अनुभूति जब अभिव्यक्ति के लिए व्याकुल हो उठती है तो उक्ति में स्वतः एक विशिष्ट भंगिमा का आवेश हो जाता है, क्योंकि नितांत प्रकृत रूप में प्रयुक्त वाणी में चमत्कार नहीं आता । अतः चमत्कार अभिधेय रूप शब्दों के माध्यम से रचना की जाती है जो वाणी के अलंकार के लिए इष्ट है[1] क्योंकि नैसर्गिक शब्दार्थों में कान्तता या रम्यता भले ही हो किन्तु उसमें विभाभयता नहीं होती । इसलिए आवेश के क्षणों में, कवि तब तक प्रयोग करता रहता है, जब तक उसके मनोजगत में अन्तर्निगूढ अनुभूति

---

1. न नितान्तादिमात्रेण जायते चारुता गिराम् ।
वक्राभिधेय शब्दोक्तिरिष्टावाचामलंकृतिः ।।
— भामह, काव्यालंकार, 1/26.

रूपायित नहीं हो जाती ।[1]

अतः सहज स्वाभाविक रूप में अनुभूति को प्रकट करने के लिए कवि की प्रतिभा के चमत्कार से जो उक्ति की भंगिमा प्रकट होती है, उसीका नाम अलंकार है । वह वाणी की सुषमा ही नहीं वरन् गरिमा भी है । इसीलिए पंत का कथन है कि "अलंकार केवल वाणी की सजावट के लिए नहीं, वे भाव की अभिव्यक्ति के विशेष द्वार हैं । भाषा की पुष्टि के लिए, राग की पूर्णता के लिए, आवश्यक उपादान है । वे वाणी के आचार, व्यवहार, रीति नीति है ।××× वे वाणी के हास, अश्रु, स्वप्न पुलक हावभाव हैं ।"[2]

बात यह है कि अनुभूति की तरलता जब अभिव्यक्ति के लिए स्वतः स्फूर्त हो उठती है तो उन क्षणों में अभिव्यक्ति की भंगिमा, अनुभूति को एक अपूर्व विच्छित्ति से रेखांकित कर देती है । उस अनुपम और अपूर्व रूप के लिए कवि को प्रयत्न नहीं करना चाहिए क्योंकि अनुभूति का आवेश अपने उत्तेजित क्षणों में अभिव्यक्ति की रमणीयता से स्वतः संवलित हो उठता है ।

अतः जहां अलंकार और अनुभूति दोनों में अद्वैत हो जाता है, वहीं काव्य में रसमयी सृष्टि होती है, किन्तु जहां अनुभूति के सहज स्तरों में न जाकर कवि अभिव्यक्ति की अतिशयता को महत्व देता है वहीं चमत्कार की संसिद्धि होती है, जो मात्र विस्मयजनक है ।

---

1. (क) अनन्ताहि वाग्विकल्पाः तत्प्रकाराश्च सर्व एवालंकाराः ।
— ध्वन्यालोक 3/37 पर वृत्ति ।
(ख) ते चादृष्यापि विकल्प्यन्ते कस्तान् कार्त्स्न्येनवक्ष्यति ।
— काव्यादर्श 2/1.
2. पल्लव की भूमिका : पंत, पंचम संस्करण, पृ० 10.

अलंकारों का दूसरा महत्त्व आंतरिक अनुभूति को अनुरंजित करना है जिससे वे सौन्दर्यानुभूति के अविभाज्य अंग बन जाते हैं । कवि की सृजनात्मक प्रतिभा जब उद्वेलित सौन्दर्य को आकार देना चाहती है तो वहाँ अलंकार स्वतः स्फूर्त हो जाते हैं । अर्थात् रस में दत्तचित्त प्रतिभावान कवि के सम्मुख अलंकार अहमहमिकया से स्वयं ही उपस्थित होते हैं ।[1]

यह स्मरण रखना चाहिए कि काव्य में अभिव्यक्त अनुभूति सामान्य जीवनानुभूति की भाँति संवेगों और अवधारणाओं का मात्र पुंज नहीं है अपितु अन्तश्चेतना के धरातल पर पुनः सृजन और समाकलन है । अतः जहाँ व्यंग्य और व्यंजक मानसिकता के धरातल पर एकाकार नहीं हो जाते वहीं कवि को चमत्कार के लिए प्रयत्न करना पड़ता है । यों तो अलंकारों का मूलाधार चमत्कार है किन्तु काव्यगत चमत्कार का आशय चेतना रूप में स्थित संस्कारों के पुनः प्रबोधन एवं अनुसंधान है । भावलोक में संचित पुरातन संस्कारों के साथ जब अभिनव ऐन्द्रिय बोध का सम्मिलन होता है, तो हृदय में एक आह्लादजनक भावात्मक आन्दोलन का जन्म होता है । अतः चमत्कार का अर्थ सौन्दर्य बोध के क्षणों में उत्पन्न उस आस्वादात्मक अनुभूति से है, जो अन्तश्चेतना के आलोड़न के कारण हृदय का विस्तार करता है । पुरातन और नवीन की इस सामंजस्य भूमि में पुरातन की नवीन पुनरावृत्ति नवीन को एक ऐसी नवीन प्रतिभा से मंडित कर देती है जो एक लोकोत्तर सौन्दर्य धारण करता है । इसीलिए सादृश्य विरोध आदि के माध्यम से अलंकार वस्तुतत्व को सौन्दर्य की अतीन्द्रिय भूमि पर प्रतिष्ठित करता है ।

---

1. अलंकारान्तराणि हि निरुध्यमाणदुर्घटान्यपि रस
समाहित चेतसः कवेरहम् पूर्विकया परापतन्ति ।।
— ध्वन्यालोक (संपादक डा० नगेन्द्र),
2/16 की वृत्ति, पृ० 147.

शब्दालंकार भी अपनी श्रावणीयता आदि के द्वारा चेतना में एक संकृति उत्पन्न करते हैं जिससे एक सुखद आवेग एवं मधुर ऊर्जा का जन्म होता है । जहाँ कवि मात्र चमत्कार सिद्धि के लिए शब्दों का कौतुक खड़ा करता है, वहाँ अनुभूति और अभिव्यक्ति का तादात्म्य विखंडित हो जाता है । ऐसे ही काव्य को चित्रकाव्य की संज्ञा दी गयी है ।

अतः अलंकारों का कार्य पूर्वानुभूत संदर्भों के साथ नये आयोगों को एक नवीन भंगिमा से अन्वित कर, देश काल और व्यक्ति की सीमा से मुक्त करना है और यही चित्त-विस्तार है, जिसके लिए अलंकार सबसे सशक्त माध्यम है ।

अलंकारों की मूल प्रक्रिया निश्चय ही अतिशयत्व है । अतिशयोक्ति, वक्रोक्ति, चमत्कार आदि शब्दों के द्वारा जिस तत्व की ओर संकेत करते हैं, वह वास्तव में विस्मयतत्व ही है । यदि कवि की दृष्टि से देखें तो अलंकार असामान्य कथन का ही नामान्तर है किन्तु सहृदय की दृष्टि से अलंकार का मुख्य उद्देश्य 'चित्त विस्तार' के अतिरिक्त और कुछ नहीं है । संगति में विसंगति और विसंगति संगति का अन्वेषण ही अतिशयोक्ति, विरोधाभास आदि अलंकारों के माध्यम से चित्त-विस्तार का प्रेरक बनता है । डा० नगेन्द्र का कथन है कि ××× अतिशयोक्ति अथवा वक्रोक्ति किसी को भी अलंकार सर्वस्व माना जा सकता है । ××× (अलंकार) बात को बढ़ा-चढ़ा कर उसके (श्रोता के) मन का विस्तार करते हैं । वाह्य वैषम्य आदि का नियोजन करके उसमें आश्चर्य की उद्भावना करते हैं । अनुक्रम अथवा औचित्य की प्रतिष्ठा करके उसकी वृत्तियों को अन्वित करते हैं । बात को घुमा फिराकर वक्रता के साथ कह कर उसकी जिज्ञासा को उद्दीप्त करते हैं अथवा बुद्धिचकोचन दिखाकर उसके मन में कौतूहल उत्पन्न करते हैं ।[1]

---

1. रीतिकाव्य की भूमिका : डा० नगेन्द्र : पृ० 86.

वस्तुतः चेतना में अतीत के संस्कार वर्तमान नूतनता में आकस्मिक साम्य देखकर चमत्कृत हो उठते हैं किन्तु जब तक कवि की कल्पना, सौंदर्य की अतीन्द्रिय भूमि का संस्पर्श नहीं करती, तब तक चमत्कार का कोई मूल्य नहीं । नवीन को प्राचीन अनुभव की परिधि में लाने तथा प्राचीन को नवीन के संस्पर्श दिलाने की प्रक्रिया में दोनों में एक नयी विद्युतित दीप्ति अथवा आभा का उद्रेक होता है ।

अलंकार केवल वे ही काव्य हैं जो भाव की अभिव्यंजना को महिमा से मंडित कर देते हैं । चमत्कार सामान्य कौतुक से सर्वथा भिन्न है । 'चन्द्रा ही तिथि पाइये वाहर के चहुं ओर' जैसी पंक्तियों में कवि की कल्पना न तो सौंदर्य की अन्तश्चेतना से आविष्ट हो सकी है और न कवि की अनुभूति के साथ तादात्म्य कर सकी है । फलतः यहाँ कौतुकजन्य चमत्कार ही है किन्तु वस्तुतः चमत्कार का अर्थ सौन्दर्य बोध के अर्धोन्मेषचेतना के उस आप्लावन से है, जो उसे उद्वेलित भी करता है और समन्वित भी । इस प्रकार की अलंकार योजना उत्कृष्ट कल्पना के द्वारा अत्यधिक गतिशील हो जाती है । एक उदाहरण लीजिए —

> थी किस अनंग के धनु की वह शिथिल किंकिनी दुहरी
> अलबेली चापलता या तन छविसर की नव लहरी ।।[1]

नायिका की बाँहों में इतनी मादकता है कि प्रिय उसमें कामदेव के धनुष की प्रत्यंचा का अनुभव करता है अतः प्रकृत का प्रतिषेध करके अन्य की स्थापना के कारण अपह्नुति अलंकार है । धनुष पर प्रत्यंचा तो केवल एक डोरी होती है और वह खिंची हुई होती है तभी लक्ष्य भेद कर सकती है । किन्तु यहाँ दुहरी और शिथिल किंकिनी से प्रेमविद्ध करनेवाला यह कौन सा अनंग है, इस प्रकार व्यतिरेक अलंकार की ध्वनि अपह्नुति के सौंदर्य को बढ़ा रही है । अनंग पुरुष-

---

1. आँसू, जयशंकर प्रसाद, पृ० 24.

सायक लेकर लोगों को आविद्ध करता है और लोगों में कामभावना उद्दीप्त होती है । यह कवि की कल्पना है । इसलिए यहाँ कविप्रौढोक्ति सिद्ध वस्तुगत अलंकार से अलंकार की योजना का सौंदर्य निखर उठा है । आगे की दो पंक्तियों में संदेह अलंकार की योजना करके कवि ने संभावनामूलक दृश्यवर्यों के द्वारा मानस प्रतिमाओं का जो संश्लिष्ट चित्र प्रस्तुत किया है, उसके द्वारा सौंदर्य की लोकोत्तरता मूलसंवेदना एवं प्रभावान्विति के साथ समीकृत होकर सम्मूर्तित हो उठी है । भुजाओं में विविध रूपों की प्रतिस्थापना के द्वारा तीन चित्र प्रस्तुत किये गये हैं । धनुष की शिंजिनी, लता तथा लहरी के संश्लेष से निर्मित रूप विस्मय एवं औत्सुक्य को जगाता है । नायिका के बाँहों में धनुष की डोरी की कल्पना उस सौंदर्य के वेधक रूप को उद्दीप्त कर यह सिद्ध करती है कि इन कोमल एवं तन्वंगी सम्पन्न बाहुओं को देखकर निश्चय ही मन अनंग के बाणों से विद्ध हो जाता है । रूप दर्शन से कामोत्तेजना के संकेत के बाद संदेह अलंकार के माध्यम से बहुलता कहकर कवि उस लहलहाते सौंदर्य से आलिंगित होने की कामना करता है । 'तनु छवि सर की नव लहरी' के द्वारा तो बाहुओं में गत्वर सौंदर्य की प्रतिस्थापना करके भुजाओं को कंठ प्रणयी बना दिया गया है । इस प्रकार अन्य वस्तुओं के रूप क्रिया और गुण का विपर्यय कल्पना के द्वारा संश्लिष्ट चित्र प्रस्तुत करके कवि ने एक अपार्थिव सौंदर्य की संभावनामूलक प्रतिमा को उत्कीर्ण करने में अपूर्व सफलता पाई है । ऐसे अलंकारों का प्रत्यय निश्चय ही विस्मयजनक होता है जहाँ कवि की कल्पना अपनी विधायिका शक्ति से संवलित होकर वस्तु और अभिव्यक्ति दोनों का असामान्य रूप से सम्मूर्तन करती है ।

पंत के 'बादल' में सादृश्यगत इसी प्रकार की कल्पना का आनन्द है, जिसमें अर्थ की मसृणता एवं शब्द की भंगिमा दोनों का संश्लेष अलंकार के धरातल पर हुआ है । उदाहरणार्थ अद्भुत आस्तुतों की योजना का यह मनोरम चित्र देखिये :—

बद्बुद द्युति तारकदल तरलित तम के यमुनाजल में श्याम
हम विशाल जम्बाल जाल से बहते हैं अमूल अविराम ।
दमयन्ती सी कुमुद कला के रजत करों में फिर अभिराम ।
स्वर्णहंस से हम मृदु ध्वनि से कहते प्रिय संदेश ललाम ।।

इन पंक्तियों में कवि की भावभूमि कला-चेतना तथा सौन्दर्य बोध के कारण एक अपूर्व आह्लादजनक विस्मय से अभिभूत कर लेती है । यद्यपि इन पंक्तियों में अनुभूति की सघनता के दर्शन नहीं होते तथापि सादृश्यमूलक औपम्य विधान द्वारा जिन रूपकों की सृष्टि की गयी है वे अपनी विलक्षणता के कारण मन में एक आह्लाद पूर्ण कम्पन उत्पन्न करने में पूर्ण समर्थ है । प्रस्तुत एवं परिचित मेघ को 'जम्बाल-जाल' अथवा हंस का रूपक देकर एक ऐसे अद्भुत एवं अपरिचित लोक का उन्मीलन किया गया है, जहां अनुभूति एवं प्रेषणीयता का संगम मानस-यात्रा को सुखान्त बनाता है । कवि की मानसिकता के प्रोद्यास की दृष्टि से अचेतन स्तर पर प्रसुप्त काम चेतना का सुसंस्कृत अभिव्यंजन हुआ है । प्रिय के ललाम संदेश के कथन के उद्दीपकत्व से सहृदय अपरिचित नहीं हैं । कल्पना की संश्लेषणात्मक शक्ति से चिरपरिचित में नित्य नवीनता का आभास आलंकारिक परिवेश में स्फीत हो उठा है। यह असाधारणता चित्त का विस्तार कर चमत्कार की सृष्टि करती है :—

इसी प्रकार बिहारी के —

तंत्रीनाद कवित्त रस सरस राग रति रंग
अनबूडे बूड़े तिरे जे बूड़े सब अंग ।।

जैसी रचनाओं में विरोध बाह्यतः आभासित होकर एक वैचित्र्यमूलक अन्विति में परिणत हो जाता है और अनेकार्थी शब्दों का प्रयोग एक ही ध्वनि से अनेक बिम्बों के स्फुरण में अभिव्यंजित होकर पुनः चेतना में एकान्वित हो जाता है ।

विरोधमूलक अलंकारों में कार्यकारण के विपर्यय से प्रभावान्विति विशृंखलित नहीं होती अपितु एक विशेष भंगिमा के साथ समीकृत हो जाती है । कार्य और कारण की देश और काल के अंश से विस्थापिता जब एक नूतन आवेग प्राप्त कर पुनः केन्द्र में अन्वित होती है तो निश्चय ही चित्त विस्तार होता है ।

अजौ तरयोना ही रह्यो श्रुतिसेवत इक अंग ।
नाक बास बेसर लह्यो बसि मुकतन के संग ।।

में इन्हीं अनेकार्थी ध्वनि घटकों के विरोधी अर्थों की बाह्य असंगति चमत्कारपूर्ण संगति में परिणत होकर निर्निमीतकन्य आस्वाद की सृष्टि करती है, क्योंकि श्लेष अलंकार में एक ही ध्वनि से अनेक अर्थछवियों का उदय होकर पुनः एकान्वयन हो जाता है ।

यमक अलंकार में विभिन्न ध्वनि निकाय पहले एक जैसे प्रतीत होते हुए विभिन्न अर्थछवियों से अन्वित होते हैं, और पुनः किसी मुक्तवीर्तनी धारा में समाहित होकर विस्मय की सृष्टि करते हैं । एक दोहा देखिए –

सुन सोता करताल, सुन सो ताकर ताल है ।
सुन सोता करताल, सुन सोता करता लहै ।।[1]

चारों पंक्तियों में एक जैसी शब्द योजना अपने संभग और अभंग रूप में इस प्रकार एक अर्थछवि से अंकित होती है कि 'श्रोताओं करताल को सुनो, करताल के

---

1. नवाब रज़ा अली खाँ रामपुर के करताल वादन की प्रशंसा में दरबार के अन्तिम राजकवि स्वर्गीय राधामोहन चतुर्वेदी की उक्ति ।

वास्तविक ताल का स्वरूप यह है (जिस प्रकार नवाब बजा रहे हैं) । इस करताल को सुनकर श्रोता शून्य अर्थात् वितर्कशून्य तन्मयता की स्थिति में पहुंच जाता है । इतना ही नहीं वह उस शून्यावस्था में स्थित होकर कर्ता अर्थात् परब्रह्म के पद को प्राप्त कर लेता है (समाधिस्थ भाव से ब्रह्मानन्द प्राप्त कर लेता है) । यहां शब्दों की आवृत्ति एक संक्षिप्त अर्थध्वनि के साथ अनिवार्य रूप से संयुक्त होकर चमत्कार के सर्जन में सहायक होती है ।

आधुनिक अलंकारों में भी विशेषणविपर्यय विशेषचमत्कारजनक होता है । चल चरणों का व्याकुल पनघट, भीगी तान, गीले गान, रंगीन ज्वाला, शीतलदाह आदि प्रयोगों में जो काव्य सौंदर्य और चमत्कार उत्पन्न होता है वह मुख्यतः साध्यवसाना लक्षणा का चमत्कार है।

संक्षेप में निर्मिति के आस्वाद के मूल कारण अलंकार हैं जो उक्ति की अतिशयता, वैचित्र्य, भंगिमा और भव्यता आदि के द्वारा समस्त निर्मिति को विस्मय की विभा से भर देते हैं ।

बिम्बविधान एवं विस्मय तत्त्व :

'काव्य-सौष्ठव का प्रेरक तत्त्व है भाव । भाव के संस्पर्श के बिना काव्य बिम्ब का अस्तित्व संभव नहीं है । तीविस ने उसे अनिवार्य माना है और ठीक ही माना है ।"[1] डा० नगेन्द्र के इन शब्दों से स्पष्ट है कि मानव मस्तिष्क पर अंकित पदार्थ की छवियों को जब रागात्मक चेतना सर्जना के लिए अभिप्रेरित करती है तभी काव्यबिम्बों का उदय होता है। ये काव्य-बिम्ब ऐसी मानस प्रतिमूर्तियां हैं, जिनमें रूप-रंग-रेखा आदि ऐन्द्रिय गुण विद्यमान रहते हैं किन्तु उनका साक्षात्कार केवल मानस-धरातल पर होता है ।

---

1. आस्था के चरण : डा० नगेन्द्र : पृ० 135.

अनुभूति के स्वच्छन्द प्रवाह में जो भी भाव, विचार, दृश्य आदि आते हैं, उन्हें इन्द्रियग्राह्य रूप में संभूर्तित करना ही काव्यबिम्ब का मुख्य उद्देश्य है । वस्तुतः ऐसे क्षणों में कवि की सौंदर्य चेतना शब्दों के माध्यम से चित्र एवं प्रतिमा का निर्माण करती है । यों तो बिम्बों के अनन्त रूप हैं किन्तु भाव के प्रेरणा से उद्बुद्ध भावसिक्त बिम्ब ही काव्य में सर्वोत्तम माने जाते हैं ।

बिम्ब विधान एवं विस्मय तत्त्व :

इन भावसिक्त बिम्बों में जहां एक ओर ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष के सभी गुण (जैसे चाक्षुष, श्रावण आदि) विद्यमान होते हैं वहीं मन के राग, विराग, स्नेह, द्वेष, आशा, निराशा आदि भावों का भी पुट रहता है । इन बिम्बों में कवि निसर्ग के साथ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न करता है ।

दूसरी ओर ऐसे बिम्ब भी होते हैं जिनमें कल्पना अनुभूतियों से प्राप्त स्मृति चित्रों को काट छांट कर एक नूतन पदार्थ या घटना का रूप दे देती है । इनके द्वारा जहां एक ओर नूतन सृष्टि होती है, वहीं जीवन के अनुभव में आने वाले अपूर्ण को पूर्ण बना देने का अवसर भी मिलता है । ये प्रतिमाएं अखंड चेतना से उद्भुत होने के कारण सम्पूर्ण एवं आलोकपूर्ण होती हैं ।

गीतिकाव्यों में इन बिम्बों के द्वारा जो लाक्ष्य तरंगित होता है, वही विस्मय का मूलाधार है । सौन्दर्य की एक मौलिक अनुभूति का बिम्ब देखिये जो अलंकरण के माध्यम से चेतना को दीप्त करने में समर्थ है—

उसके रूपों के सौ-सौ आवर्तों में पड़
बहते हुए कमल-सा मेरा मन जाने कब
एक लहर के बाहु-पाश से छूट दूसरी
लहरी के चंचल, अंचल से बंध जाता है
घोर अराजकता है प्राणों के प्रदेश में ।

दन्तकथा के राजकुंवर-सा मोहित हो मैं,
भटक गया हूँ किसी शप्त अप्सरा लोक में ।[1]

यहाँ रूप के आवर्त का लहरों के आवर्त के साथ एक अद्वैत सा हो गया है । लहरों में बहता हुआ कमल जैसे एक लहर से छूटकर दूसरी लहर में बँध जाता है, वैसे ही सौन्दर्य की एक झाँकी से छूट पाने से पहले से ही मन दूसरी सौंदर्य लहरी में आबद्ध हो जाता है । लहरों के उठने गिरने में बाहुपाश और अंचल की कल्पना उसे एक रमणी का रूप प्रदान करती है और रूप में आवर्त का बिम्ब धारा का विभ्रम उत्पन्न करते हैं । दूसरा बिम्ब दंतकथा के राजकुंवर का है और ऐसा प्रतीत होता है, मानों कवि किसी अभिशप्त अप्सरा लोक में इसलिए भटक गया है कि वह उस सौंदर्य पर मोहित हो गया है । सौंदर्य में अप्सरा का विभ्रम कम आकर्षक नहीं । इस प्रकार बिम्ब हमारी सौंदर्य चेतना के आलोकवाही बनकर काव्य में अभिव्यक्त होते हैं और अपनी प्रभविष्णुता के कारण केवल हमारे अज्ञान को ही नहीं खींचते, हमारे सम्मुख एक नये संसार की सृष्टि भी कर देते हैं और उसके माध्यम से अनुभूति के अवगाहन द्वारा चेतना में अन्तश्चमत्कार उत्पन्न करते हैं । अतः काव्य में विस्मय तत्त्व के प्रेरकों में बिम्ब का प्रमुख महत्त्व है ।

एक विस्मयजनक बिम्ब द्रष्टव्य है :—

हँसमुख गर्त बिछे पग-पग पर
भुज बाधे निश्चेतन गह्वर
गुण्ठित ज्योति-एक सहु अगणित
छायायें उपजातीं विस्मय ।[2]

---

1. सुमित्रानन्दन पंत : शिल्पी : प्रथम संस्करण : पृ० 95.
2. वही, किरण वीणा- अमर काव्य : पृ० 21.

गर्त को हँसमुख कह कर जहाँ एक ओर घाटी के प्रफुल्ल सौंदर्य का बिम्ब प्रस्तुत किया गया है, वहीं गह्वर की निश्चेतनता को 'मुँह बाये' शब्द से रूपायित किया गया है, जो प्रगाढ़ निद्रा अथवा मृत्यु के बिम्ब के साथ वातावरण की भीषण उदासी को भी व्यक्त कर रहा है । ज्योति से आवेष्टित छायाओं का सौंदर्य भी कम विस्मयजनक नहीं है । प्रकृति की विरोधाभासी शोभाओं का समायोजन अपने वैचित्र्य के साथ दर्शक को अभिभूत करने में पूर्ण समर्थ है ।

एक दूसरा सौंदर्य बिम्ब देखिए – जिसमें एक प्रसन्नवदना, लज्जाशील नारी की शोभा बिम्बों द्वारा प्रस्तुत की गयी है :—

गालों के स्वर्णोज्ज्वल जल में
लहराता माधुर्य हृदय का
उठती गिरतीं लाज वीचियाँ
कँपता धूप छाँह का विस्मय ।[1]

प्राथमिक स्वर्णिम आलोक से आमण्डित दर्पणोज्ज्वल जलाशय की शोभा में लहराती धूप-छाँही लहरों का उठना गिरना एक मोहक सौंदर्य का बिम्ब प्रस्तुत करता है । माधुर्य और लज्जा की समवेत क्रीड़ा और उसमें भी मुस्कुराने के कारण कपोलों की सिलवट देखकर किस सौंदर्यद्रष्टा का हृदय विस्मय विमुग्ध नहीं होगा । नायिका के स्वर्णिम कपोलों पर जो एक कांति झलक रही है, उसका संकेत जल में है । हृदय के माधुर्य में भोलेपन की स्पष्ट योजना है । लज्जा की थिरकन से मुखमण्डल पर जो आकर्ष या लाली फैल रही है उसके कारण वयःसंधि का धूपछाँही सौंदर्य निश्चय ही विस्मयजनक हो उठता है ।

उपर्युक्त बिम्बों में कवि ने विस्मय शब्द का उल्लेख करके यद्यपि व्यंग्य को वाच्य बना दिया है तथापि कल्पना की विलक्षणता के कारण काव्य में जो

---

1. लोकायतन : सुमित्रानन्दन पंत : प्रथम संस्क० पृ० 65.

चमत्कारजनकता उत्पन्न हो गई है, वह अनुकूल बिम्बयोजना के कारण अनेक गुणित होती हुई चमत्कृत कर रही है ।

प्रतीक विधान और विस्मय :

"प्रतीक एक प्रकार से गूढ़ उपमान का ही दूसरा नाम है । जब उपमान स्वतंत्र न रह कर पदार्थ विशेष के लिए रूढ़ हो जाता है तो वह प्रतीक बन जाता है । इस प्रकार प्रत्येक प्रतीक अपने मूल रूप में उपमान होता है ××× अतः प्रतीक एक प्रकार का अचल बिम्ब है, जिसके आयाम सिमट कर अपने अन्दर बन्द हो जाते हैं ।"[1] जब हम स्थूल एवं इन्द्रिय-गम्य प्रत्यक्ष में किसी सूक्ष्म वस्तु, भाव या विचार का आरोपण करते हैं, तो वह आरोपण युक्त पदार्थ प्रतीक बन जाता है ।

मानव का स्वभाव है कि वह प्राकृतिक और मानसिक उपादानों के अन्तराल में प्रवेश कर अपनी चेतना एवं भावना के अनुरूप उसका स्वरूपीकरण्यास करता है । अनुराग, विस्मय अथवा जिज्ञासा से आविष्ट होकर उन उपादानों में कभी तो वह अपनी चेतना का स्पन्दन खोजता है और कभी उन्हें आकार प्रदान कर उनके साथ रागात्मक सम्बन्ध जोड़ता है । अतः प्रतीक वे परंपरागत संकेत हैं, जिन्होंने अन्य वस्तुओं का प्रतिनिधित्व ग्रहण कर लिया है ।

कलाकार की अन्तर्दृष्टि कभी तो बाह्यतः विशृंखल एवं परस्पर विरोधी प्रत्ययों और अपेक्षाओं को संघटित एवं संश्लिष्ट करके नवीन रूप देना चाहती है और कभी संश्लेषण की प्रक्रिया का भेदन करके विरोध का अनुसंधान करती है । यही कारण है कि प्रतीकों के माध्यम से कवि अपनी कला चेतना में जीवन्तता, विचार-भूमि में स्पष्टता और सौंदर्य-बोध में आनन्दमयता का अनुभव करता है । प्रतीक की अपेक्षाओं का विस्तार देशकाल की सीमा से उठकर एक ऐसी

---

1. आस्था के चरण : डा० नरेन्द्र : पृ० संस्क० : पृ० 139.

सार्वभौम चेतना से सम्बद्ध हो जाता है जहाँ कल्पना को उन्मुक्त अवसर मिलता है । समान गुण और भाव वाले पदार्थ अपने संश्लिष्ट रूप में न जाने कितनी भाव परंपराओं को एक साथ संकृत कर देते हैं और इसीलिए सहृदय की चेतना का अनन्त विस्तार हो जाता है और ऐसी स्थिति में प्रतीकात्मक अर्थ अपनी विशेष लाक्षणिकता से चित्रमयता प्राप्त कर प्रकृष्ट अर्थ की व्यंजना द्वारा चित्रमय विमुग्ध कर देता है ।

प्रतीक का आधार सादृश्य या साधर्म्य नहीं बल्कि भावना जागृत करने की निहित शक्ति है ।[1] और इस भावना को जागृत करने के लिए कवि को शब्दों के प्रयोग में चमत्कार की योजना करनी पड़ती है । श्री अज्ञेय ने लिखा है कि "कभी भाषा अधिक घिसने से मुलम्मा छूट जाता है ।"[2] प्राचीन उपमान अत्यधिक प्रयोग में आने से सौन्दर्यहीन हो जाते हैं अतः जब कविगण साधारण सौंदर्य की कसौटी के लिए उस अनन्त प्रकाश से सम्पन्न शब्द सूर्य का प्रयोग कर उसे जूठा कर डालते हैं, तो किसी अलौकिक दिव्य एवम् अनूठे सौंदर्य को चमकाने की क्षमता ही प्रतीकों में नहीं रह जाती । सभी उपमान जुट्ठल हो जाते हैं तो जन मन के तमस् को काटने की शक्ति जाती रहती है" (तभी कवि पछताता है)'सब उपमा कवि रहे जुठारी । केहि पटतरिय विदेह कुमारी'(तुलसीदास) – 'पटतरना' 'पटुतरीकरण' है । जो सौंदर्य जनमन के लिए पटु है, उसे काव्य पटुतर करके प्रस्तुत करना चाहता है तो उपयुक्त उपमान अप्रस्तुत प्रतीक की आवश्यकता होती है । उपमान ही अतिशयोक्ति की भाषा में प्रतीक है ।[3] उदाहरणार्थ 'दूब' शीर्षक रचना की

---

1. चिन्तामणि, आ० रामचन्द्र शुक्ल, भाग-2, पृ० 126.
2. हरी घास पर क्षणभर, अज्ञेय, पृ० 57.
3. काव्य में रहस्यवाद, डा० बच्चूलाल अवस्थी, पृ० 235-36.

कुछ पंक्तियाँ देखिये —

काश, अगर कुछ काँटे होते
पर दुर्दैव करे क्यों ऐसा ?
क्योंकि मुझे गौ क्या गौतम का
एक नहीं सौ शाप लगा है
युगों-युगों से मेरे पीछे
दुर्बलता का पाप लगा है
इसी पाप से मुक्ति चाहती
पथ में बिछी ठोकरें खाती
जाने कब से सिर माथे पर
चरण धूलि लेती आई हूँ
शायद किसी राम का पद रज
मेरे सब अभिशाप मिटा दे ।"[1]

इन पंक्तियों में दूर्वा को समाज के दलितवर्ग के प्रतीक के रूप में प्रस्तुत किया गया है । पगडंडी पर अनायास उगी दूब लोगों के चरणों के आघात से संघर्ष करती हुई भी अपनी जीवन क्षमता के बल पर जी रही है । दूब को गोवंश से कोई शिकायत नहीं है क्योंकि वह तो सदा से ही उसका भक्षक रहा है, किन्तु शिकायत है उस शास्त्रज्ञ एवं समाज की मर्यादा के प्रवर्तक गौतम से जो उसे आशीर्वाद के बदले अभिशाप दे कर उसे अहिल्या की भूमिका में पहुँचा चुके हैं । गौ यदि मूर्ख का प्रतीक है तो गौतम ज्ञानी का किन्तु गौतम में जो (गौ तम)= मूर्खतम का व्यंग्य छिपा हुआ है वह कम चमत्कारजनक नहीं है । समाज का दलितवर्ग अपने वर्तमान को इसलिए झेल रहा है कि शायद अहिल्या की भाँति किसी राम की चरणधूलि से उसके भी दुःसमय जीवन का अंत हो सकेगा ।

---

१. लेखक की अपनी रचना ।

इन पंक्तियों में प्रतीकों के माध्यम से जिस भाव की व्यंजना है, उसे गौतम शब्द की योजना से एक नूतन चमत्कार प्राप्त हुआ है ।

प्रतीकों के माध्यम से व्यंग्य में भी चोखापन आ जाता है :—

सांप तुम सभ्य तो हुए नहीं
नगर में बसना भी
तुम्हें नहीं आया,
एक बात पूछूं उत्तर दोगे ?
तब कैसे सीखा डंसना
विष कहां पाया ?[1]

इन पंक्तियों में कवि के विस्मय का मूल है वनवासी एवं नागर सभ्यता से दूर रहनेवाले सांप में विष और दंश की स्थिति । प्रकृति के उन्मुक्त जीवन में राग-द्वेष के लिए अवकाश ही कहां है। विषदंश तो नागर सभ्यता की देन है । आभिजात्य संस्कारों के प्रति इस चुभते हुए व्यंग्य को जिज्ञासा के माध्यम से व्यक्त करके कवि ने विस्मय की सृष्टि कर दी है ।

उदात्त और विस्मयतत्व :

जो असाधारण है, महान है, अपनी अनुभूति की हमारे मन पर अमिट छाप छोड़ता है, जो हमारे हृदय का उन्नयन या उत्कर्षण करता है, लघुता को मिटाकर उच्चता प्रदान करता है और हमारी कल्पना का अनन्त विस्तार करता है, वह उदात्त है । इससे सिद्ध है कि उदात्त और विस्मय का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है जो विस्मय तत्व हमारी चेतना के क्षितिज का विस्तार नहीं करता, वह बाल-कुतूहल से अधिक नहीं, इसी प्रकार जो उदात्त महान आत्मा की प्रतिध्वनि नहीं है, वह झूठा उदात्त है, जिसमें आडम्बर हो सकता है और बालेयता हो सकती है ।

---

1. इन्द्रधनु रौंदे हुए ये, अज्ञेय, पृ० 29.

लोंगिनुस (लांजइनस) ने उदात्त के तत्वों की जो बिखरी हुई चर्चा की है, उससे डा० नगेन्द्र ने निम्नलिखित तत्व प्राप्त किये है —

(1) भाव तत्व :

इसके अन्तर्गत निम्नलिखित बातें है :—

(क) मन की ऊर्जा :— "जिससे हमारी आत्मा जैसे आप ही ऊपर उठकर गर्व से उच्चाकाश में विचरण करने लगती है" (इसी को चित्त की दीप्ति या स्फीति कहा गया है, जो विस्मय का भी आधार है) ।

(ख) उल्लास :— "तथा जिससे हमारी आत्मा" हर्ष और उल्लास से परिपूर्ण हो जाती है ।

(ग) सम्भ्रम :— आदर और विस्मय "जो कुछ भी उपयोगी तथा आवश्यक है, उसे मनुष्य साधारण मानता है । अपने सम्भ्रम का भाव तो वह उन पदार्थों के लिए सुरक्षित रखता है जो विस्मय विमूढ़ कर देने वाले है ।"

(घ) अभिभूति :— ऊर्जा, उल्लास और सम्भ्रम आदि के सम्मिलित प्रभाव से सम्पूर्ण चेतना का आविष्ट हो जाना ।

(2) विभाव तत्व : अनन्त विस्तार विचारों की ऊर्जस्विता श्वसित और वेग की असाधारण सघनता, अलौकिक ऐश्वर्य, उत्कट प्रभाव क्षमता, जीवन्त आवेग आदि अद्‌भुत के विभाव तत्व है । इसी प्रकार शैली तत्व में अलंकारों की समुचित योजना, उत्कृष्ट भाषा तथा गरिमामय एवं अर्जित रचना विधान का उल्लेख किया गया है । इससे स्पष्ट है कि उदात्त तत्व सहृदय के मानस में उल्लास, गरिमा, आतंक और आश्चर्य का भाव जागृत करता है ।

---

1. प्रस्तुत विवेचन पेरि इप्सुस-काव्य में उदात्त तत्व— डा० नगेन्द्र की भूमिका के पृष्ठ 44, 52 एवं 53 के आधार पर किया गया है ।

कॉट ने उदात्त के दो प्रमुख रूप माने हैं — एक गतिमूलक उदात्त और दूसरा गतिमूलक उदात्त ।

(क) गतिमूलक उदात्त : गतिमूलक उदात्त में आयामों से सम्बन्धित रूप होता है तथा गतिमूलक में शक्ति और व्यापार की प्रधानता होती है । उदाहरण के लिए देखिये —

निराला की दो रचनाएँ —

गतिमूलक उदात्त :

देखो बन्धुवर, सामने स्थित जो यह भूधर
शोभित शत-हरित-गुल्म-तृण से श्यामल सुन्दर
पार्वती कल्पना है इसकी मकरन्द-बिन्दु,
गरजता चरण-प्रान्त पर सिंह वह, नदी सिन्धु,
दशदिक्-समस्त हैं हस्त, और देखो ऊपर
अम्बर में हुआ दिगम्बर अमित शशि-शेखर,
लख महाभाव-मंगल पद-तल धँस रहा गर्व,
मानव के मन का असुर मन्द हो रहा खर्व ।[1]

गतिमूलक उदात्त :

हे निर्बन्ध !
अन्धतम अगम अनर्गल बादल,
हे स्वच्छन्द !
मन्द चंचल समीर पर उच्छृंखल,
हे उद्दाम !
अपार कामनाओं के प्राण,
बाधा रहित विराट
हे विप्लव के प्लावन
सावन और गगन के हे सम्राट ![2]

---

1. निराला : राम की शक्तिपूजा ।
2. निराला : बादलराग ।

इन दोनों उद्धरणों में से एक में पर्वत की महाशक्ति और विशालतुपता अनायास ही अभिभूत कर रही है तो दूसरे में अनन्त शक्ति का गत्यात्मक चित्र संबोधनों में उच्छलित हो रहा है और शक्तिमयता के अनन्त आवेग से अभिभूत सा कर रहा है । शैली का ओज गुण और भाषा का तीव्र प्रवाह, रूप और शक्ति की उदात्तता को प्रत्यक्ष कर रहा है । ब्रैडले ने कहा है कि "उदात्त में जो कुछ हमें प्रभावित करता है, उसमें महत्ता का सघन योग होता है । यदि इस तत्व को कल्पना से निकाल दिया जाये तो उदात्त स्वयं विलीन हो जायगा ।"[1] इसलिए उसने उदात्त को सौन्दर्य में जोड़ने का प्रयास किया है ।

पाश्चात्य देशों में स्वच्छन्दता-वादी गरिमा के उपासक हैं । "उदात्त और भव्य के प्रति उसके मन में अबाध आकर्षण है । पर उसका उदात्त और भव्य असीम से जुड़ा हुआ है ××× वह वैशद्य के स्थान पर वैचित्र्य और समृद्धि का अनुरागी है और मूर्त के स्थान पर अमूर्त का । सुन्दर उसके लिए पर्याप्त नहीं है । अद्भुत का योग उसमें अनिवार्य है । अद्भुत के बिना वह जीवंत नहीं हो सकता इसीलिए पेटर ने सुन्दर के साथ (अद्भुत के संयोग को) स्वच्छन्दतावादी कला का प्राणतत्व माना है ।[2]

स्पष्ट है कि स्वच्छन्दतावादी जिस द्वन्द्व उच्छलन और उद्वेलन का अनुयायी है, उसका एक कोण विस्मय में समाया हुआ है और दूसरा अद्भुत में ।

---

1. Whatever strikes us as sublime produces an impression of greatness and more of exceeding or even overwhelming greatness, ... remove the greatness in imagination and the sublimity vanishes.

   - Oxford Lecture on Poetry, Page 41.

2. रससिद्धान्त : डा० नगेन्द्र : पृ० 331.

काव्यशिल्प के विस्मयजनक उपादानों की सांकेतिक चर्चा के उपरान्त कुछ ऐसे प्रसंगों का उल्लेख आवश्यक प्रतीत होता है जिनमें तत्वगत सौंदर्य निर्मिति की माधुरी से मण्डित होकर आस्वाद प्रदान करता है । यद्यपि इन प्रसंगों में विद्वानों ने अद्भुत रस की निष्पत्ति मानी है, तथापि हमें विभावादि के अभाव में विस्मयतत्त्व का परिपाक एवं सूक्ति रस का आस्वाद कहना अधिक उचित प्रतीत होता है ।

सूरदास के सौंदर्य वर्णन के कुछ छंद बाबू गुलाबराय जी ने अद्भुत रस के उदाहरण के रूप में दिये हैं हालांकि वे स्वयं इस बात को समझते रहे हैं कि इन पदों में अद्भुत रस का परिपाक नहीं है[1] किन्तु परंपरा के प्रवाह में उन्होंने अद्भुत रस को सिद्ध किया है ।

रूपकातिशयोक्ति के माध्यम से श्रीकृष्ण की रूपाद्भुतता का एक चित्र प्रस्तुत है :—

अद्भुत एक अनूपम बाग
जुगल कमल पर गजवर क्रीडत तापर सिंहकरत अनुराग ।
हरि पर सरवर, सरपर गिरिवर, गिरिपर फूले कंज पराग ।।
रुचिर कपोत, बसत, ताऊपर ताहू पर अमृत फललाग ।
फल पर पुहुप पुहुप पर पल्लव, तापर सुक पिक मृगमद काग ।।
खंजन धनुष चन्द्रमा ऊपर, ताऊपर इक मनिधर नाग ।
अंग अंग प्रति और और छवि उपमा ताको करत न लाग ।।
सूरदास प्रभु पियहु सुधारस मानहु अधरन को बड़भाग ।।[2]

---

1. सूरदास जी ने बहुत से कूटपद लिखे हैं, उनमें ऊपरी दृष्टि से वह बातें आश्चर्य की दिखाई देती हैं, किन्तु वास्तविक अर्थ लगाने पर वह आश्चर्य नहीं रहता । जब तक आश्चर्य रहता है, तभी तक अद्भुतरस भी रहता है ।
— नवरस, बाबू गुलाबराय, पृ० 506-515.

2. सूर के सौ कूट : पदसंख्या 23.

यहाँ पर अद्भुतता वास्तविक कम है । वर्णन चातुर्य से अद्भुतता आ गयी है ।[1] किन्तु कवि ने जिस ढंग से नख से शिख तक के मात्र उपमानों के माध्यम से कृष्ण का रूप चित्रित किया है, वह चमत्कार की सृष्टि करने में पर्याप्त है । इतना अवश्य है कि इस रूप सृष्टि में प्रभविष्णुता की अपेक्षा वैचित्र्य पर ही कवि की दृष्टि है । ऐसे प्रसंगों में सहृदय की दृष्टि कवि के उक्तिवैचित्र्य का आस्वादन करती है। जिन उपमानों के माध्यम से रूप का चित्रण किया गया है, उसमें सभी उपमान ऐसे नहीं हैं, जिनसे सौंदर्य का समुचित आस्वाद प्राप्त हो सके ।

कूटपदों में भी वाच्यविरोधता के कारण विस्मयानुभूति होती है । उलटबांसी, विपर्यय, समाधिभाषा या संध्याभाषा आदि में भी इसी प्रकार का चमत्कार दृष्टिगोचर होता है । एक रहस्यमयी गूढ़ार्थक रचना देखिये —

> कुंजर कौं कीरी गिलि बैठी, सिंघहिं षाइ अघानौ स्याल
> मछरी अगिनी मैं सुख पायौ, जल में हुती बहुत बेहाल
> पंगु छड्यौ परबत के ऊपर, मृतकहिं देखि डारानौ काल
> जाकौ अनुभव होइ सो जानै सुन्दर ऐसा उलटा ष्याल ।।[2]

इस उल्टे ख्याल की उलटबांसी में कथन की तार्किक असंगति के कारण असमाहित मन चकित हो जाता है । हाथी को कीरी निगल जाय, मछली आग में सुखी हो, मृतक को देखकर मौत डर जाय, यह सब अनुभव से विपरीत होने के कारण बुद्धि के लिए अग्राह्य है । अतः ऐसे पदों में तब तक असंगतिजन्य विस्मय रहता है, जब तक उसके संगतिपूर्ण अर्थ का अवबोध नहीं होता और संगत अर्थ की प्रतीति के बाद कथन के वैचित्र्य और विधान

---

1. सुन्दर ग्रन्थावली : सुन्दरदास, अंग 22 छंद 3.

के चारुत्व से मण्डित चमत्कार का उदय होता है । यहाँ मन कुंजर है बुद्धि कोरी है अतः तात्पर्य होगा कि विवेक में मन को आत्मसात् कर लिया। जीव रूपी स्याल ने सत्संग से संदेह रूपी सिंह का भक्षण कर लिया और वह संतुप्त हो गया । मनरूपी मछली ज्ञान की अग्नि में समस्त कामनाओं को भस्म करने के कारण शान्ति लाभ कर रही है जबकि देहाध्यास के तर्णों में देहरूपी जल में तड़प रही थी । समस्त कामनाओं एवं बाह्यक्रियाओं से मुक्त साधक (पंगु) ने अभिमान रूपी पर्वत को जीत लिया है और मृतक (जीवन मुक्त) को देखकर काल स्वयं ही भयभीत हो गया है ।

इस अर्थ की प्रतीति के उपरान्त साधना की गोपनीयता के साथ वाच्य विरोधिता के कारण वाग्वैचित्र्यजन्य विस्मयतत्व का आस्वाद प्राप्त होता है । इसी प्रकार का आस्वाद "अवधू कामधेनु गहि बाँधीरे"[1] "ऐसा अद्भुत मेरे गुरुकथ्या"[2] आदि कबीर के पदों में भी प्राप्त होता है जिनका विस्तृत उल्लेख विस्तार के भय से नहीं किया जा रहा है ।

सूर का एक कूट पद उद्धृत है जिसमें प्रत्यक्ष असंगति के मध्य अन्तर्निहित संगति की धारा का अनुसंधान एक ऐसी सौंदर्यमूलक प्रभावसाम्य की रेखा से अन्वित कर देता है, जिसमें अनंत सौंदर्य की झाँकी समा जाती है ।

देखा भाई दधि सुत में दधि जात ।[3]

इत्यादि पद में भी रूपकातिशयोक्ति के माध्यम से बड़ी खाते हुए कृष्ण का सौंदर्य चित्रित है और विरोधाभासी कथनों में चमत्कार की सृष्टि की गयी है ।

---

1. कबीर ग्रन्थावली : पद 152.
2. वही, 161.
3. सूर के सौ कूट : पृ० 51.

चन्द्रमा जैसे सुन्दर मुख में गड़ी जा रहा है, यह एक तथ्य है, किन्तु क्लिष्ट पदावली के आधार पर चन्द्रमा में समुद्र जा रहा है यह कल्पना एक क्षण के लिए बुद्धि को पंगु बना देती है । यह शंका को पराहत कर देने वाला चमत्कार ही कवि को अभीष्ट है । उक्ति की नवीनता के लिए इस प्रकार की अलंकार योजनाएँ बड़ा महत्व रखती हैं । एक और उदाहरण लीजिये — जिसमें रूपकातिशयोक्ति के साथ विरोधाभास का चमत्कार दिखाई पड़ता है —

देख री देख अद्भुत रीति ।
जलज रिपु सौं रिपु कियो, हित छाँडि दई अनीति ।
कीर कमठ कपोत कोकिल, कियो ठिग-ठिग वास ।
धनुष ऊपर तिलक रेखा, भयो न रिपु को त्रास ।
जलज बाल सुढार ऊपर निरखि मुदित अनंग
सूर स्याम निहारि यह छवि भई मनसा पंग ।।

रिपु का रिपु से, अनीति छोड़ देना, हित करना अस्वाभाविक प्रतीत होता है किन्तु 'जलज रिपु' अर्थात् चन्द्र (मुखचन्द्र) की केश कलाप, जिसको चाहे चन्द्रमा का शत्रु राहु समझा जाये और चाहे बादल, मुख की शोभा बढ़ाता है, यही शत्रु का हित करना है । सुग्, कबूतर, कछुए, तथा कोयल का एक ही स्थान में वास करना साधारण रीति से अस्वाभाविक है क्योंकि कमठ जलचर है; सुग् एवं कोकिल का एक साथ रहना नहीं जम सकता किन्तु यहाँ पर कीर का अभिप्राय नासिका से है और कमठ पलकों से तथा कोकिल का वाणी से, कपोत का ग्रीवा से अर्थ है । इसमें कोई अस्वाभाविकता नहीं । धनुष और बाण के होते सुग् रिपु का त्रास न होना कठिन है किन्तु यहाँ पर धनुष का अभिप्राय भौंहों से है तथा तिलक रेखा की समता बाण से की गई है । इसमें केश-कलाप जो शत्रु हैं, उनको कोई भय नहीं है ।"[1]

---

1. गुलाब राय : नवरस : पृ० 506-515.

विरोधाभास के आधार पर ही बिहारीदास ने निम्नांकित छंद में अद्भुत रस की निष्पत्ति मानी है ।

दरबरदासनि को दीप दुख दूरि करै
भाल पर रेखा बाल शोभाकर देखिये
चाहै न विभूति पै विभूति सरवंग पर
बाघ बिन गंग परवाह सिर पेखिये
सदाशिवनाम वेष अशिव रहत सदा
कर धरे सूल सूल हरत विसेखिये
मांगत है भीख औ कहावै भीख प्रभु हम
धरै याकी आसा याकी आसाधरे देखिये ।[1]

श्लिष्ट पदावली के आधार पर विरोधाभासी रूप में शंकर का जो वैशिष्ट्य प्रस्तुत किया गया है, वह निश्चय ही चिमत्कारजनक है किन्तु शास्त्रीय अर्थ में उचित विभावादि सामग्री के अभाव में अद्भुत रस की संगति मानना संगत नहीं प्रतीत होता । हाँ हमारी स्थापना के अनुरूप कवि कौशल जन्य चमत्कार से चिमत्यतत्व का परिपाक हो रहा है, ऐसा कहने में कोई असंगति नहीं दिखाई देती ।

पहेलियों में बौद्धिक दुर्बोधता की दृष्टि से जुटता एवं गोपनमूलक चमत्कार की सृष्टि की जाती है किन्तु रहस्य का उद्घाटन होते ही पहेली का चमत्कार समाप्त हो जाता है ।"रुकनार ने अचरज किया, साँप मार पिंजरे में दिया । ज्यों ज्यों साँप ताल को खावे, सूखे ताल साँप मरि जावे ।।"[2]

इस अंतर्लापिका में 'दिया' शब्द के प्रत्यक्षतः क्रियापरक प्रयोग के बीच जब संज्ञापरक दीपक का बोध हो जाता है, तो सम्पूर्ण अन्तर्लापिका का रहस्य

---

1. रस सारांश बिहारीदास : छंद संख्या 466, पृ० 67.
2. अमीर खुसरो की मुकरियाँ, पृ० 135.

समाप्त हो जाता है ।

काव्य में कल्पना के कारण कथ्य में कितना वैचित्र्य वैदग्ध्य एवं चमत्कार आ जाता है, इसका परिचय यद्यपि पूर्वोक्त उदाहरणों से प्राप्त हो चुका है, तथापि दो एक प्रसंग नीचे प्रस्तुत हैं, जिनमें कवि ने कथन की भंगिमा से अथवा रूप, व्यापार आदि की विलक्षण योजना से चमत्कार पैदा किया है । सूर का एक पद देखिए —

स्याम अचानक आय गये री
मैं बैठी गुरुजन बिच सजनी देखत ही मो नैन नए री ।
तब इक बुद्धि करी मैं ऐसी वैदी सो कर परस कियो री ।
आप हँसे उलपाग मसकि हरि अन्तरजामी जानि लियोरी ।
लैकर कमल अधर पर सायो देखि हरषि उनि हुदै धर्यो री ।
चरन छुए दोऊ नैयन लगाए मैं अपने भुज अंक भर्यो री ।
ठाढे दुवार रहे अति हित करि तबही तैं मन चोरिगयोरी ।
सूरदास कछु दोष न मेरो, इत गुरजन उत हेत नयोरी ।।[1]

यहाँ प्रेमभाव गोपनमूलक क्रियावैदग्ध्य की विलक्षण योजना करके कवि ने चमत्कार की सृष्टि की है । वाग्वैदग्ध्य के लिए तो भ्रमरगीत का सारा प्रसंग ही उल्लेखनीय है, जिसमें प्रत्येक पद में एक विलक्षण चमत्कार से पाठक अभिभूत हो जाता है । 'ऊधो करि रही हम जोग' कहने वाली गोपियाँ जब कहती है कि 'ऊधो जोग जोग हम नाहीं' तो मन को एक सुखद विस्मय का झटका लगता है ।

कभी कभी कवि एक स्वाभाविक क्रिया (व्यापार) में एक असामान्य स्थिति की संभावना कर लेता है और उससे सहसा ज्ञात में अज्ञात को लक्ष्य करके विस्मय

---

1. सूर के सौ कूट, पृ० 84 छन्द 19.

उद्दीप्त हो उठता है । नख पर मेंहदी लगाना नारी सुलभ व्यापार है और आँखों में अंजन लगाना शृंगार का एक अनिवार्य अंग, किन्तु इस प्रसंग को गंगकवि की उत्प्रेक्षा ने कितना चमत्कार पूर्ण बना दिया है, इसका आस्वादन कीजिए —

सुंदरि अंग सिंगार सिंगारति सीति के गर्वीह 'गंजन को
गंग कहै कर आरसि लै मनमोहन के मनरंजन को
लै कर कम्पल अंगुलि लावति नयन लगावति अंजन को
राजति यों महँदी नख में मनो गुंज चुगावति खंजन को ।।[1]

एक सामान्य वस्तु को कथन की भंगिमा इतना चमत्कारपूर्ण बना देती है, इसके लिए कवि पद्माकर का निम्नलिखित छंद पर्याप्त है :—

कूरम पै कोल, कोलहू पै सेष कुण्डली है,
कुण्डली पै फनी पैल सुफन हजार की ।
कहै 'पद्माकर' त्यों फन पै फनी है भूमि
भूमि पै फनी है थिति रजत पहार की ।
रजत पहार पर संभु सुरनायक हैं,
संभु पर जोति जटा जूट सु अपार की ।
संभु जटाजुट परचंड की छुटी है छटा
चंद की छटान पै छटा है गंगधार की ।।[2]

यहाँ मात्र इतना ही कथ्य है कि गंगाजी भगवान शंकर के मस्तक पर विराज रही है, किन्तु जिस शैली से कथन किया गया है, उससे गंगाजी की सर्वोत्तम

---

1. दिग्विजयभूषण : गोकुल प्रसाद वृज : भक्त प्रकाश : पृ० 56, छं० 52
2. आकर ग्रन्थमाला (चार) गंगालहरी, पद्माकर, छं० 3.

एवं सर्वोन्नत स्थिति का शृंखलाबद्ध क्रमिक अनुभव विस्मयजनकता में पर्यवसित हो जाता है । इसप्रकार के अनेक प्रसंगों में और अनेक प्रकार से विस्मय का परिपाक दिखाया जा सकता है । यहाँ विस्तार भय से सांकेतिक चर्चा से ही संतोष करना पड़ रहा है ।

रहस्यात्मक अभिव्यक्ति में परोक्षसत्ता का आभास एक ओर मन में स्वाभाविक जिज्ञासा का उद्रेक करता है, तो दूसरी ओर प्रकृति के कण-कण में व्याप्त तत्त्व के प्रति एक दार्शनिक जिज्ञासा का उदय होता है । अपनी अनुभूतियों का प्रकृति पर आरोपण करने से ऐसा अनुभव होता है कि प्रकृति के आवरण में से कोई हमें निमंत्रण दे रहा है । पंत के मौन निमंत्रण में इसी तथ्य का अभिव्यंजन है । चाँदनी रात में तारों के बीच से मानो कोई निमंत्रण देता है । खिले हुए फूलों में किसी का सौंदर्य झलकता है । कवि का अनुभव है कि कोई अनिंद्य सौंदर्यशाली उसे अबोध और अज्ञानी समझ कर पथप्रदर्शन कर रहा है । उसके जीवन में संगीत भर रहा है । वह अपरिचित मौन भाव से सुख और दुख में साथ दे रहा है, पर उसे इस बात का पता नहीं कि वह है कौन ?

न जाने कौन अये छविमान
जान मुझको अबोध अज्ञान
सुझाते हो तुम पथ अनजान
फूंक देते छिद्रों में गान
अहे सुख दुख के सहचर मौन
नहीं कह सकती तुम हो कौन ?[1]

यही कौन! उस जिज्ञासामूलक विस्मय का प्रेरक है जो सहचर होकर भी अपरिचित है, पथप्रदर्शक होकर भी मौन है । यही 'कौन' प्रायः प्रत्येक रहस्यवादी कवि

---

1. मौन निमंत्रण, आधुनिक कवि, भाग-2, सुमित्रानन्दन पंत, पृ० 32.

मानस में प्रश्नवाचक चिह्न बनकर जिज्ञासा उद्रेक करने में समर्थ हुआ है। कामायनी के आशा सर्ग में मनु प्रलय की कालरात्रि के उपरान्त सहसा उषा के स्वर्णिम प्रकाश को देखकर यही पूछ उठते हैं कि सारे परिवर्तनों के प्रेरक तुम कौन हो ? और यह कौन उनके मन में कुतूहल, जिज्ञासा और विस्मय भर देता है।

यह विराट था हेम घोलता नया रंग भरने को आज
कौन ? हुआ यह प्रश्न अचानक और कुतूहल का था राज।[1]

यद्यपि वे अनुभव करते हैं कि कोई अनिर्वचनीय सत्ता इस समस्त कार्यकलाप का नियामक बनकर उपस्थित है, पर वह क्या है ? कैसी है ? तथापि इसका कोई स्वरूप निर्धारित करना उनके लिए मन और वाणी के परे है।

निराला का 'कौन तम के पार रे कह' अथवा महादेवी का 'कौन तुम मेरे हृदय में' जैसी रचनाओं में यही विस्मय आह्लादजनक होकर उपस्थित होता है। कभी कभी तो इस जिज्ञासा का चारुवैचित्र्य से योग हो जाता है और फिर एक नये चमत्कार की सृष्टि हो जाती है। कभी तो महादेवी अपने हृदय में ही विराजने वाले अपरिचित चिरसहचर का परिचय पाने के लिए आतुर होकर पूछती है कि 'कौन तुम मेरे हृदय में' तो कभी उन्हें लगता है कि अपने हृदय देश में विद्यमान प्रिय से परिचय की कोई आवश्यकता नहीं है।"

तुम मुझ में प्रिय फिर परिचय क्या
तारक में छवि प्राणों में स्मृति,
पलकों में नीरव पद की गति
लघु उर में पुलकों की संसृति
भर लाई हूँ तेरी चंचल।[2]

---

1. कामायनी, आशासर्ग, जयशंकर प्रसाद।
2. यामा (नीरजा) महादेवी वर्मा पृ० 142.

बात यह है कि सर्वत्र एक झीना आवरण व्याप्त है, जिसे हटाने की प्रक्रिया में ही सारा ज्ञान-विज्ञान लगा हुआ है । इसीलिए यदि यह कहा जाय कि समस्त शाश्वत वैभव जिज्ञासा की अभिव्यक्ति है तो अत्युक्ति नहीं होगी । चूंकि अनावरण की प्रक्रिया में जो कुछ अनुभवगम्य होता है, उसका प्रत्यय अलौकिक होता है तथा उसमें नूतनताजन्य सौन्दर्यानुभूति होती है, अतः ऐसे स्थलों में विस्मयतत्व का परिपाक अनायास ही हो जाता है ।

विषय का समाहार करते हुए हम एकबार फिर यह उल्लेख कर देना आवश्यक समझते हैं कि नाटक अथवा नाट्यधर्मी काव्य में जो रूपमानता विभावादि सामग्री के संयोग से होती है, उसी प्रकार के आनंदमूलक विस्मय का आस्वाद तत्व, निर्मिति और कल्पना के द्वारा प्राप्त होता है ।

यदि काव्यमात्र के आनन्ददायक आस्वाद के प्रतिमान के रूप में विस्मयतत्व को स्वीकार लें तो रसमय प्रसंगों के अतिरिक्त शिल्पगत प्रयोगों के प्रति आग्रहशील रचनाओं के आस्वाद की व्याख्या भी संभव हो जाती है । नयी कविता में जो एक खुरदरापन, रूक्षता, नीरसता और अपरिमार्जितता है, उसका आस्वाद रस की शास्त्रीय मर्यादा में उतनी सरलता से नहीं प्राप्त होता जितनी सरलता से विस्मय तत्व के द्वारा । अतः विस्मय-तत्व को काव्य सौंदर्य के आस्वाद के निकष के रूप में स्वीकार करना उचित प्रतीत होता है ।

नवम् अध्याय

उपसंहार

नवम् अध्याय

उपसंहार

विगत अध्यायों में हम अपनी उस स्थापना को प्रमाणित कर चुके हैं, जिसमें कहा गया है कि काव्य के सभी तत्वों में विलय अनुस्यूत है । विषय का उपसंहार करते हुए हम एक बार फिर विलय के उस स्वरूप का आकलन करना चाहते हैं जो सर्जन और आस्वाद – दोनों धरातलों पर सक्रिय होकर काव्य में आनन्द की सृष्टि करता है ।

सर्जन प्रक्रिया और विलय :

काव्य कवि का वाङ्मय अवतार है । उसके समस्त बौद्धिक ज्ञान एवं अनुचिन्तन तथा विभिन्न अनुभव और संवेदन सर्जनात्मक कल्पना के माध्यम से रूप धारण करते हैं । अतः काव्य के वस्तुगत तत्व के रूप में यदि हम भावतत्व और विचारतत्व को पाते हैं तो उसके शैलीगत तत्व के रूप में कल्पना का सौन्दर्य दिखायी पड़ता है ।

चूंकि काव्यानुभूति अथवा काव्यास्वाद सौन्दर्यानुभूति या रसानुभूति का ही पर्याय है । अतः काव्य का मुख्य उद्देश्य विभिन्न साधनों द्वारा सौन्दर्य की सृष्टि करना है, एवं पाठक को विलयात्मक सौन्दर्य के आस्वाद की अनुभूति कराना है । यह सौन्दर्यात्मक आकर्षण, जो कला के द्वारा उत्पन्न या उद्दीप्त होता है, उसके लिए कवि को वस्तुगत, अथवा शैलीगत तत्वों की एक विशिष्ट योजना प्रस्तुत करनी पड़ती है, जिससे वे रमणीय अर्थ के प्रतिपादक हो सकें और पाठक की वृत्ति को कुछ काल के लिए रमा सकें ।

हम जानते हैं कि सभी रचनाओं में उपर्युक्त तीनों तत्त्व किसी न किसी सीमा तक विद्यमान रहते हैं किन्तु साहित्यकार की रुचि, लक्ष्यभिन्नता अथवा वस्तु वैशिष्ट्य के कारण तत्त्वविशेष की प्रधानता और अप्रधानता स्वतः सिद्ध हो जाती है । इसीलिए हम काव्य में भाव, विचार एवं कल्पना के आधार पर विभाजन कर लेते हैं । प्रायः इनको आचार्यों ने सौंदर्य औदात्य एवं चमत्कार की संज्ञा दी है, किन्तु ऐसा उन्होंने चमत्कार के स्थूल अर्थ को सामने रखकर ही किया है क्योंकि, जैसा पहले स्पष्ट किया जा चुका है, कि चमत्कार केवल कल्पनाजन्य या शैलीगत ही नहीं होता । हम इसे यों स्पष्ट कर सकते हैं कि जैसे रमणीगत रूपात्मक सौन्दर्य अपनी लोकोत्तरता के कारण विस्मयजन्य आकर्षण उत्पन्न करता है किन्तु उससे कहीं अधिक आकर्षण उसके शील गुण स्वभावादि का होता है ।[1] अतः केवल काव्य के रूपात्मक आकर्षण की बात न करके हमें भाव आदि में भी विस्मय का अन्वेषण करना चाहिए ।

काव्य का सर्जन तभी सार्थक है जब कवि जिस तत्त्व से हमें प्रभावित करना चाहता हो, उस तत्त्व का सम्पूर्ण आनन्द प्राप्त करा सके । यदि कवि हमें सौन्दर्य से मुग्ध करना चाहता है तो उसके साधक तत्त्व सौन्दर्य की एक नयी आभा से मण्डित होंगे । स्पष्ट ही उसका उद्देश्य या साध्य सौन्दर्य, रमणीयता या चारुत्व होगा, जो सहृदय में सौन्दर्य की आस्वादात्मक वृत्ति को उद्दीप्त करने में सहायक होगा ।

प्रस्तुत संदर्भ में कवि के चित्त से काव्य के सर्जन में विस्मय के योग पर विचार प्रस्तुत है :—

---

1. उसी प्रकार काव्य में भावात्मक आकर्षण कलात्मक आकर्षण की अपेक्षा निश्चय ही श्रेष्ठ होता है ।

भावतत्त्व—रस :

भावानुभूति की चरम परिणति रस की दशा में होती है, अतः रस भावानुभूति की अलौकिक सामान्य एवं विलक्षण दशा का नाम है। अतएव आचार्यों ने रस को सामान्यतः 'लोकोत्तर चमत्कार' प्राण कहा है। रसास्वाद के क्षणों में जिस चित्त विस्तार का अनुभव होता है, उसका वर्णन पहले किया जा चुका है।

किसी काव्य में रस के विभिन्न घटकों की योजना करते समय कवि अपने योजना-कौशल से जिस प्रकार चमत्कार की सृष्टि करता है, उसके संभावित प्रकार निम्नलिखित हैं :—

(1) सहसा रस परिवर्तन करके,
(2) विरुद्ध रसों की अविरुद्ध योजना करके,
(3) एक ही प्रसंग में अनेक रसों की संगति प्रस्तुत करके,
(4) आलम्बन या आश्रय के वैशिष्ट्य अथवा वैचित्र्य का सूक्ष्म रेखांकन करके,
(5) एक ही प्रसंग में विभिन्न भावों को विशेष रस पर्यवसायी बनाकर।
(6) पात्रभेद से (आश्रयभेद से) प्रभाव वैचित्र्य दिखलाकर,
(7) आश्रय या आलम्बन के व्यक्तित्व, शील आदि के विशिष्ट चित्रण द्वारा वर्ण्य रस की सूक्ष्म विशेषताओं का रेखांकन करके तथा उसीके अनुपात में अनुभावों तथा संचारीभावों की मात्रात्मक या गुणात्मक सिद्धि प्रस्तुत करके।

विचार तत्त्व :

विचारों में प्रायः नीरसता होती है किन्तु कवि उनमें भी सौन्दर्य और चमत्कार की सृष्टि कर देता है, इसकी प्रक्रिया निम्नलिखित है :—

(1) परस्पर विरोधी विचारों के बीच समन्वयबिन्दु खोजकर,

(2) तर्क और उपपत्ति के द्वारा नये विचारों की प्रतिष्ठा करके,

(3) भाव और विचार का योगायोग करके :—

(क) विचार के द्वारा भावों में निखार लाकर,

(ख) भाव के द्वारा विचारों को संवेदनीय बनाकर ।

शैली तत्त्व :

इसके अन्तर्गत सम्पूर्ण कवि-कर्म का समाहार हो जाता है । शब्दों की शक्तियाँ, अलंकारों की योजना, बिम्ब, प्रतीक और अप्रस्तुतों का संघटन तथा उक्तिभंगिमा आदि के द्वारा कवि अपूर्व, नूतन और विशिष्ट रचना प्रस्तुत करता है । हमारी धारणा है कि जीवन में तो भाव एवं विचार मूल्यवान होते हैं किन्तु काव्य में भाव एवं विचार कवि की अनुभूति एवं चिन्तन का स्वरूप धारण करके उपस्थित होते हैं । भाव या विचार तो सार्वकालिक एवं सार्वजनीन होते हैं, किन्तु अनुभूति एवं चिन्तन नितान्त वैयक्तिक होते हैं । साँवले-गोरे राम लक्ष्मण के मध्य वनमार्ग पर जाती हुई जानकी का रूप शाश्वत सुन्दर है किन्तु जब कोई ग्रामवधू अपनी सखी को आमन्त्रित करके कहती है कि "बिलोकहु री सखि ! मोरि सी ह्वै"[1] तो निश्चय ही उसका देखना नितान्त वैयक्तिक है और यही वैयक्तिकता— देखने की अपनी दृष्टि— उस रूप में चमत्कार उत्पन्न करती है ।

इसी प्रकार कवि भी अपनी अभिव्यक्ति के क्षणों में नितान्त वैयक्तिक अनुभवों एवं संवेदनों को रूप देने का प्रयत्न करता है और उसी के अनुरूप ऐसी शैली का निर्माण करता है; ऐसे अलंकारों, बिम्बों और प्रतीकों की योजना करता है; कथन में ऐसी भंगिमा लाता है; जिससे वह अपने

---

1. कवितावली (गीताप्रेस)— अयोध्याकाण्ड, छन्द 18.

पाठक को 'विलोकहु री सखि । मोहि सी हूवे' कह कर आमंत्रित कर सके । उसके इस प्रयत्न में सर्वत्र – भाषा में भी, शैली में भी और कथ्य में भी – एक ऐसी आभा दीप्त हो उठती है, जिसे चमत्कार या विस्मय तत्त्व कह कर ही प्रकट किया जा सकता है ।

काव्य का आस्वाद एवं विस्मय तत्त्व :

काव्यगंगा कवि की गंगोत्री से निकलकर भावरूपी समुद्र में अपनी सार्थकता प्राप्त करती है । उसका सम्पूर्ण श्रम तभी सफल होता है, जब उसकी कृति सहृदय के हृदय का कण्ठाहार हो सके । काव्य के श्रवण, पठन एवं चर्वणा द्वारा प्रमाता के मन पर होनेवाली प्रतिक्रिया का स्वरूप क्या है, यह बड़ा मूल प्रश्न है, जिसके कारण साहित्यशास्त्र में विभिन्न सम्प्रदायों का जन्म हुआ है । इस आस्वादजन्य अनुभव को कभी रस की संज्ञा प्रदान की गयी है, कभी आनन्द की । हमारी दृष्टि में इसे अलौकिक-चमत्कार कहना अधिक संगत होगा ।

काव्य का समाज से अनिवार्य सम्बन्ध है । सहृदय को इसीलिए सामाजिक कहा गया है तथा काव्य मानव की सृष्टि है और मानव ही उसका प्रमाता है । अतः काव्य का विषय भी मानवीय अनुभूतियाँ हैं । ये अनुभूतियाँ एक हृदय से दूसरे हृदय को रागात्मकता के धरातल पर जोड़ने का प्रयत्न करती है । सर्जन के क्षणों में कवि की चेतना में संगृहीत अनुभूतियाँ एक बिम्ब के रूप में उभरती है, जिन्हें वह कल्पना एवं चिन्तन के माध्यम से आकार प्रदान करता है । अतः काव्य को अनुभूतियों की साकार प्रतिमा कहना अधिक संगत होगा ।

यही प्रतिमा प्रमाता के अन्तःकरण में अनुप्रविष्ट होकर एवं उसकी चेतना में घनीभूत होकर स्वानुकूल भावों का उद्रेक करने में समर्थ होती है ।

अतएव काव्य सर्जना का वृत्त सर्जना से चलकर आस्वाद में परिणति प्राप्त करता है ।

इस आस्वाद को व्यक्त करने के लिए साहित्यशास्त्रियों ने समय-समय पर विभिन्न संज्ञाओं का प्रयोग किया है जैसे-काव्यानन्द, चर्वणा, रस भोग, चित्त-विस्तार, चमत्कार, आह्लाद, विश्रान्ति, सविद्-विश्रान्ति आदि ।

प्रस्तुत प्रबन्ध की दृष्टि से हम ऐसा अनुभव करते हैं कि काव्य का सौन्दर्य अभिनवता और लोकोत्तरता में ही निहित होता है । आस्वाद चाहे वह स्वात्मक हो या कलात्मक, सौन्दर्यात्मक हो या भोगात्मक, प्रत्येक स्थिति में अभूतपूर्व अथवा अद्भुत होता है । यह अद्भुतता ही है जो सहृदय को बरबस आकृष्ट कर लेती है और वह अपने वैयक्तिक सुख-दुख के धरातल से ऊपर उठकर स्वानुभूति प्राप्त करता है । अतः हमने इसे विस्मय तत्त्व कहा है ।

द्रष्टा तथा भोक्ता के बीच माध्यम — विस्मय ।

काव्य एक सचेष्ट निर्मिति है, एक सचेतन निर्माण है । कवि एक ऐसे संसार का निर्माण करता है जो भौतिक जगत के कार्य-कारण सम्बन्धों से रहित (नियति कृत नियम रहित) होता है । उसकी निर्मिति कल्पना के माध्यम से एक अतिभौतिक (अलौक सामान्य) जगत की सृष्टि में समर्थ होती है । चूंकि काव्य सृष्टि समाजसापेक्ष है और क्योंकि उसमें मानव एवं मानवेतर परिवेश के योगायोग से ही अनुभूतियां प्राप्त होती हैं, अतः कवि अपनी अनुभूतियों को हमारे सम्मुख मूर्त रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न करता है । यहां यह बात ध्यान देने योग्य है कि कवि को अनुभूति एवं अभिव्यक्ति — दोनों धरातलों में कुछ विशिष्टता उत्पन्न करनी पड़ती है । उसका कारण

यह है कि भाव अपने सामान्य रूप में सबमें विद्यमान होते हैं ।[1]

अतः सहृदय सामाजिक के मन में भावों की एक निश्चित पूर्व-धारणा का होना अनिवार्य है । उदाहरण के लिए हम विस्मय को ही लें— विस्मय का एक सामान्य आनुभूतिक स्वरूप हमारे अवचेतन में प्रतिष्ठित है और हम उसकी उत्तेजक सामग्री से भी पूर्ण परिचित हैं किन्तु काव्यानुशीलन करते समय हमें हर बार एक ऐसे विस्मय का अनुभव होता है जो अपूर्व या लोकोत्तर है । इसका मूल कारण है उस भाव के साथ कवि की वैयक्तिकता का सम्मिलन जो रुचि संस्कार आदि के द्वारा अपना एक विशिष्ट स्वरूप रखती है ।

कवि अपनी उस विशिष्ट अनुभूति का सम्प्रेषण करने के लिए कल्पना के माध्यम से वस्तु में भी अनुरूप विशिष्टता का संधान करता है और निर्मिति को भी उसी आभा से मंडित करता है । उसके इस प्रयत्न में जिस कृति का निर्माण होता है, वह स्थूल जगत के अनुरूप होती हुई भी वस्तुतः उसके अधिमानस के भावलोक की प्रतिमा होती है । जीवन की सामान्य परिसीमाओं से मुक्त उदात्त भावभूमि पर प्रतिष्ठित कवि के सम्मुख इस बात का पूर्ण अवसर रहता है कि वह वास्तविक घटना की अपेक्षा सम्भावना को महत्त्व दे और इसकी भी स्वतंत्रता रखती है कि जीवन की विसंगतियों और वर्जनाओं का निराकरण करके एक निर्बाध भोग्य जगत का निर्माण कर सके । कहना न होगा कि सांसारिक भोग में जहाँ एक ओर योगक्षेम की चिन्ता होती है, वहीं उसके अनिवार्य परिणाम की भी । पर काव्य में ऐसा नहीं होता । काव्य में क्रिया होती है, प्रतिक्रिया नहीं । रति का भोग संतान की चिन्ता नहीं देता, मृत्यु या वध व्यक्ति से विछोह नहीं कराते । अतएव सहृदय

---

1. जात एवेति वस्तु इयतीभिः सम्पद्भिः परीतो भवति ।
— अभिनवभारती, पृ० 282.

निश्चिन्त और निर्भ्रान्त होकर साहित्य के माध्यम से भावजगत में आनन्द का अवगाहन करता है । इस संसार के विधिनिषेधों के बन्धन वहाँ नहीं होते । अतः सहृदय कवि के भावलोक में प्रवेश करने के बाद अपनी तन्मयी भवन- योग्यता के आधार पर आस्वाद अनुभव करता है । इसे ही शास्त्रकारों ने साधारणीकरण कहा है । किन्तु इसे हम 'परकायानुप्रवेश' की भाँति 'परभावानुप्रवेश' की संज्ञा देना अधिक पसंद करेंगे । ऐसी दशा में मूलरूप में चेतना में प्रतिष्ठित भाव भी अनुभूति के एक नये कोण में प्रविष्ट होकर आनुभूतिक धरातल पर चित्त-विस्तार करता है जो निश्चय ही विस्मयजनक है ।

इस आनुभूतिक अभिनवता के साथ ही कवि का अभिव्यंजना पक्ष भी उसकी अपूर्व प्रतिभा के सहयोग से चमत्कार जनक हो जाता है । अतः काव्य में कवि मूलतः अपनी अनुभूति को, जिसे व्यापक रूप में विचार धारणा आदि का समष्टिरूप कहना चाहिए, एक जीवन्त रूप देने का प्रयत्न करता है, उसे रूपायित करना चाहता है । भाव, वस्तु एवं शब्द भंगिमाएँ प्रतिभा की आँच में पिघल कर एक ऐसे रूप में परिणत हो जाती है जहाँ केवल रमणीयता है, आस्वाद है, आनन्द है। इस आनन्द को ही रस कहा गया है और इस आनन्द के क्षण में चेतनागत परिणाम को चमत्कार ।

जायसी ने कहा है कि —

चित्र अगिनि चिनगी गुरु मेला,
जो सुलगाइ लेइ सो चेला ।।

वस्तुतः काव्यास्वाद में भी यही स्थिति है । कवि के द्वारा प्रस्तुत अनुभूति के एक ज्योतिष्कण से अपनी पूर्व वासना को अपूर्व प्रतिमान — आनुभूतिक अभिनवता — में परिणत करके विस्मय विमुग्ध होना अथवा लोकोत्तर चमत्कार का अनुभव करना सहृदय की अपनी साधना है । अतः सर्जन के क्षणों में

कवि के और आस्वाद के क्षणों में सहृदय के संवेदनात्मक आनुभूतिक स्तरों का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है :—

(1) ऐन्द्रिय सम्वेदन :

प्राकृतिक दृश्य रमणीय सौन्दर्य आदि का काव्य-चित्र ऐसे ही सम्वेदनों को प्रस्तुत करता है । इस धरातल पर कवि चाक्षुष बिम्बों से लेकर नाद, गन्ध, रस एवं स्पर्श के बिम्बों तक को प्रस्तुत करता है और सहृदय इन बिम्बों के माध्यम से इन्द्रियानुभूति से भावानुभूति तक के यात्रा-पथ को पूरा करता है ।

(2) कलात्मक सौन्दर्यानुभूति :

इस स्तर पर कवि की दृष्टि तत्त्व की अपेक्षा निमिति में चमत्कार उत्पन्न करती है और भावक उस चमत्कार का आस्वाद लेता हुआ कवि के मनोजगत में संचित् सूक्ष्म भाव-कणों का भी आस्वादन करता है ।

(3) जिज्ञासा :

इस धरातल में कवि घटना वैचित्र्य और व्यक्ति वैचित्र्य के सम्मिश्रण से एक कुतूहल पूर्ण रचना करने में समर्थ होता है और भावक इस विलक्षण समायोजन को रहस्यमयी भावभूमि में आत्मसात् करने का प्रयत्न करता हुआ आनन्द प्राप्त करता है ।

(4) सम्वेगिक और सामाजिक सम्प्रेषण :

यहाँ कवि के संवेग अपनी पूर्ण जीवन्तता के साथ काव्य में अनुभूति के विषय बनते हैं । इसी स्तर पर जीवन के संस्कार और परिष्कार का अवसर

भी कवि को प्राप्त होता है । दूसरी ओर सहृदय सामाजिक परिवेश में प्रस्तुत संवेगों से पूर्णतः अभिभूत हो जाता है, क्योंकि सामाजिक संदर्भ में अभिव्यक्त संवेग हमारे मनोजगत में सरलता से प्रतिफलित होकर अपूर्व सक्रियता को जन्म देते हैं ।

(5) विचारणा :

पाँचवाँ धरातल विचारणा का है जहाँ कवि काव्य के माध्यम से जीवन और जगत की समस्याओं के प्रति सचेष्ट होकर विचारणा करता है, और इसी धरातल पर भावक, भावात्मक काव्य में संवेदना और चिन्तन प्रधान काव्य में 'विचारणा' के द्वारा 'इति कर्तव्यता' का बोध करता है।

इस प्रकार आस्वाद की प्रक्रिया के तीन बिन्दु होते हैं —

(1) प्रवृत्ति काल :— जिसमें कलात्मकता के आकर्षण से आवद्ध पाठक उत्तरोत्तर विस्मय का अनुभव करता हुआ काव्यानुशीलन में प्रवृत्त होता है ।

(2) भोग काल :— जिसमें काव्य में अभिव्यक्त भाव या विचार के साथ तन्मयता उत्पन्न हो जाती है और धीरे-धीरे चित्त का विस्तार होने लगता है ।

(3) परिणति काल :— जिसमें चित्त के विस्तार का स्वयं सहृदय को अनुभव होने लगता है । वह अपने आपको अपनी सामान्य स्थिति से कुछ ऊपर उठा हुआ अनुभव करने लगता है । यह अनुभव मन के एक नये क्षितिज और बुद्धि के एक नये आयाम का उद्घाटन करता है और इस नये धरातल पर आत्मा में एक सुखद शान्तिमयी ज्योति का प्रसार होता है।

हमारे विचार से काव्य में सर्वत्र सानुभूति हो यह आवश्यक नहीं है । साथ ही काव्य का आस्वाद समुच्छालम्बनात्मक होता है । अर्थात् अभिव्येय स्वयं

अभिव्यंजना का अनेकधा सम्मिश्रित एक अपूर्व आनन्द होता है। इसी दृष्टि से हमने चमत्कार संप्रदाय की स्थापना का एक विनम्र प्रयास किया है ।

हमारा विश्वास है कि भरतमुनि के विभावानुभाव-व्यभिचारि-भाव का नाट्य से काव्य में – विशेषतः मुक्तक काव्य में – आग्रहपूर्ण प्रत्यारोपण से काव्य की आलोचना में जो गतिरोध उत्पन्न हो गया है और जिनके कारण उत्पन्न विसंगतियों से खिन्न होकर बहुत से आलोचक काव्य में रसतत्त्व के महत्त्व को अस्वीकार करने लगे हैं उन्हें अब विस्मयतत्त्व अथवा चमत्कारतत्त्व के रूप में एक ऐसा मानकीकृत निकष प्राप्त हो सकता है, जिससे प्रत्येक प्रकार के काव्यास्वाद का मूल्यांकन हो सके ।

जहाँ तक अद्भुत रस का सम्बन्ध है, उसके विषय में केवल इतना ही कहना है कि अद्भुत का स्थायीभाव 'विस्मय' सभी रसों में तथा सभी भावों में संचरण करता है । अतः यह एक व्यापक रस है किन्तु इसके रसराजत्व का हमने खंडन कर दिया है । सर्वप्रथम तो हम 'रस-राज' शब्द को ही अस्वीकार करते हैं क्योंकि एक तो रसराज शृंगार के लिए रूढ़ सा हो गया है, दूसरे यह रीतिकालीन सामन्ती मनोवृत्ति की देन है । (महाराज और कविराज की पंक्ति में 'रसराज' के सिवाय कौन आ सकता है ?) किन्तु मैंने डा० नगेन्द्र द्वारा प्रयुक्त 'मूलरस' को अधिक उचित माना है । विस्मय स्थायीभाव का सांगोपांग विवेचन करते हुए अद्भुत रस की निष्पत्ति तथा उसका अन्य रसों से सम्बन्ध आदि का विवेचन यथाशक्ति संक्षिप्त होते हुए विषयनिष्ठ रूप में किया गया है ।

अन्त में हम भी महादेव कवि के साथ यही कहना चाहते हैं कि रस, भाव, गुण, रीति, अलंकार, वृत्ति एवं कल्पना आदि के प्रसंग में सहृदय वैदग्ध्य भंगीभणिति को ही कर्णाभरण बनाते हैं ।

रसेषु भावेषु गुणेषु रीतिष्वलंक्रियावृत्तिषु कल्पनासु ।
वैदग्ध्यगन्धीनिवचः प्रसूनान्युत्तंसयन्ति स्वयमेव सन्तः ।।[1]

---

1. अद्भुत दर्पणम – महादेव कवि, प्रशस्ति श्लोक 4, पृ० 145.

परिशिष्ट

सहायक ग्रन्थ सूची

संदर्भ ग्रन्थ सूची

संस्कृत ग्रन्थ :

1. अकबर साहि शृंगार दर्पणम्, पद्मसुन्दर, प्र०सं० ।
2. अकुलवीर तंत्र, प्र०सं० ।
3. अग्निपुराण, काव्यशास्त्रीय भाग (हिन्दी अनुवाद) अनु० रामलाल वर्मा, 1959.
4. अर्थसंग्रह, लागाक्षिभास्कर, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई
5. अद्भुतदर्पणम्, महादेव कवि, काव्यमाला, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, द्वितीय सं०, 1938.
6. अभिनय नाट्यशास्त्रम्, पं० सीताराम चतुर्वेदी, अखिल भारतीय विक्रम परिषद्, काशी ।
7. अभिनय भारती, भाग-1, अभिनवगुप्त, गायकवाड ओरियन्टल सीरीज, द्वितीय सं०, 1956.
8. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, कालिदास, निर्णयसागरप्रेस, मुम्बई, शकाब्द 1827.
9. अमनस्कयोग, गुरुगोरक्षनाथ, सं० योगिनाथ स्वामी, प्र०सं०
10. अमरकोश, क्षीरस्वामी, प्र०सं०
11. अलंकार कौस्तुभ कारिका, कवि कर्णपूर, प्र०सं०
12. अलंकार चन्द्रिका (काव्यानुशासन की टीका), निर्णय सागर प्रेस, 1938.
13. अलंकार प्रकाश, कविभूषण मुरलीधर, सं० शूरवीर सिंह, अलीगढ़ 1962.
14. अलंकार संग्रह, अमृतानन्दयोगी, अड्यार लाइब्रेरी, 1949.
15. अलंकार सर्वस्व, राजानक रुय्यक, जयरथ की टीका सहित, 1939.
16. अलंकार सर्वस्व, राजानक रुय्यक, व्याख्या-डा० रेवाप्रसाद द्विवेदी, चौखम्बा, 1965.
17. अलंकार सर्वस्व, राजानक रुय्यक, समुद्रबंध की टीका सहित, 1915.

18. अलंकार शेखर, केशवमिश्र, निर्णयसागर, 1895.
19. अलंकार शेखर, केशवमिश्र, काव्यमाला, बम्बई, पु०सं०
20. अष्टाध्यायी, पाणिनि, पु०सं०
21. औचित्य विचार चर्चा, क्षेमेन्द्र, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, 1933.
22. औचित्य विचार चर्चा, क्षेमेन्द्र, काव्यमाला, 1929.
23. औचित्य विमर्श, डा० राममूर्ति त्रिपाठी, भारती भंडार, इलाहाबाद, 1965.
24. ईशादिविंशोत्तर शतोपनिषदः, निर्णयसागर प्रेस, 1948 से प्रयुक्त
    उपनिषदें :—
    नारायणोपनिषद्
    श्वेताश्वतर उपनिषद्
    बृहदारण्यक उपनिषद्
    कैवल्योपनिषद्
    कठोपनिषद्
    ईशावास्योपनिषद्
    मैत्रायणी उपनिषद्
    सर्वसारोपनिषद्
    तैत्तिरीय उपनिषद्
    ऐतरेय उपनिषद्
25. ईश्वर प्रत्यभिज्ञा वृत्ति विमर्शिनी, अभिनवगुप्त, कश्मीर संस्कृत सीरीज, 1938.
26. उत्तररामचरित, भवभूति, लखनऊ, 1974.
27. एकावली, विद्याधर, टीकाकार-मल्लिनाथ, 1903.
28. ऋग्वेद संहिता, स्वाध्याय मंडल प्रकाशन, 1940.
29. कमावरहस्य, शंकर मिश्र, चौखम्बा संस्कृत सीरीज नं० 231.
30. कविकण्ठाभरण, क्षेमेन्द्र, वाराणसी, 1967.
31. कामकला विलास टीका, कश्मीर सीरीज, पु०सं०
32. काव्यकल्पलता, अमरचन्द्रयति, पु०सं०

33. काव्यादर्श, दण्डी, भंडारकर रिसर्च इंस्टीच्यूट, पूना 1938.
34. काव्यानुशासनम्, हेमचन्द्र, निर्णय सागर प्रेस, काव्यमाला सीरीज, 1901.
35. काव्यप्रकाश, मम्मट, अनु० आचार्य विश्वेश्वर, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, 1960.
36. काव्य-मीमांसा, राजशेखर, हिन्दी अनु० केदारनाथ शर्मा सारस्वत, बिहार राष्ट्रभाषा प्रकाशन, परिषद, पटना, 1954.
37. काव्यालंकार, भामह, अनु० देवेन्द्रनाथ शर्मा, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, 1963.
38. काव्यालंकार, रुद्रट, काव्यमाला, 1909.
39. काव्यालंकार सार संग्रह, उद्भट, इन्दुराजकृत लघुवृत्ति सहित, भंडारकर रिसर्च इंस्टीच्यूट, पूना, 1925.
40. काव्यालंकार सूत्रवृत्ति, वामन, हिन्दी अनुवाद, आचार्य विश्वेश्वर, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, 1954.
41. कुमार संभव, कालिदास, वाराणसी, 1967.
42. गुह्यार्थप्रकाश, नागेश, टीका रसगंगाधर, सं० गिरिराज प्रसाद शर्मा, 1929.
43. चमत्कारचन्द्रिका, विश्वेश्वर कविचन्द्र, सं० पी० सरस्वती मोहन, मेडरचन्द लक्ष्मणदास, 1971.
44. चित्रमीमांसा, अप्पय्यदीक्षित, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, 1893.
45. तर्कसंग्रह, अन्नं भट्ट, वसींधन पुस्तकालय, गोरखपुर, 1932.
46. तंत्रालोक, अभिनवगुप्त, काश्मीर संस्कृत सीरीज, प्र०सं०
47. तंत्रसार, अभिनवगुप्त, काश्मीर संस्कृत सीरीज, प्र०सं०
48. दशरूपक, धनंजय, गुजराती प्रिंटिंग प्रेस, बम्बई, 1927.
49. दशरूपक, (धनंजय कृतिक), डा० भोला शंकर व्यास (चौखम्बा) चौ०सं० 1973.
50. ध्वन्यालोक, आनन्दवर्धन, बालप्रिया सहित, काशी संस्कृत सीरीज, 1940.

51. ध्वन्यालोक-लोचन, आनन्दवर्द्धन, अनु० जगन्नाथ पाठक, चौखम्बा, विद्याभवन, वाराणसी, 1940.
52. नाट्यदर्पण, रामचन्द्र गुणचन्द्र, टीकाकार आचार्य विश्वेश्वर, 1961.
53. नाट्यशास्त्र, भरत, भाग-I, गायकवाड ओरियण्टल सीरीज, द्वितीय सं० 1956.
54. नाट्यशास्त्र (भरत) भाग-I, सं० बाबूलाल शुक्ल, चौखम्बा विद्याभवन, 1972.
55. न्यायसूत्र, महर्षि गौतम, जीवानन्द संस्करण, कलकत्ता, 1919.
56. न्यायसूत्र भाष्य, वात्स्यायन, पूना, 1922.
57. निरुक्त, यास्क, आ० विश्वेश्वर की टीका, प्र०सं०
58. नेत्र तंत्र भाष्य, क्षेमराज, कश्मीर संस्कृत सीरीज, प्र०सं०
59. नंजराज यशोभूषण, नरसिंह कवि, गायकवाड ओरियंटल सीरीज, प्र०सं०
60. परावैशिका विवरण, प्र०सं०
61. पाणिनीय शिक्षा, प्र०सं०
62. प्रतापरुद्रीय यशोभूषण, रत्नापण टीकाकार विद्यानाथ, सं० कुमार स्वामी
63. प्रत्यभिज्ञा हृदयम्, वृत्तिसहित, कश्मीर संस्कृत सीरीज, प्र०सं०
64. बोधसार, प्र०सं०
65. भरत का नाट्यशास्त्र, भाग-I, अनु० डा० रघुवंश, मोतीलाल बनारसीदास
66. भावप्रकाशनम्, शारदातनय, गायकवाड ओरियंटल सीरीज, 1930.
67. मनुस्मृति, मनु, कुल्लूक भट्ट की मन्वर्थमुक्तावली, टीका सहित, निर्णय सागर प्रेस, 1915
68. महाभारत, व्यास, गीताप्रेस, गोरखपुर, प्र०सं०
69. मैत्रायणी उपनिषद्, प्र०सं०
70. यजुर्वेद संहिता, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, प्र०सं०
71. यशवन्त भूषण, कविराजा, गुणरिदान, जोधपुर, सं० 1964.
72. योगभाष्य, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, 1934.

73. योगवासिष्ठ, अच्युत ग्रन्थमाला, वाराणसी, प्र०सं०

74. रसगंगाधर, पंडितराज जगन्नाथ, अनु० बदरीनाथ झा और मनमोहन झा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1955.

75. रसतरंगिणी, भानुदत्त मिश्र, सीताराम चतुर्वेदीकृत हिन्दी टीका सहित, चौखम्बा, प्र०सं०

76. रसदीपिका, कवि विद्यासागर, सं० जिन विजय मुनि, राजस्थान पुरातत्वान्वेषण मंदिर, जोधपुर, 1958.

77. रस प्रदीप, प्रभाकर भट्ट, सं० नारायण शास्त्री खिस्ते, इलाहाबाद, प्र०सं०

78. रसार्णव सुधाकर, सिंगभूपाल, मद्रास, प्र०सं०

79. राजतरंगिणी, कल्हण, स्टेन का संस्करण, प्र०सं०

80. राधा सुधानिधि स्तव, श्री हरिवंश महाप्रभु, रसकुल्याटीका, हरिलालव्यास

81. वक्रोक्तिजीवित, पुस्तक, अनुवादक आचार्य विश्वेश्वर, आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली, 1955.

82. वाग्भटालंकार, वाग्भट्ट प्रथम, द्वितीय आवृत्ति, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, प्र०

83. वाक्यपदीय, कोश, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, प्र०सं०

84. वैशेषिक सूत्र-प्रशस्तपाद भाष्य, संपा० गोपीनाथ कविराज, वाराणसी, 1895.

85. व्यक्ति विवेक, महिमभट्ट, अनु० रेवा प्रसाद द्विवेदी, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, 1964.

86. सरस्वती कंठाभरण, भोज, काव्यमाला, 1915.

87. सरस्वती कंठाभरण, भोजदेव, निर्णयसागर प्रेस 1925.

88. साहित्यकौमुदी टीका, विद्याभूषण कृत, कृष्णानन्दिनी टीका, बम्बई, प्र०सं०

89. साहित्यदर्पण, विश्वनाथ कविराज, व्याख्याकार-गौरीनन्द विद्यासागर, कलकत्ता।

90. साहित्यदर्पण, विश्वनाथ कविराज, टीका० डा० सत्यव्रत सिंह, तृतीय संस्करण (चौखम्बा), 1970.
91. साहित्यदर्पण, विश्वनाथ विमला टीका, शालग्रामशास्त्री, चतुर्थसं० 1961.
92. साहित्यमीमांसा, श्री चित्रोदय मंजरी ग्रन्थांक 3, अनन्तशयन ग्रंथावली
93. साहित्यसार, अच्युतराय, सरस्वतीय व्याख्यासहित, निर्णयसागरप्रेस, सन् 1906.
94. सिद्धसिद्धान्तसंग्रह, वसवराज कृत, सं० गोपीनाथ कविराज, इलाहाबाद
95. संगीत रत्नाकर, शार्ङ्गदेव, आर्यधर्म प्रेस, पूना, 1897.
96. सांख्यप्रवचन भाष्य, विज्ञान भिक्षु, केम्ब्रिज-1943.
97. स्तुतिकुसुमांजलि, जगद्धर भट्ट, टीकाकार प्रेमवल्लभ त्रिपाठी, प्र०सं०, 1995.
98. स्कन्दकारिका, कल्लट भट्ट, कश्मीर संस्कृत सीरीज, प्र०सं०
99. स्वच्छन्दतंत्र भाष्य, क्षेमराज, कश्मीर सीरीज, प्र०सं०
100. शतपथ ब्राह्मण, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, प्र०सं०
101. शब्दकल्पद्रुम कोश, दिल्ली, 1957.
102. शब्दकौस्तुभ, श्री भट्टोजीदीक्षितकृत, प्र०सं०
103. शिशुप्रबोध काव्यालंकार, गुजरात, ओरियंटल इंस्टीट्यूट बड़ोदा, 1965.
104. शिवदृष्टि उत्पलवृत्ति, उत्पलाचार्य (प्र०आ०)
105. शिवसूत्र, क्षेमराज की टीकासहित, प्र०सं०
106. श्रीमद्भगवद्गीता, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, 1912.
107. श्रीमद्भगवद्गीता, पैशाचभाष्य, गुजराती प्रिंटिंग प्रेस, बम्बई, 1938.
108. श्रीमद्भागवत, व्यास, गीताप्रेस, गोरखपुर
109. शृंगार तिलक, रुद्रभट्ट, काव्यमाला तृतीय गुच्छक
110. शृंगारदर्पण, नरवरज, विद्याभूषणकृत कृष्णनन्दिनी टीका, बम्बई, प्र०सं०
111. शृंगारप्रकाश, भोज, टीकाकार- भट्ट नृसिंह, प्र०सं०
112. शृंगार संजीवनी, हरिदेव मिश्र, अनूप संस्कृत लाइब्रेरी, बीकानेर, सं० 2000.

113. कलायुधकोश, लखनऊ 1967.

114. कविकलित रसामृत सिन्धु, रूपगोस्वामी, (दुर्गम संगमनी टीका, जीव गोस्वामी) वाराणसी, सं० 1988.

115. हिन्दी अभिनव भारती, अभिनवगुप्त, अनुवादक आ० विश्वेश्वर, हिन्दी अनुसंधान परिषद, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, 1960.

116. हिन्दी काव्यप्रकाश, मम्मट(डा० सत्यव्रत सिंह) चौखम्बा, वाराणसी, 1960.

117. हिन्दी ध्वन्यालोक, आ० विश्वेश्वर, पृ०सं० 1952.

118. हिन्दी वक्रोक्ति जीवित, आ० विश्वेश्वर, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, (सन् 1955)।

119. हिन्दी वक्रोक्ति जीवित, राधेश्याम मिश्र, चौखम्बा, 1967.

120. हिन्दी श्री कविकलित रसामृत सिन्धु, श्री रूपगोस्वामी, आ० विश्वेश्वर, हिन्दी विभाग, प्रकाशन, दिल्ली विश्वविद्यालय, 1963.

हिन्दी ग्रन्थ :

121. अपरा, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', पृ०सं०

122. अरस्तू का काव्यशास्त्र, अनु० नगेन्द्र और भगेन्द्र चतुर्वेदी, इलाहाबाद, (सन् 1957)

123. आधुनिक कवि भाग-2, सुमित्रानन्दन पंत, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, पृ० सं०

124. आधुनिक हिन्दी कविता में ध्वनि, डा० कृष्णलाल शर्मा, 1964.

125. आधुनिक हिन्दी काव्य में परंपरा तथा प्रयोग, गोपालदत्त सारस्वत, पृ०सं० 1958.

126. आधुनिक हिन्दी-मराठी में काव्यशास्त्रीय अध्ययन, डा० मनोहर काले, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर, बम्बई-1963.

127. आँसू, जयशंकर प्रसाद, ग्यारहवाँ सं०

128. अहल्या के चरण, डा० नगेन्द्र, पु०सं०
129. आलोचक और आलोचना, डा० बच्चन सिंह, पु०सं० 1970, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी ।
130. इन्द्र धनुष रौंदे हुए ये, सच्चिदानन्द हीरानंद वात्स्यायन, 'अज्ञेय' पु०सं०
131. उर्वशी, रामधारी सिंह 'दिनकर', द्वि० सं० 1964.
132. कबीर ग्रन्थावली, बाबू श्यामसुन्दर दास, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, पु०सं०
133. कला साहित्य और समीक्षा, भगीरथ मिश्र, 1963.
134. कल्पना और छायावाद, पु०सं०, डा० केदारनाथ सिंह
135. कविकल्पतरु, चिन्तामणि, पु०सं०
136. कवितावली, गो० तुलसीदास, गीताप्रेस, सं० 2028.
137. कामायनी, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', लिरगोय, झाँसी, 1972.
138. कुणाल, सोहनलाल द्विवेदी, पु०सं०
139. कृष्णायन, द्वारिकाप्रसाद मिश्र, सं० 2002.
140. कामायनी, जयशंकर प्रसाद, भारती भंडार, इलाहाबाद, 12वां सं०
141. काव्य और कला, डा० हरद्वारीलाल शर्मा, भारत प्रकाशन मंदिर, अलीगढ़ ।
142. काव्य और कला तथा अन्य निबंध, जयशंकर प्रसाद, भारती भंडार, इलाहाबाद, 1958.
143. काव्यात्ममीमांसा, जयंत मिश्र, चौखंबा, वाराणसी, 1964
144. काव्यदर्पण, रामदहिन मिश्र, च०सं०
145. काव्यप्रदीप, गोविन्द ठाकुर, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, 1933.
146. काव्यप्रभाकर, जगन्नाथ प्रसाद 'भानु', सं० 1966.
147. काव्य में अभिव्यंजनावाद, लक्ष्मीनारायण सुधांशु, तृ० सं०
148. काव्य में उदात्त तत्व, नगेन्द्र और नेमीचन्द्र जैन, राजपाल एण्ड संस, द्वि० सं० 1961.
149. काव्य में रहस्यवाद, डा० बड़थ्वाल अवधी, पु०सं०
150. काव्य में सौंदर्य और उदात्ततत्व, शिवनाथक राय, पु०सं० 1967.

151. काव्यास्वाद का विवेचन, डा० कृष्णदत्त, दिल्ली, 1970.
152. काव्यशास्त्र की रूपरेखा, डा० रामदत्त भारद्वाज, पु०सं०
153. काव्यशास्त्रीय निबंध, डा० सत्यदेव चौधरी, पु०सं०
154. काव्यशिल्प के आयाम, सुलेखा शर्मा, पु०सं० 1971.
155. गंगालहरी, पद्माकर, सं० डा० विश्वनाथ मिश्र, आकर ग्रन्थमाला-4, वाराणसी।
156. गंगावतरण, जगन्नाथदास 'रत्नाकर', पु०सं०
157. गोरख सिद्धान्त संग्रह, पु०सं०
158. गोरखबानी, डा० बड़थ्वाल, पु० सं०
159. चन्द्रगुप्त, जयशंकर प्रसाद, पु०सं०
160. चिन्तामणि, भाग-1, आ० रामचन्द्रशुक्ल, इंडियन प्रेस, प्रयाग-1953.
161. चिन्तामणि, भाग-2, आ० रामचन्द्र शुक्ल, सरस्वती मंदिर वाराणसी, पंचम आवृत्ति, 1962.
162. चित्ररेखा, च०सं०, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, सं० 2003.
163. छायावाद : पुनर्मूल्यांकन, सुमित्रानन्दन पंत, पु०सं०
164. जगद्विनोद, पद्माकर, सं० डा० विश्वनाथ मिश्र, आकर ग्रन्थमाला-4, वाराणसी।
165. जयद्रथवध, मैथिलीशरण गुप्त, 46वां संस्करण, सं० 2018.
166. जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धान्त, डा० लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु', सन् 1924.
167. तारसप्तक, पु०भाग, सं० सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय'।
168. तारसप्तक, द्वि०भाग, सं० ,, ,, ,,
169. त्रिधारा ,, ,, ,,
170. दण्डी एवं संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास दर्शन, डा० जयशंकर त्रिपाठी, लोकभारती, इलाहाबाद, पु०सं 1968.
171. दिग्विजय भूषण, गोकुल प्रसाद वर्मा, सं० डा० भगवती सिंह, पु०सं०

172. द्रौपदी अष्टक, जगन्नाथदास रत्नाकर, प्र०सं०

173. ध्वनिसंप्रदाय एवं उसके सिद्धान्त, डा० भोला शंकर व्यास, प्र०सं०

174. नयी कविता के प्रतिमान, लक्ष्मीकांत वर्मा, वि०सं० 2014.

175. नयन, गुलाबराय, प्र०सं०

176. नवरसतरंग, बेनी प्रसाद, प्र०सं०

177. नाथ संप्रदाय, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, प्र०सं०

178. नयासाहित्य नये प्रश्न, आ० नन्ददुलारे वाजपेयी, 1955.

179. नीरजा, महादेवी वर्मा, प्र०सं०

180. पद्मावत, जायसी ग्रन्थावली, 15वां संस्करण, सं० आ०रामचन्द्रशुक्ल, सं० 2031.

181. पल्लव, सुमित्रानन्दन पंत, प्र०सं०

182. पल्लविनी, सुमित्रानन्दन पंत, प्र०सं०

183. प्लेटो के काव्यसिद्धान्त, डा० निर्मला जैन, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1965.

184. प्रबंध प्रतिमा, सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला, वि०सं० 1957.

185. बिहारी रत्नाकर, प्र०सं०

186. भारतीय काव्यशास्त्र की परंपरा, डा० नगेन्द्र, सं० डा० नगेन्द्र, संवत् 2037.

187. भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, डा० नगेन्द्र, भाग-2, नेशनल पब्लिशिंग हाउस दिल्ली, सं० 1963.

188. भारतीय साहित्यशास्त्रीय सौंदर्य कल्पना (मराठी), पब्लिकेशन डिवीजन, दिल्ली, 1962.

189. भारतीय काव्यशास्त्र में सौंदर्यानुभूति का स्वरूप (अभिभाषण), डा० नगेन्द्र, प्र०सं०

190. भारतीय साहित्यशास्त्र, भाग-1 तथा भाग-2, बलदेव उपाध्याय, हि० सं०.

191. भारतीय साहित्यशास्त्र, ग०श्री० देशपाण्डेय, पापुलर बुकडीपो, बम्बई, 1960.

192. मध्यकालीन कवियों के काव्य सिद्धान्त, डा०शिवनाथ त्रिपाठी, प्र०सं०

193. मध्यकालीन हिन्दी काव्य की तात्त्विक पृष्ठभूमि, डा०विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, प्र०सं०

194. मध्ययुगीन रस दर्शन एवं समकालीन सौन्दर्यबोध, रमेशकुन्तल मेघ, प्र०सं०

195. मतिराम ग्रन्थावली, मतिराम, प्र०सं०

196. मनोविज्ञान, डा० यदुनाथ सिन्हा, प्र०सं०

197. रसकलश, हरिऔध, द्वि० सं०

198. रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन, डा० प्रेमस्वरूप गुप्त, भारत प्रकाशन मंदिर, अलीगढ़, 1962.

199. रसचन्द्रोदय, रसलीन, प्र०सं०

200. रसपीयूष निधि, सोमनाथ, प्र०सं०

201. रसमीमांसा, आ० रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, च०सं०, सं० 2023.

202. रस रहस्य-कुलपति मिश्र, प्र०सं०

203. रसविमर्श, डा० राममूर्ति त्रिपाठी, विद्याभवन, वाराणसी, 1965.

204. रससारांश, भिखारीदास, आकर ग्रन्थमाला-1, सं० डा०शिवनाथमिश्र,काशी

205. रससिद्धान्त, डा० नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली-1964.

206. रससिद्धान्त और वीभत्स रस का शास्त्रीय विवेचन, डा०कृष्णदेव झारी, प्र०सं०

207. रससिद्धान्त और सौन्दर्यशास्त्र, डा० निर्मला जैन, प्र०सं०

208. रससिद्धान्त का पुनर्विवेचन, गणपतिचन्द्र गुप्त, प्र०सं० 1971.

209. रससिद्धान्त : स्वरूप विश्लेषण, डा०आनन्दप्रकाश दीक्षित, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1960.

210. रसिक प्रिया, केशवदास, प्र०सं०
211. रसिकविनोद, भानुशेखर बाजपेयी, प्र०सं०
212. रसरंजन, आ० महावीर प्रसाद द्विवेदी, प्र०सं०
213. रामचरितमानस, गो० तुलसीदास, गीताप्रेस, सं० 2022.
214. रीतिकालीन अलंकार साहित्य का शास्त्रीय विवेचन, डा० ओमप्रकाश शर्मा, हिन्दी साहित्य संसार, दिल्ली, 1965.
215. रीतिकाव्य की भूमिका, नगेन्द्र, गौतम पुस्तकेरी, दिल्ली, द्वि० सं० सन् 1963 ई० ।
216. रुपक्वरा, संपादक— सच्चिदानन्द वात्स्यायन, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्र०सं० 1960.
217. लोकायतन, सुमित्रानन्दन पंत, प्र०सं०
218. वाङ्मय विमर्श, विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, हिन्दी साहित्य कुटीर, तृ०सं०, 1957.
219. विनयपत्रिका, गोस्वामी तुलसीदास, गीताप्रेस, गोरखपुर
220. विज्ञानभैरव, प्र०सं०
221. महावीर प्रसाद द्विवेदी, संपा० प्रभातशास्त्री, प्र०सं०
222. सन्त साहित्य, भुवनेश्वर मिश्र, प्र०सं०
223. सन्धिनी, महादेवी वर्मा, प्र०सं०
224. साकेत, मैथिलीशरण गुप्त, प्र०सं० सं० 2028 वि०
225. साहित्य और कला, हरद्वारीलाल शर्मा, प्र०सं०
226. साहित्य का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, प्र०सं० 1964, डा० देवराज उपाध्याय ।
227. साहित्य का मर्म, आ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, प्र०सं०
228. साहित्यशास्त्र के प्रमुख पक्ष, डा०राममूर्ति त्रिपाठी, प्र०सं०
229. साहित्य के सौंदर्य तत्त्व, हरद्वारी लाल शर्मा, प्र०सं०
230. साहित्यालोचन, बाबू श्यामसुन्दरदास, इंडियन प्रेस, इलाहाबाद 1957.

231. साहित्यशास्त्र, डा० रामकुमार वर्मा, लोकभारती, इलाहाबाद-1968.
232. साहित्यशास्त्र के प्रमुख तत्त्व, डा० राममूर्ति त्रिपाठी, प्र०सं०
233. सिद्धराज, मैथिलीशरण गुप्त, 13 वां सं०, सं० 2011.
234. सिद्धान्त और अध्ययन – बाबू गुलाबराय, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, 6 ठां सं०, 1965.
235. सुन्दर ग्रन्थावली, सुन्दरदास, प्र०सं०
236. सूर के सौ कूट, प्र०सं०
237. सूरसागर, सूरदास, काशीनागरी प्रचारिणी सभा, प्र०सं०
238. सोपान, हरिऔध राय, बच्चन, प्र०सं०
239. सौंदर्यतत्त्व, सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त, अनु० डा० आनन्दप्रकाश दीक्षित, प्र०सं०, सं० 2012.
240. सौंदर्यतत्त्व और काव्यसिद्धान्त, सुरेन्द्र बारलिंगे, अनु० डा०मनोहर काले, नेशनल पब्लिशिंग हाउस दिल्ली, 1964.
241. शिल्पी, सुमित्रानन्दन पंत, प्र०सं०
242. शिवसिंह सरोज, शिवसिंहसेंगर, शिवसिंहसम्मेलन, प्रयाग, सं० 1970
243. श्रद्धोपाटी, श्यामनारायण पाण्डेय, 1959.
244. हिन्दी संतों का उलटबांसी साहित्य, रामचन्द्र मिश्र, प्र०सं० 1969.
245. हिन्दी साहित्य : एक आधुनिक परिदृश्य, सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन, 'अज्ञेय' प्र०सं०
246. हिन्दी साहित्य की भूमिका, हजारीप्रसाद द्विवेदी, प्र० सं०
247. हिन्दी साहित्य कोश, सं० डा० धीरेन्द्र वर्मा, प्रथम भाग, ज्ञानमंडल प्रकाशन, द्वि० सं० ।

अंग्रेज़ी ग्रन्थ :

248. Abhinava Gupta: A Historical and Philosophical Study by Dr. Kanti Chandra Pandeya, Chow. Sans. Studies, Vol. I, 2nd Edition.
249. A New English Dictionary – Murray.

250. An Introduction to Tantrik Buddhism, S.B.Das Gupta.

251. An Outline of Psychology, William Mcdougall.

252. A Sanskrit English Dictionary, Monier Williams.

253. Bhojas Srngara Prakas, Dr. V. Raghavan, Vol.I, Parts I and II, 1940.

254. Dictionary of Philosophy and Psychology by James Mork Baldwin, Vol.II, 1962.

255. Emotion and Will, Bain.

256. Foundation of Character, Shend.

257. Fundamentals of Modern Psychology.

258. General Psychology - Dr. S.S. Mathur.

259. History of Indian Philosophy, Surendra Nath Dassgupta, Part II.

260. Indian Psychology Emotion and Will - Vol.II, Jadu Nath Sinha, First Edition, 1961.

261. Introduction to Psychology, Clifford T. Morgan.

262. Introduction to Social Psychology, William Mcdongall.

263. Oxford Lecturers on Poetry, A.C. Bradly, 1914.

264. Psychological Report, 1934.

265. Psychological Report, 1964, L.A. Pervin.

266. Psychological Studies in Rasa (Ist Edition), Dr. Rakesh Gupta, 1950.

267. Psychology, R.S. Woodworth and D.G. Marquis.

268. Some Concept to Alankar Shastra - Dr. V. Raghavan.

269. "Studies in Indian Poetics", Siva Prasad Bhattacharya, Indian Studies - Past and Present, Calcutta, 1964.

270. Studies on Some Concept of Alamkara Sastra, Dr. V. Raghavan, 1942.

271. The Aesthetic Experience According to Abhinava Gupta - Ranierio Gnoli Rome, 1956.

272. The Expression of Emotions in Man and Animals, Charles Darwin, Edited by Francis Darwin, London, 1904.

273. The Motivational Effect of Surprise, Dr. Zingarallile, U.S.A., 1972.

274. The Number of Rasas, Dr. V. Raghavan, The Adyar Library, Adyar, 1940.

275. The Poetic Image, C.D. Lewis, 1958.

276. The Psychology of the Emotions.

277. The Romantic Imagination Lecture XII, The Romantic Achievement, C.M. Bowra.

278. The Science of Emotion (1924), Dr. Bhagawan Dass, Theosophical Publishing Society, 1900.

279. Webster's New Twentieth Century Dic. II Edi.

280. Western Aesthetics, Dr. K.C. Pandey, Chow.Sans. Studies, Vol.IV.

—